चौथा सर्ग ४६–५४

लक्ष्मण का हनुमान जी को अपना समस्त वृत्तान्त सुनाना तथा यह भी कहना कि, कबन्ध ने कहा है कि, सीता के हरने वाले को सुग्रीव जानते हैं। अतः तुम उसके पास जाओ। तदनन्तर हनुमान जी का दोनों भाइयों को सुग्रीव के समीप ले जाना।

पाँचवाँ सर्ग ५४–६१

हनुमान जी का सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी का समस्त वृत्तान्त सुनाना। सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र जी की, अग्नि को साक्षी कर, मैत्री होना और श्रीरामचन्द्र जी का सुग्रीव को ढाढ़स बँधाना।

छठवाँ सर्ग ६२–६७

सुग्रीव का श्रीरामचन्द्र जी को रावण द्वारा सीता के हरे जाने का वृत्तान्त सुनाना और सीता द्वारा ऊपर से डाले हुए आभूषणों द्वारा अपने कथन का समर्थन करना। सीता के आभूषण को देख श्रीरामचन्द्र जी का दुःखी होना।

सातवाँ सर्ग ६८–७३

आपस में एक दूसरे की सहायता करने के लिए श्री-रामचन्द्र और सुग्रीव का वचनबद्ध होना और एक दूसरे से अपने अपने सुख दुःख की कथा सुनाना।

आठवाँ सर्ग ७४–८३

श्रीरामचन्द्र जी की बातों से सन्तुष्ट हो सुग्रीव का श्रीराम-चन्द्र जी से प्रेमालाप करना, फिर आँखों में आँसू भर बालि द्वारा अपने निकाले जाने का वृत्तान्त सुना के

फिर श्रीरामचन्द्र जी की अभयवाणी को सुन सुग्रीव का स्वस्थ हो कर, संक्षेप में वालि के साथ वैर बँधने के कारण का वर्णन।

ˊ सर्ग ८४–८६

सुग्रीव द्वारा वालि के साथ उसके वैर बँधने का कारण विस्तार पूर्वक कहा जाना।

सवाँ सर्ग ६०–६७

श्रीरामचन्द्र जी का सुग्रीव को अभय प्रदान।

रहवाँ सर्ग ६७–११६

श्रीरामचन्द्र जी का बलाबल जानने के लिए सुग्रीव को वालि की वीरता का वृत्तान्त कहना, तदनन्तर सुग्रीव को विश्वास दिलाने के लिए श्रीरामचन्द्र जी का पैर के अगूठे की ठोकर से दुन्दुभि राक्षस के विशाल पञ्जर को बड़ी दूर फैंक देना।

ारहवाँ सर्ग ११७–१२६

श्रीरामचन्द्र जी का एक ही बाण से सप्तसाल वृक्षों को भञ्जन करना, श्रीरामचन्द्र जी के भेजे हुए सुग्रीव का वालि के साथ घोर युद्ध छोड़ कर ऋष्यमूक पर भाग जाना। वहाँ श्रीरामचन्द्र जी के सामने सुग्रीव का दुखियाकर रोना, तब वालि के न मारने का कारण बतलाते हुए श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को आज्ञा देना कि पहिचान के लिए सुग्रीव को गजपुष्पीलता की माला पहिना दो।

ेरहवाँ सर्ग १२६–१३२

वालिवध के लिए किष्किन्धा की ओर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी का रास्ते में सप्तजनमुनि के आश्रम को देखना।

तब सुग्रीव का उन ऋषियों का माहात्म्य श्रीरामचन्द्र जी को सुनाना और श्रीरामचन्द्र जी का उन मुनिप्रवरों द्वारा पूजन किया जाना।

चौदहवाँ सर्ग १३२–१३७

श्रीरामचन्द्र जी की सहायता-प्राप्त सुग्रीव का किष्किन्धा में जा गर्जना।

पन्द्रहवाँ सर्ग १३७–१४४

सुग्रीव का गर्जन तर्जन सुन और सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी की सहायता प्राप्त होने का अनुमान कर, तारा का अपने पति वालि को लड़ने से रोकना।

सोलवाँ सर्ग १४४–१५३

तारा के रोकने पर भी वालि का सुग्रीव के साथ लड़ने को जाना। वालि और सुग्रीव का युद्ध। श्रीरामचन्द्र जी द्वारा वालि का वध।

सत्रहवाँ सर्ग १५३–१६४

मरते हुए वालि का श्रीरामचन्द्र जी के प्रति कठोर वचन कहना।

अट्ठारहवाँ सर्ग १६५–१८०

वालि के आरोपों का श्रीरामचन्द्र जी द्वारा निराकरण किया जाना और अपने कर्म को युक्तियुक्त प्रतिपादन करना।

उन्नीसवाँ सर्ग १८०–१८६

श्रीरामचन्द्र जी के बाण से अपने पति के मारे जाने का हाल सुन तारा का विलाप करना।

वीसवाँ सर्ग १८६–१९२

शोककर्शिता तारा का विलाप सुन अङ्गद को साथ ले, अन्य वानरियों का रोना।

इक्कीसवाँ सर्ग १९३–१९७

दु खार्ता तारा को हनुमान जी का धीरज बँधाना।

बाईसवाँ सर्ग १९७–२०४

मरणोन्मुख बालि द्वारा सुग्रीव को राज्य और अङ्गद का सौंपा जाना।

तेईसवाँ सर्ग २०४–२११

तारा का विलाप।

चौबीसवाँ सर्ग २११–२२६

बालि के मारे जाने के बाद सुग्रीव का पश्चात्ताप करना। रोती हुई एव पति की तरह स्वय भी मारे जाने की प्रार्थना करती हुई तारा को श्रीरामचन्द्र जी का धीरज बँधाना।

पच्चीसवाँ सर्ग २२६–२३८

श्रीरामचन्द्र जी के वचनों से सुग्रीव, तारा, अङ्गदादि का दु.ख दूर होना और उनके द्वारा बालि का दाह-कर्मादि किया जाना।

छब्बीसवाँ सर्ग २३८–२४६

सुग्रीव का राज्याभिषेक और अङ्गद का युवराज बनाया जाना।

सत्ताइसवाँ सर्ग २४७–२५८

प्रस्रवणगिरि पर श्रीरामचन्द्र जी का वर्षाऋतु बिताना और सीता जी का स्मरण करना। तब सीता के दु ख से

दु:खी श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्मण को समझा बुझा कर प्रोत्साहित करना।

अट्ठाइसवाँ सर्ग २५८–२७

वर्षाऋतु की शोभा का वर्णन।

उन्तीसवाँ सर्ग २७७–२८

श्रीरामचन्द्र जी के प्रति की हुई प्रतिज्ञा को भूल कर, स्त्रिया के साथ क्रीड़ा में रत सुग्रीव को हनुमान जी का प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए प्रेरणा करना। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी का काम पूरा करने के लिए वानरी सेना एकत्र करने के लिए सुग्रीव का नील को आज्ञा देना।

तीसवाँ सर्ग २८६–३०

शरदृऋतु वर्णन और श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को सुग्रीव के पास याद दिलाने के लिए समझा बुझा कर भेजना।

इकतीसवाँ सर्ग ३१०–३२

लक्ष्मण का किष्किन्धा में जाना और अङ्गद द्वारा सुग्रीव के पास अपने आगमन की सूचना भिजवाना।

बत्तीसवाँ सर्ग ३२३–३२

हनुमान जी का सुग्रीव को सावधान करते हुए कहना कि तुम श्रीरामचन्द्र जी के किए उपकार को भूल कर अपनी प्रतिज्ञा से च्युत हो रहे हो।

तेतीसवाँ सर्ग ३२८–३४

दुर्ग में आए हुए लक्ष्मण के धनुष की टंकार को सुन, सुग्रीव का भयभीत होना और तारा से बातचीत करना।

क्रोध मे भरे लक्ष्मण को तारा का समझाना बुझाना और लक्ष्मण का सुग्रीव की राजसभा में प्रवेश करना।

चौतीसवाँ सर्ग ३४६-३५०

लक्ष्मण का सुग्रीव को बहुत सा डराना धमकाना।

पैंतीसवाँ सर्ग ३५०-३५६

लक्ष्मण के प्रति तारा का सान्त्वनाप्रद सम्भाषण।

छत्तीसवाँ सर्ग ३५६-३६०

तारा की बातचीत से लक्ष्मण के क्रोध का शान्त होना और सुग्रीव से कहना कि, बस बहुत हुआ अब तुम मेरे साथ यहाँ से श्रीरामचन्द्र जी के पास चलो।

सैंतीसवाँ सर्ग ३६१-३६८

सुग्रीव की आज्ञा से हनुमान जी का समस्त वानरों को बुलाना।

अड़तीसवाँ सर्ग ३६६-३७६

लक्ष्मण जी के साथ पालकी में बैठ, सुग्रीव का श्रीरामचन्द्र के पास जाना।

उन्तालीसवाँ सर्ग ३७६-३८५

किष्किन्धा में समस्त मुख्य वानरों का अपने परिवारों के साथ समागम।

चालीसवाँ सर्ग ३८६-४०१

वानरों के आजाने पर; "ये सब वानर वीर आपके अधीन हैं आप इनको आज्ञा दें"—सुग्रीव का श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन करना। तब श्रीरामचन्द्रजी का कहना कि, तुमको मेरा कार्य मालूम है, अतः तुम्हीं इनको उचित

आज्ञा दो। तब सुग्रीव का भिन्न भिन्न वानरसमूहों को भिन्न भिन्न दिशाओं में जाने की आज्ञा देना।

इकतालीसवाँ सर्ग ४०१–४१२

सुग्रीव का, दक्षिण दिशा में विशेष पराक्रमी एव बलवान् हनुमान अङ्गदादि को जाने की आज्ञा देना।

ब्यालीसवाँ सर्ग ४१२–४२५

पश्चिम दिशा में सुषेण के अधीन वानरी सेना का भेजा जाना और पश्चिम दिशा में ढूँढने योग्य स्थानों का सुग्रीव द्वारा सुषेण के प्रति वर्णन किआ जाना।

तैतालीसवाँ सर्ग ४२५–४३६

उत्तर दिशा में वानर यूथपति शतवली को जाने की आज्ञा देना और वहाँ के मुख्य मुख्य स्थानों का वर्णन।

चौवालीसवाँ सर्ग ४३६–४४३

सुग्रीव द्वारा उत्साहित किए जाने पर हनुमान जी को उत्साहित देख एव उनके द्वारा कार्य की सिद्धि होती जान सीता जी को विश्वास कराने के लिए श्रीरामचन्द्र जी का हनुमान जी को अपनी नामाङ्कित अँगूठी का देना।

पैतालीसवाँ सर्ग ४४३--४४७

सीतान्वेषण के लिए प्रस्थानोन्मुख वानरयूथपतियों द्वारा अपने अपने विक्रम का बखान किआ जाना।

छियालीसवाँ सर्ग ४४७–४५३

सुग्रीव द्वारा वानरयूथपतियों को समस्त भूमण्डल का रत्ती रत्ती हाल बतलाए जाने पर और उसे सुन श्रीरामचन्द्र जी का विस्मित होना और सुग्रीव से पूछना कि,

तुमको इतना भूगोल क्यों कर विदित हुआ ? उत्तर मे सुग्रीव का कहना कि बाली से भयभीत हो मुझे अपने प्राण बचाने के लिए सारी पृथ्वी का पर्यटन करना पड़ा था, इससे मुझे पृथ्वी के समस्त स्थलों का वृत्तान्त अवगत है।

सैतालीसवाँ सर्ग ४५३–४५६

पूव, उत्तर एवं पश्चिम दिशाओं में गए हुए विनतादि वानर यूथपतियों का सीता का पता पाए विना ही लौट कर आ जाना।

अड़तालीसवाँ सर्ग ४५६–४६१

कण्डु नामक किसी मुनि के शाप के प्रभाव से निर्जन, निर्जल और वृक्षशून्य वियावान में, सुरनिर्भय नामक एक असुर के साथ हनुमान अङ्गदादि का समागम। उसे रावण जान अङ्गद द्वारा उसका वध। विन्ध्यपर्वत की गुफाओं घाटियों और उसके शिखरों को रत्ती रत्ती ढूँढ़ने पर भी सीता का पता न चलने पर, वानरों का उत्साहभङ्ग होना।

उनचासवाँ सर्ग ४६२–४६६

तब अङ्गद के प्रोत्साहित करने पर वानरो का पुनः सीता की खोज के कार्य में प्रवृत्त होना और विन्ध्यगिरि के दक्षिण वाले वन में पहुँचना।

पचासवाँ सर्ग ४६७–४७६

विन्ध्यगिरि के दक्षिण भाग में घूमते फिरते वानरों को ऋक्षबिल में प्रवेश और वहाँ एक तापसी से भेंट।

इक्यावनवाँ सर्ग ४७६–४८०

हनुमान जी का उस तापसी से उसका परिचय माँगना और उस अद्भुत बिल का वृत्तान्त पूँछना और तापसी का समस्त वृत्तान्त बतलाना और अपना परिचय देना।

बावनवाँ सर्ग ४८१–४८५

श्रीहनुमान का परिचय पाकर तापसी स्वयंप्रभा का अत्यन्त हर्षित होना।

त्रेपनवाँ सर्ग ४८५–४९४

उस बिल से बाहिर पहुँचा देने के लिए हनुमान जी का स्वयप्रभा से प्रार्थना करना और धर्मचारिणी स्वयं-प्रभा का उन सब को बात की बात में बाहिर पहुँचा देना। बाहिर पहुँच सीता का पता न लगा सकने और पता लगाने के काल की अवधि बीत जाने के कारण वानरों का अनशनव्रत धारण कर शरीर त्यागने के लिए तैयार होना।

चौवनवाँ सर्ग ४९४–५००

उत्साही हनुमान का अङ्गद को प्रायोपवेशन न करने के लिए समझाना बुझाना और प्रोत्साहित करना।

पचपनवाँ सर्ग ५००–५०५

हनुमान जी के समझाने बुझाने पर भी अन्य वानरों के साथ अङ्गद का प्रायोपवेशन करना। अङ्गद द्वारा सुग्रीव की निन्दा किया जाना।

छप्पनवाँ सर्ग ५०६–५०९

प्रायोपवेशनव्रत धारण किए हुए वानरों को देख वृद्ध सम्पाति का अनायास भोजन प्राप्त होने के लिए हर्षित

होना। अत्यन्त क्रूर शक्ल के सम्पाति को देख, चकित वानरों का दुःखी होना। दुःखी प्रकट करते समय वानरों के मुख से अपने भाई जटायु की चर्चा सुन, सम्पाति का वानरों से प्रीतिपूर्वक बातचीत करना।

सत्तावनवाँ सर्ग ५१०—५१५

सम्पाति के पूँछने पर अङ्गद द्वारा जटायु की मृत्यु, श्रीरामचन्द्र का वृत्तान्त, सीता का हरण, वानरों के प्राया-पवेशनादि का विस्तारपूर्वक वृत्तान्त कहा जाना।

अठावनवाँ सर्ग ५१६—५२४

अङ्गदादि को दीन दुःखी देख, सम्पाति द्वारा वानरों को सीता का पता बतलाया जाना। वानरों द्वारा सम्पाति के समुद्रतट पर ले जाये जाने पर, सम्पाति का जटायु के लिए जलाञ्जलि देना।

उनसठवाँ सर्ग ५२४—५३०

सम्पाति से जाम्बवान् का यह पूँछना कि, आपको सीता के हरे जाने का पता क्यों कर मालूम है? उत्तर में सम्पाति का यह बतलाना कि मुझे अपने पुत्र सुपार्श्व द्वारा यह हाल मालूम हुआ।

साठवाँ सर्ग ५३१—५३५

फिर सम्पाति का आत्मवृत्तान्त निरूपण करना और निशाकर मुनि के साथ सम्पाति की जो बातचीत हुई थी उसका वर्णन।

इकसठवाँ सर्ग ५३५—५३६

"वानरों के साथ समागम होने पर नये पर निकलेंगे—इसका वृत्तान्त सम्पाति द्वारा वानरों से कहा जाना।

बासठवाँ सर्ग ५३९—५४३

श्रीरामचन्द्र जी की सहायता के लिए आए हुए वानरों के दर्शन होने पर तुम्हारे पुनः पख निकलेंगे। निशाकर मुनि के इस वरदान का सम्पाति द्वारा वर्णन।

त्रेसठवाँ सर्ग ५४३—५४६

निशाकर मुनि के वरदानानुसार सम्पाति के नये पखों का जमना। यह चमत्कार देख वानरों का द्विगुने उत्साह के साथ दक्षिण समुद्रतट पर उपस्थित होना।

चौसठवाँ सर्ग ५४७—५५२

सागर को नाँघने के लिए सब वानरों का कोलाहल।

पैसठवाँ सर्ग ५५२—५५९

वानरयूथपतियों का आपस में अपनी अपनी नाँघने की शक्ति का बतलाना।

छियासठवाँ सर्ग ५६०—५६८

जाम्बवान का हनुमान जी को प्रोत्साहित करना, हनुमान नाम की व्युत्पत्ति का वर्णन, हनुमान जी के शारीरिक बल का निरूपण, हनुमान जी के प्रभाव का वर्णन।

सरसठवाँ सर्ग ५६८—५७९

वानरों द्वारा हनुमान जी की प्रशसा, हनुमान जी का अपना पराक्रम प्रकट करना, लङ्का जाने के लिए हनुमान जी का महेन्द्राचल पर्वत पर चढ़ना और उनका मनसा लङ्कागमन।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण किया जाता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम, प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिए गए हैं]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्व मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्त भरतादिभि. परि तं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

— *:—

माध्वसम्प्रदाय

शुक्लाम्बरधर विष्णु शशिवर्ण चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

लक्ष्मीनारायण वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्त च नमाम्यहम् ॥२॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णु सर्वत्र गीयते ॥३॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकर परम् ।
सर्वजीवप्रणेतार वन्दे विजयद हरिम् ॥४॥

सर्वाभीष्टप्रदं राम सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिश वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥५॥

अभ्रम भङ्गरहितमजडं विमल सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥६॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलि. ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥७॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥८॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ६ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१७॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥१८॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१९॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥२०॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥२१॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रै-
र्व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूपारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्यायाः लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥२४

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

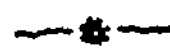
मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकिर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥३०॥



स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥५॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥६॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥७॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥८॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥९॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१०॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥११॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥१२॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान् विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥१४॥

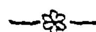
वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥१५॥
श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसंकुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥१६॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१७॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान् पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१६॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥२०॥



तरह के कमल खिल रहे हैं और इसके चारों ओर खड़े नाना भाँति के वृक्ष इसको सुशोभित कर रहे हैं ॥३॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभदर्शनम् ।
यत्र राजन्ति शैलाभा द्रुमाः सशिखरा इव ॥४॥

हे लक्ष्मण! देखो, पम्पा के निकटवर्ती वनों में शृङ्गयुक्त पर्वत की तरह ऊँचे ऊँचे पेड़ शोभायमान हो रहे हैं ॥४॥

मां तु शोकाभिसन्तप्तं माधवः[१] पीडयन्निव ।
भरतस्य[२] च दुःखेन वैदेह्या हरणेन च ॥५॥
शोकार्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना ।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा ॥६॥

मुझ शोकसन्तप्त को वसन्त पीड़ा सी दे रहा है। एक तो भरत जी का अयोध्यापुरी के बाहिर नन्दिग्राम में रह कर व्रतोपवासादि कर दुःख सहन करना, दूसरा सीता का हरण। इनसे यद्यपि मैं अत्यन्त पीड़ित हूँ, तथापि निर्विकार एवं शीतल जल वाली, अनेक प्रकार के पुष्पों से सुशोभित और विचित्र काननों से युक्त यह पम्पा झील मुझे शोभायुक्त मालूम पड़ती है ॥५॥६॥

नलिनैरपि संछन्ना ह्यत्यर्थं शुभदर्शना ।
सर्पव्यालानुचरिता मृगद्विजसमाकुला ॥७॥

यह पम्पा झील कमल के फूलों से ढकी हुई होने से देखने में बड़ी सुन्दर जान पड़ती है। इसके आस पास साँप अजगर घूमा

---

१ माधवो—वसन्तः। (गो०) २ भरतस्यदुःखेन—नगराद्बहिर्व्रतोपवासादि नियमकृतदुःखेन। (गो)

करते हैं और वनैले मृग आदि पशु तथा पक्षी इसके तट पर सदा भरे रहते हैं ॥७॥

अधिकं प्रतिभात्येतन्नीलपीतं तु शाद्वलम् ।
द्रुमाणां विविधैः पुष्पैः परिस्तोमै[१]रिवार्पितम् ॥८॥

यह झील नीले पीले तृणों से सुशोभित है और नाना प्रकार के पुष्पों वाले वृक्षों से, जो हाथी की रंग बिरंगी झूल की तरह जान पड़ते हैं. कैसी शोभायमान हो रही है ॥८॥

पुष्पभारसमृद्धानि शिखराणि समन्ततः ।
लताभिः पुष्पिताग्राभिरुपगूढानि सर्वतः ॥९॥

देखो, ये वृक्ष जिनकी फुनगियाँ फूलों के बोझ से लदी हैं और जो स्वय चारों ओर से फूली हुई लताओं से लिपटे हुए हैं, इस पम्प झील की शोभा बढ़ा रहे हैं ॥९॥

सुखानिलोऽयं सौमित्रे कालः प्रचुरमन्मथः[२] ।
गन्धवान्[३] सुरभिर्मासो जातपुष्पफलद्रुमः ॥१०॥

हे लक्ष्मण ! देखो, सुखदायक पवन सन् सन् करता बह रहा है। यह मधुमास कामोद्दीपक होने के कारण गर्वीला सा हो रहा है। इस ऋतु में वृक्ष, फूलों और फलों से भर जाते हैं ॥१०॥

पश्य रूपाणि सौमित्रे वनानां पुष्पशालिनाम् ।
सृजतां पुष्पवर्षाणि तोयं तोयमुचामिव ॥११॥

---

१ परिस्तोमैः—कुथैः। (गो०) २ प्रचुरमन्मथः—कामोद्दीपकः। (रा०) ३ गन्धवान्—कामोद्दीपनेनगर्ववान्। (रा०) ४ सुरभिर्मासो— मधुमासः (रा०)

हे लक्ष्मण ! पुष्पित वृक्षों से युक्त वनों का रूप तो देखो। वन के ये वृक्ष ऐसी ही पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं, मानों बादल पानी की वर्षा कर रहे हों ॥११॥

प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमाः ।
वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति गाम् ॥१२॥

सुन्दर पत्थरों के ऊपर उगे हुए नाना प्रकार के वृक्ष पवन के झकोरों से काँप कर, पृथिवी के ऊपर फूलों की वर्षा कर रहे हैं ॥१२॥

पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः ।
कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडन्निव समन्ततः ॥१३॥

हे लक्ष्मण ! यह वसन्त ऋतु का वायु, इन पुष्पों के द्वारा जो कुछ गिरे और कुछ गिरने को हैं और कुछ वृक्षों ही में लगे हैं, कैसा चारों ओर खेल सा खेल रहा है ॥१३॥

विक्षिपन् विविधाः शाखा नगानां कुसुमोत्कचाः ।
मारुतश्चलितस्थानैः षट्पदैरनुगीयते ॥१४॥

वायु चलने पर पुष्पों से लदी वृक्षों की शाखाओं के साथ फूल भी हिलने लगते हैं। फूलों के हिलने से उन पर बैठे हुए भौंरे फूलों को छोड़ गूँजने लगते हैं ॥१४॥

मत्तकोकिलसन्नादैर्नर्तयन्निव पादपान् ।
शैलकन्दरनिष्क्रान्तः प्रगीत इव चानिलः ॥१५॥

देखो, पहाड़ की गुफाओं से निकल कर वायु, वृक्षों को नचाता हुआ इन मतवाली कोयलों के द्वारा, मानों मधुर गान कर रहा है ॥१५॥

तेन विक्षिपतात्यर्थं पवनेन समन्ततः ।
अमी संसक्तशाखाग्रा ग्रथिता इव पादपाः ॥१६॥

पवन के चारों ओर से चलने पर और वृक्षों की शाखाओं के परस्पर मिल जाने से, ये वृक्ष माला की तरह गुथे हुए से जान पड़ते हैं ॥१६॥

स एष सुखसंस्पर्शो वाति चन्दनशीतलः ।
गन्धमभ्यावहन् पुण्यं श्रमापनयनोऽनिलः ॥१७॥

यह पवन सुखस्पर्शी, चन्दन की तरह शीतल और शुद्ध गन्ध से युक्त हो, श्रम को दूर कर रहा है ॥१७॥

अमी पवनविक्षिप्ता विनदन्तीव पादपाः ।
षट्पदैरनुकूजन्तो वनेषु मधुगन्धिषु ॥१८॥

मधुगन्ध युक्त वनों में वायु से झकोरी यह वृक्षावली, भौंरों के गुञ्जार द्वारा मानों नाद कर रही है ॥१८॥

गिरिप्रस्थेषु रम्येषु पुष्पवद्भिर्मनोरमैः ।
ससक्तशिखराः[१] शैला विराजन्ते महाद्रुमैः ॥१९॥

पर्वतों के शिखरों पर उगे हुए सुन्दर पुष्पित वृक्षों की फुनगियों के आपस में मिल जाने से पर्वत की शोभा ऐसी हो रही है, मानों पुष्पों का ढेर शोभित हो ॥१९॥

पुष्पसञ्छन्नशिखरा मारुतोत्क्षेपचञ्चलाः ।
अमी मधुकरोत्तंसाः प्रगीता इव पादपाः ॥२०॥

---

१ ससक्तशिखराः—परस्परसंश्लिष्टाग्राः । (गो०)

वृक्षों की फुनगियाँ पुष्पों से ढक जाने से तथा उनके ऊपर भौंरें गुञ्जार करने से और पवन के झोकों के लगने के कारण वृक्षों के हिलने से ऐसा जान पड़ता है, मानों पेड़ गा नाच रहे हों ॥२०॥

पुष्पिताग्रांस्तु पश्येमान् कर्णिकारान् समन्ततः ।
हाटकप्रतिसञ्छन्नान्नरान् पीताम्बरानिव ॥२१॥

हे लक्ष्मण ! चारों ओर खड़े इन फूले हुए कर्णिकार (कनैर) के पेड़ों को तो देखो । मानों सुवर्ण के आभूषण पहिने हुए और पीताम्बर धारण किए हुए मनुष्य खड़े हों ॥२१॥

अयं वसन्तः सौमित्रे नानाविहगनादितः ।
सीतया विप्रहीणस्य शोकसन्दीपनो मम ॥२२॥

हे लक्ष्मण ! यह वसन्त ऋतु विविध प्रकार के पक्षियों से नादित हो, मेरे सीता वियोग-जन्य शोक को बढा रहा है ॥२२॥

मां हि शोकसमाक्रान्तं सन्तापयति मन्मथः ।
हृष्टः प्रवदमानश्च मामाह्वयति कोकिलः ॥२३॥

शोक से सन्तापित मुझको यह कामदेव और भी अधिक सन्तप्त कर रहा है और प्रसन्न हो कूकती हुई कोयल मानों मुझे ललकार रही है ॥२३॥

एष नत्यूहको हृष्टो रम्ये मां वननिर्झरे ।
प्रणदन्मन्मथाविष्टं शोचयिष्यति लक्ष्मण ॥२४॥

देखो लक्ष्मण ! जान पड़ता है कि, मनोरम वन के झरनों के तट पर बैठा हुआ जलकुक्कुट, हर्षित हो, अपने शब्द से मुझ कामातुर को विकल कर देगा ॥२४॥

श्रुत्वैतस्य पुरा शब्दमाश्रमस्था मम प्रिया ।
मामाहूय प्रमुदिता परमं प्रत्यनन्दत ॥२५॥

मेरा प्रिया सीता, आश्रम में इसकी बोली सुन और मुझको बुला कर अत्यानन्दित होती थी ॥२५॥

एवं विचित्राः पतंगा नानारावविराविणः ।
वृक्षगुल्मलताः पश्य सम्पतन्ति ततस्ततः ॥२६॥

ये तरह तरह के अद्भुत पक्षी भाँति भाँति की बोलियाँ बोलते हुए चारों ओर से आ कर वृक्षों, गुल्मों और लताओं पर गिरते हैं ॥२६॥

विमिश्रा विहगाः पुम्भिरात्मव्यूहाभिनन्दिताः ।
भृङ्गराजप्रमुदिताः सौमित्रे मधुरस्वराः ॥२७॥

हे लक्ष्मण ! भाँति भाँति के (नर और मादा) पक्षियों के जोड़े अपने समुदायों में आनन्दित हो रहे हैं और देखो भृङ्गराज पक्षी प्रसन्न हो, कैसी प्यारी बोली बोल रहा है ॥२७॥

तस्याः कूले प्रमुदिताः शकुनाः सङ्घशस्त्विह ।
नत्यूहरुतविक्रन्दैः पुंस्कोकिलरुतैरपि ॥२८॥

देखो पम्पा के तट पर पक्षियों के समूह के समूह, दात्यूह पक्षी तथा नरकोयल की बोलियाँ सुन, कैसे प्रसन्न हो रहे हैं ॥२८॥

स्वनन्ति पादपाश्चेमे ममानङ्गप्रदीपनाः ।
अशोकस्तबकाङ्गारः षटपदस्वननिःस्वनः ॥२९॥

देखो, ये सब पेड भी बोल रहे हैं । जिससे मेरा काम उत्तेजित होता है और गुञ्जार करते हुए भौंरों से भरा यह अशोक के

पुष्पों का गुच्छा मुझे दहकते हुए अंगार की तरह मालूम पड़ता है ॥२६॥

मां हि पल्लवताम्रार्चिर्वसन्ताग्निः प्रधक्ष्यति ।
न हि तां सूक्ष्मपक्ष्माक्षीं सुकेशीं मृदुभाषिणीम् ॥३०॥

अपश्यतो मे सौमित्रे जीवितेऽस्ति प्रयोजनम् ।
अयं हि दयितस्तस्याः कालो रुचिरकाननः ॥३१॥

हे लक्ष्मण ! यह वसन्त ऋतु रूपी आग, जिसमें लाल लाल पत्र रूपी ज्वाला उठ रही है, मुझे मानो भस्म कर डालेगी। उस कमलनयनी, सुकेशी और मधुरभाषिणी को देखे बिना मेरा जीना व्यर्थ है। क्योंकि मेरी प्यारी को यह ऋतु बहुत ही प्यारा लगता है ॥३०॥३१॥

कोकिलाकुलसीमान्तो दयिताया ममानघ ।
मन्मथायाससम्भूतो वसन्तगुणवर्धितः ॥३२॥

अयं मां धक्ष्यति क्षिप्रं शोकाग्निर्न चिरादिव ।
अपश्यतस्तां दयितां पश्यतो रुचिरद्रुमान् ॥३३॥

हे दोषरहित ! यह समय जिसमें चारों ओर से कोयल की कुहू कुहू सुन पड़ती है मेरी प्रिया को बहुत पसन्द है। मदन की भय-जनित शोक रूपी आग, जो वसन्त से रमणीय गुणों से अधिक बढ़ रही है, मुझे थोड़ी ही देर में (अर्थात् बहुत जल्द) भस्म कर डालेगी। क्योंकि यह सुन्दर वृक्ष तो मुझे देख पड़ते हैं, किन्तु प्यारी सीता मुझे नहीं देख पड़ती ॥३२॥३३॥

ममायमात्मप्रभवो[१] भूयस्त्व[२]मुपयास्यति ।
अदृश्यमाना वैदेही शोकं वर्धयते मम ॥३४॥

अतः कामदेव और भी बढ़ेगा। इस समय सीता का मेरे पास न होना मेरे शोक को अधिकाधिक बढ़ा रहा है ॥३४॥

दृश्यमानो वसन्तश्च स्वेदसंसर्गदूषकः ।
मां ह्यद्य मृगशावाक्षी चिन्ताशोकबलात्कृतम् ॥३५॥

यह रति की थकावट दूर करने वाला वसन्त, मेरे सामने आ और उस मृगनयनी चिन्तावती और शोकपूर्ण के मेरे सामने न होने से मुझे बहुत दुःखी कर रहा है ॥३५॥

सन्तापयति सौमित्रे क्रूरश्चैत्रो वनानिलः ।
अमी मयूराः शोभन्ते प्रनृत्यन्तस्ततस्ततः ॥३६॥
स्वैः पक्षैः पवनोद्धूतैर्गवाक्षैः स्फाटिकैरिव ।
शिखिनीभिः परिवृतास्त एते मदमूर्छिताः ॥३७॥

हे लक्ष्मण ! यह चैत्र का क्रूर वन-वायु भी मुझे पीडित करता है। देखो ! ये मोर नाचते हुए इधर उधर शोभायमान हो रहे हैं। वायु से कम्पायमान इनके पंख ऐसी शोभा दे रहे हैं, मानों स्फटिक के बनाए हुए झरोखे हों। समस्त मोर अपनी मोरनियों से घिरे हुए उन्मत्त से हो रहे हैं ॥३६॥३७॥

मन्मथाभिपरीतस्य[३] मम मन्मथवर्धनाः ।
पश्य लक्ष्मण नृत्यन्त मयूरमुपनृत्यति ॥३८॥

---

१ आत्मप्रभव—मन्मथ । (गो०) २ भूयस्त्व—प्रवृद्धत्व । (रा०)
३ अभिपरीतस्य—व्याप्तस्य । (रा०)

शिखिनी मन्मथार्तैषा भर्तारं गिरिसानुषु ।
तामेव मनसा[१] रामां[२] मयूरोप्युपधावति ॥३६॥

ये मोर स्वयं कामदेव से व्याप्त हो मेरे काम को उत्तेजित कर रहे हैं। देखो लक्ष्मण ! इस पर्वत की चोटी पर मोर को नाचते देख कर, यह मोरनी कामदेव से पीड़ित हो, अपने पति के साथ नाच रही है और वह अपने पति के पास जाना चाहती है ॥३८॥३६॥

वितत्य रुचिरौ पक्षौ रुतैरुपहसन्निव ।
मयूरस्य वने नूनं रक्षसा न हृता प्रिया ॥४०॥

मोर अपने सुन्दर दोनो पंखों को फैला कर और प्यारी बोली बोल मानों मेरा उपहास करता है। इस मोर की मोरनी को कोई राक्षस पकड़ कर के नहीं ले गया ॥४०॥

तस्मान्नृत्यति रम्येषु वनेषु सह कान्तया ।
मम त्वयं विना वासः पुष्पमासे सुदुःसहः ॥४१॥

इसीसे तो यह रमणीय वन में अपनी प्यारी के साथ नाच रहा है। हे लक्ष्मण ! इस चैत्र मास में सीता के विना मेरा यहाँ रहना दुःसह है ॥४१॥

पश्य लक्ष्मण संरागं तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
यदेषा शिखिनी कामाद्भर्तारं रमतेऽन्तिके ॥४२॥

---

१ मनसा उपधावति—समीपमागन्तुमिच्छतीत्यर्थ. ।(गो०) २ रामां—कान्ता । (गो०)

हे लक्ष्मण ! पशुओं और पक्षियों मे भी प्रेमानुराग पाया जाता है । देखो, ये मोरनियाँ काम से पीड़ित हो मोरों के पास कैसी दौड़ी चली जाती हैं ॥४२॥

ममाप्येवं विशालाक्षी जानकी जातसम्भ्रमा ।
मदनेनाभिवर्तेत यदि नापहृता भवेत् ॥४३॥

यदि मेरी उस विशालाक्षी जानकी को राक्षस हर कर न ले गया होता, तो वह भी कामपीडित हो, मेरे पास आने की इच्छा करती ॥४३॥

पश्य लक्ष्मण पुष्पाणि निष्फलानि भवन्ति मे ।
पुष्पभारसमृद्धानां वनानां शिशिरात्यये[1] ॥४४॥

देखो लक्ष्मण ! इस वसन्त ऋतु मे वन के सब पुष्पित वृक्षों के फूल, मेरे लिए किसी काम के नहीं ॥४४॥

रुचिराण्यपि पुष्पाणि पादपानामतिश्रिया ।
निष्फलानि महीं यान्ति समं मधुकरोत्करैः ॥४५॥

वृक्षों के शोभारूपी ये फूल जो अत्यन्त सुन्दर हैं, भौंरों के झुंडो के साथ साथ पृथिवी पर गिर कर निष्फल हुए जाते हैं ॥४५॥

वदन्ति रावं मुदिताः शकुनाः सङ्घशः कलम् ।
आह्वयन्त इवान्योन्यं कामोन्मादकरा मम ॥४६॥

ये पक्षियों के समूह हर्ष से चहकते और एक दूसरे को ललकारते मेरे काम की उन्मादावस्था की वृद्धि कर रहे हैं ॥४६॥

---

१ शिशिरात्यये—वसन्ते (गो०)

वसन्तो यदि तत्रापि यत्र मे वसति प्रिया ।
नूनं परवशा सीता साऽपि शोचत्यहं यथा ॥४७॥

इस समय जहाँ मेरी प्यारी सीता होगी, यदि वहाँ भी वसन्त हुआ, तो वह भी परवशा हो, मेरी तरह शोक कर, विकल होती होगी ॥४७॥

नूनं न तु वसन्तोऽयं देशं स्पृशति यत्र सा ।
कथं ह्यसितपद्माक्षी वर्तयेत्सा मया विना ॥४८॥

निश्चय ही जहाँ पर सीता होगी वहाँ बसन्त ऋतु का नाम निशान भी न होगा । नहीं तो वह कमलनयनी मेरे बिना वहाँ कैसे रह सकती थी ॥४८॥

अथवा वर्तते तत्र वसन्तो यत्र मे प्रिया ।
किं करिष्यति सुश्रोणी सा तु निर्भर्त्सिता परैः ॥४९॥

और यदि जहाँ पर मेरी प्यारी है वहाँ भी वसन्त ऋतु हुआ, तो वह सुश्रोणी दूसरों से डराई धमकाई जा कर, क्या करती होगी ॥४९॥

श्यामा[1] पद्मपलाशाक्षी मृदुपूर्वाभिभाषिणी ।
नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥५०॥

श्यामा, (पूर्ण युवती) कमलनयनी और मृदु भाषण करने वाली सीता इस वसन्त ऋतु के आने पर निश्चय ही अपने प्राण गँवा देगी ॥५०॥

दृढं हि हृदये बुद्धिर्मम सम्प्रति वर्तते ।
नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता ॥५१॥

---

[1] श्यामा—यौवनमध्यस्था (गो०)

इस समय इस बात का तो मुझे दृढ विश्वास है कि, मेरे वियोग में सीता कभी जीवित नहीं रह सकती ॥५१॥

मयि भावस्तु[1] वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः ।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः ॥५२॥

क्योंकि मेरे मन मे सीता का और सीता के मन में मेरा पूर्ण और यथार्थ अनुराग है ॥५२॥

एष पुष्पवहो वायुः सुखस्पर्शो हिमावहः ।
तां विचिन्तयतः कान्तां पावकप्रतिमो[2] मम ॥५३॥

यह शीतल मन्द सुगन्ध वायु सीता के लिए चिन्तातुर, मुझको अग्नि की तरह सन्तापकारी है ॥५३॥

सदा सुखमहं मन्ये यं पुरा सह सीतया ।
मारुतः स विना सीतां शोकं वर्धयते मम ॥५४॥

जिस पवन को पहले मैं सीता के साथ रहते समय अत्यन्त सुखकारक मानता था वही वायु इस समय सीता के बिना मेरा शोक बढा रहा है ॥५४॥

तां विना स विहङ्गो यः पक्षी प्रणदितस्तदा ।
वायसः पादपगतः प्रहृष्टमभिनर्दति ॥५५॥

जब सीता पास थी तब इस कौए ने आकाश मे उड़ और कठोर बोली, जानकी के वियोग की मुझे सूचना दी थी। इस समय यह पक्षी प्रसन्नता से उड़ कर वृक्ष पर बैठ फिर उससे (सीता के) मिलने को जता रहा है ॥५५॥

---

१ भावोऽनुरागः। (गो०) २ पावकप्रतिमा—सन्तापकर इत्यर्थः। (गो०)

एष वै तत्र वैदेह्या विहगः प्रतिहारकः ।
पक्षी मां तु विशालाक्ष्याः समीपमुपनेष्यति ॥५६॥

मुझे मालूम पड़ता है कि, यह कौआ मुझे सीता का सन्देशा दे रहा है और यह मुझे उस विशालाक्षी के पास पहुँचावेगा ॥५६॥

शृणु लक्ष्मण सन्नादं वने मदविवर्धनम् ।
पुष्पिताग्रेषु वृक्षेषु द्विजानामुपकूजताम् ॥५७॥

लक्ष्मण सुनो ! इन फूली हुई वृक्षों की शाखाओं पर बैठे हुए पक्षियों का चहकना मेरी कामवासना को बढा रहा है ॥५७॥

विक्षिप्तां पवनेनैतामसौ तिलकमञ्जरीम् ।
षट्पदः सहसाऽभ्येति मदोद्धूतामिव प्रियाम् ॥५८॥

देखो यह भौंरा पवनचालित इस तिलक वृक्ष की लता पर कैसा शीघ्र जा कर मँडरा रहा है, मानों कोई मतवाला अपनी प्यारी के पास जाय ॥५८॥

कामिनामयमत्यन्तमशोकः शोकवर्धनः ।
स्तबकैः पवनोत्क्षिप्तैस्तर्जयन्निव मां स्थितः ॥५९॥

यह अशोक का पेड़ कामीजनों के शोक का बढ़ाने वाला है। यह पवन से कम्पित हो अपने पत्तों से मानों मुझको डरवाता हुआ खड़ा है ॥५९॥

अमी लक्ष्मण दृश्यन्ते चूताः कुसुमशालिनः ।
विभ्रमोत्सिक्तमनसः साङ्गरागा नरा इव ॥६०॥

हे लक्ष्मण ! ये बौरे हुए आम के वृक्ष ऐसे देख पड़ते हैं, मानों अंगराग (चन्दनादि) को लगाए हुए कामोन्मत्त मनुष्य हों ॥६०॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाश्चित्रासु वनराजिषु ।
किन्नरा नरशार्दूल विचरन्ति ततस्ततः ॥६१॥

हे लक्ष्मण ! इस पम्पासरोवर के तटवर्ती विचित्र वन में किन्नर लोग इधर उधर कैसे घूम फिर रहे हैं ॥६१॥

इमानि शुभगन्धीनि पश्य लक्ष्मण सर्वशः ।
नलिनानि प्रकाशन्ते जले तरुणसूर्यवत् ॥६२॥

हे लक्ष्मण ! देखो, इस समय पम्पासरोवर के जल मे ये सुगन्ध युक्त कमल के फूल तरुण सूर्य्य की तरह कैसे चमचमा रहे हैं ॥६२॥

एषा प्रसन्नसलिला पद्मनीलोत्पलायुता ।
हंसकारण्डवाकीर्णा पम्पा सौगन्धिकान्विता* ॥६३॥

देखो यह पम्पा नाम की झील, भाँति भाँति के सुगन्ध युक्त कमल-पुष्पों से तथा हंस और कारण्डव पक्षियों से कैसी सुन्दर जान पड़ती है ॥६३॥

जले तरुणसूर्याभैः षट्पदाहतकेसरैः ।
पङ्कजैः शोभते पम्पा समन्तादभिसंवृता ॥६४॥
चक्रवाकयुता नित्यं चित्रप्रस्थवनान्तरा ।
मातङ्गमृगयूथैश्च शोभते सलिलार्थिभिः ॥६५॥

इस पम्पा के समीप वाले विचित्र वन, चक्रवाकों के झुंडों से तथा पानी पीने के अभिलाषी मृगों और हाथियों के दलों से युक्त हो कर कैसे शोभित हो रहे हैं ॥६४॥६५॥

पवनाहितवेगाभिरूर्मिभिर्विमलेऽम्भसि ।
पङ्कजानि विराजन्ते ताड्यमानानि लक्ष्मण ॥६६॥

---

* पाठान्तरे—"सौगन्धिकायुता" ।

हे लक्ष्मण ! इस पर्वत के शिखर चारों ओर से फूले हुए तथा पत्तों से रहित टेसू के पेड़ों से युक्त ऐसे जान पड़ते हैं, मानों पर्वत में आग लग गई हो ॥७५॥

पम्पातीररुहाश्चेमे संसक्ता मधुगन्धिनः ।
मालतीमल्लिकाषण्डाः करवीराश्च पुष्पिताः ॥७६॥
केतक्यः सिन्धुवाराश्च वासन्त्यश्च सुपुष्पिताः ।
माधव्यो गन्धपूर्णाश्च कुन्दगुल्माश्च सर्वशः ॥७७॥
चिरिबिल्वा मधूकाश्च वञ्जुला वकुलास्तथा ।
चम्पकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाः सुपुष्पिताः ॥७८॥
नीपाश्च वारणाश्चैव खर्जूराश्च सुपुष्पिताः ।
पद्मकाश्चोपशोभन्ते नीलाशोकाश्च पुष्पिताः ॥७९॥
लोध्राश्च गिरिपृष्ठेषु सिंहकेसरपिञ्जराः ।
अङ्कोलाश्च कुरण्टाश्च पूर्णकाः पारिभद्रकाः ॥८०॥
चूताः पाटलयश्चैव कोविदाराश्च पुष्पिताः ।
मुचुलिन्दार्जुनाश्चैव दृश्यन्ते गिरिसानुषु ॥८१॥
केतकोद्दालकाश्चैव शिरीषाः शिंशुपा धवाः ।
शाल्मल्यः किंशुकाश्चैव रक्ताः कुरवकास्तथा ॥८२॥
तिनिशा नक्तमालाश्चः चन्दनाः स्पन्दनास्तथा ।
पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिर्लताभिः परिवेष्टितान् ॥८३॥

पम्पा सरोवर के तरुवर पम्पा सरोवर ही के जल से सींचे हुए हैं। मधुर गन्धयुक्त ये जुही, बिजौरा, नीबू, कुन्द के गुच्छे, चिल- विल, महुआ, बेंत, मौलसिरी, चंपा, तिलक, नागकेसर,

पद्मक, नील अशोक, लोध, अकोल, कोरैया, चूर्णक, मदार, आम गुलाब, कचनार, मुचकुन्द, केवड़ा; लसोड़ा, सिरसा, सीसों, धव, सेमर, टेसू, लाल कोरैया, तिमिश, करञ्ज, चन्दन, स्यन्दन आदि के वृक्ष फ़ूल रहे हैं और फूली हुई लताओं से युक्त हैं ॥७६॥७७॥ ॥७८॥७६॥८०॥८१॥८२॥८३॥

द्रुमान् पश्येह सौमित्रे पम्पाया रुचिरान् बहून् ।
वातविक्षिप्तविटपान् यथासन्नान् द्रुमानिमान् ॥८४॥
लताः समनुवर्तन्ते मत्ता इव वरस्त्रियः ।
पादपात्पादपं गच्छन् शैलाच्छैलं वनाद्वनम् ॥८५॥
वाति नैकरसास्वादः सम्मोदित इवानिलः ।
केचित्पर्याप्तकुसुमाः पादपा मधुगन्धिनः ॥८६॥

हे लक्ष्मण! पम्पा के तट पर इन अनेक सुन्दर पेड़ों को तो देखो। वायु के झोंकों से इनकी डालियाँ कैसी हिल रही हैं और लताएँ भी इनको उसी प्रकार आलिङ्गन करती हैं जिस प्रकार मद से मतवाली सुन्दरियाँ अपने पतियों को आलिङ्गन करती हैं। देखो यह पवन एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर, एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर और एक वन से दूसरे वन में जा कर और अनेक रसों का स्वाद ले कर, अत्यन्त आनन्दित सा घूम रहा है। किसी किसी पेड़ की डालियाँ अधिक पुष्पयुक्त होने के कारण बहुत अधिक महक दे रही हैं ॥८४॥८५॥८६॥

केचिन्मुकुलसंवीताः श्यामवर्णा इवाबभुः ।
इदं मृष्टमिदं स्वादु प्रफुल्लमिदमित्यपि ॥८७॥
रागमत्तो मधुकरः कुसुमेष्ववलीयते ।
निलीय पुनरुत्पत्य सहसान्यत्र गच्छति ॥८८॥

कोई कोई पेड़ कलियों से युक्त श्याम वर्ण हो शोभयामान हो रहे हैं। ये फूल मीठे हैं, यह स्वादिष्ट हैं, यह फूल खिले हुए हैं—इस प्रकार समझ और अनुराग में भर भौंरा उड़ उड़ कर फूलों पर बैठता है और फिर वहाँ से उड़ कर सहसा अन्य वृक्ष पर जाता है ॥८७॥८८॥

मधुलुब्धो मधुकरः पम्पातीरद्रुमेष्वसौ ।
इयं कुसुमसङ्घातैरुपस्तीर्णा सुखाकृता ॥८६॥

मधु का लोभी भौंरा इस प्रकार पम्पा-तीर वर्ती वृक्षों पर मँडराता फिरता है। देखो तो इस भूमि पर कैसे फूल बिछे हैं। मानों सोने के लिए कोमल चटाई बिछी हो ॥८६॥

स्वयं निपतितैर्भूमिः शयनप्रस्तरैरिव ।
विविधा विविधैः पुष्पैस्तैरेव नगसानुषु ॥६०॥
विकीर्णैः पीतरक्ता हि सौमित्रे प्रस्तराः कृताः ।
हिमान्ते पश्य सौमित्रे वृक्षाणां पुष्पसम्भवम् ॥६१॥
पुष्पमासे हि तरवः सङ्घर्षादिव पुष्पिताः ।
आह्वयन्त इवान्योन्यं नगाः षट्पदनादिताः ॥६२॥

ये फूल अपने आप गिरे हैं, किन्तु ऐसे गिरे हैं, मानों सोने के लिये सेज बिछी हो। इस पर्वत के शिखरों पर विविध रंग के पुष्पों से रंग बिरंगी चादर सी बिछी हुई है। हे लक्ष्मण! देखो हेमन्त ऋतु के बीतने पर फूलों की कैसी बाहुल्य देख पड़ती है। मानों ये वृक्ष एक दूसरे की देखा देखी फूलों को उत्पन्न कर हैं। ये पेड़ भौंरों की गुंजार से मानों आपस मे एक दूसरे को ललकार रहे हैं॥६०॥६१॥६२॥

कुसुमोत्तंसविटपाः शोभन्ते वहु लक्ष्मण।
एष कारण्डवः पक्षी विगाह्य सलिलं शुभम् ॥६३॥

हे लक्ष्मण ! पुष्पों से लदे वृक्ष बहुत शोभायमान हो रहे हैं। यह कारण्डव पक्षी, इस विमल जल मे डुबकी लगा, ॥६३॥

रमते कान्तया सार्धं काममुद्दीपयन् मम।
मन्दाकिन्यास्तु यदिदं रूपमेवं मनोहरम् ॥६४॥

अपनी मादा के साथ विहार करता हुआ, मानों मेरे कामदेव को उत्तेजित कर रहा है। इस पम्पा का मन्दाकिनी जैसा मनोहर रूप, ठीक ही है ॥६४॥

स्थाने जगति विख्याता गुणास्तस्या मनोरमाः।
यदि दृश्येत सा साध्वी यदि चेह वसेमहि ॥६५॥
स्पृहयेयं न शक्राय नायोध्यायै रघूत्तम।
न ह्येवं रमणीयेषु शाद्वलेषु तया सह ॥६६॥
रमतो मे भवेच्चिन्ता न स्पृहान्येषु वा भवेत्।
अमी हि विविधैः पुष्पैस्तरवो रुचिरच्छदाः ॥६७॥

क्योंकि उसके मनोहर गुण तो जगजाहिर हैं। यदि वह पतिव्रता कहीं इस समय देख पड़ती, तो हे रघूत्तम ! अयोध्या की तो बात ही क्या, इन्द्रासन को भी मैं चाह न करता और इसी जगह वास करता। उसके साथ जब मैं इन हरित तृणमय देश में विहार करता, तब न तो मुझे किसी प्रकार की चिन्ता होती और न अन्य पदार्थों की मुझे आकाँक्षा होती। देखो, अनेक पुष्पों से शोभित और हरे हरे सुन्दर पत्तों से युक्त ये वृक्ष ॥६५॥६६॥६७॥

काननेऽस्मिन् विना कान्तां चित्तमुन्मादयन्ति मे ।
पश्य शीतजलां चेमां सौमित्रे पुष्करायुताम् ॥६८॥
चक्रवाकानुचरितां कारण्डवनिषेविताम् ।
प्लवैः क्रौञ्चैश्च सम्पूर्णां वराहमृगसेविताम् ॥६९॥

इस वन में प्यारी सीता के बिना, मेरे चित्त को उन्मादित कर रहे हैं। हे लक्ष्मण! शीतल जल वाली, कमलों से युक्त, चक्रवाकों से सेवित, कारण्डवों से सुशोभित, बत्तकों, जलमुरगाबियों आदि जलपक्षियों के युक्त, सुअर, हिरन, सिंह आदि अन्य जन्तुओं से सेवित, इस पम्पा झील को देखो ॥६८॥६९॥

अधिकं शोभते पम्पा विकूजद्भिर्विहङ्गमैः ।
दीपयन्तीव मे कामं विविधा मुदिता द्विजाः ॥१००॥

इस पम्पा सरोवर की शोभा इन बोलते हुए पक्षियों से और भी अधिक बढ़ गई है। तरह तरह के प्रमुदित पक्षी मेरी कामवासना को उत्तेजित करते हैं ॥१००॥

श्यामां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियां पद्मनिभेक्षणाम् ।
पश्य सानुषु चित्रेषु मृगीभिः सहितान् मृगान् ॥१०१॥

और पङ्कजनयनी, श्याम और चन्द्रवदनी प्यारी सीता का स्मरण कराते हैं। देखो, इन विचित्र शिखरों पर ये हिरन हिरनियों के साथ विहार कर रहे हैं ॥१०१॥

मां पुनर्मृगशावाक्ष्या वैदेह्या विरहीकृतम् ।
व्यथयन्तीव मे चित्तं संचरन्तस्ततस्ततः ॥१०२॥

और मृग-शावक-नयनी वैदेही के विरह में मुझको व्यथित करते हैं। ये मृगगण जो इधर उधर घूम रहे हैं, मेरे मन को दु:खी कर रहे हैं ॥१०२॥

अस्मिन् सानुनि रम्ये हि मत्तद्विजगणायुते ।
पश्येयं यदि तां कान्तां ततः स्वस्ति भवेन्मम ॥१०३॥

यदि मैं मतवाले पक्षियों से पूर्ण इस मनोहर शिखर पर उस प्राणप्यारी का दर्शन पाऊँ तो, मेरा जी ठिकाने हो अथवा मेरा मन स्वस्थ हो ॥१०३॥

जीवेयं खलु सौमित्रे मया सह सुमध्यमा ।
सेवते यदि वैदेही पम्पायाः पवनं सुखम् ॥१०४॥

हे लक्ष्मण ! यदि वह पतली कमर वाली जानकी मेरे साथ इस पम्पा के तट पर सुखदायी पवन सेवन करे, तो मैं निश्चय ही जीवित रह सकता हूँ ॥१०४॥

पद्मसौगन्धिकवहं शिवं शोकविनाशनम् ।
धन्या लक्ष्मण सेवन्ते पम्पोपवनमारुतम् ॥१०५॥

हे लक्ष्मण ! वे लोग धन्य हैं जो कमल के फूलों की सुगन्धि से युक्त, पम्पासरोवर के तट के शोकहारी वायु का सेवन करते हैं ॥१०५॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी प्रिया विरहिता मया ।
कथं धारयति प्राणान् विवशा जनकात्मजा ॥१०६॥

वह श्यामा, कमलनयनी जनककुमारी सीता मेरे वियोग में विवश हो, प्राण धारण करने में कैसे समर्थ होगी ? ॥१०६॥

किंनु वक्ष्यामि राजानं धर्मज्ञं सत्यवादिनम् ।
सीतया जनकं पृष्टः कुशलं जनसंसदि ॥१०७॥

अब मैं उस धर्मज्ञ और सत्यवादी राजा जनक को जब वे सब के सामने, सीता का कुशल मुझसे पूंछेगे, क्या उत्तर दूँगा ? ॥१०७॥

या मामनुगता मन्दं[1] पित्रा प्रव्राजितं वनम् ।
सीता सत्पथ[2]मास्थाय क्व नु सा वर्तते प्रिया ॥१०८॥

मैं बड़ा अभागा हूँ। जब पिता जी ने मुझे वन में भेजा, तब सीता मेरे साथ आई। हा ऐसी पति व्रताप्यारी सीता इस समय न मालूम कहाँ होगी ? ॥१०८॥

तया विहीनः कृपणः कथं लक्ष्मण धारये ।
या मामनुगता राज्याद्भ्रष्टं विगतचेतसम्[3] ॥१०९॥

हे लक्ष्मण ! राज्य से रहित होने पर मुझ विकल हृदय के साथ जो सीता यहाँ थी, उसके बिना इस समय मैं दीन हो कर क्यों कर जीवित बना रहूँ ? ॥१०९॥

तच्चार्वञ्चितपक्ष्माक्षं सुगन्धि शुभमव्रणम् ।
अपश्यतो मुखं तस्याः सीदतीव मनो मम ॥११०॥

इस समय सुन्दर कमल जैसे नेत्रों से भूषित, सुगन्धयुक्त और व्रणरहित प्यारी के मुख को देखे बिना मेरा मन विकल हो रहा है ॥११०॥

---

१ मन्दं—भाग्यरहित । (गो०) २ सत्पथं—पतिव्रतामार्गं । (गो०)
३ विगतचेतसं—विकलहृदय । (गो०)

स्मितहास्यान्तरयुतं गुणवन्मधुरं हितम् ।
वैदेह्या वाक्यमतुलं कदा श्रोष्यामि लक्ष्मण ॥१११॥

हे लक्ष्मण ! मैं सीता के वे अनुपम वाक्य कब सुनूँगा जो हास्य युक्त गुणों से युक्त, सुनने में मधुर और परिणाम में हितकारी होते हैं ॥१११॥

प्राप्य दुःखं वने श्यामा सा मां मन्मथकर्शितम् ।
नष्टदुःखेव हृष्टेव साध्वी माभ्यभाषत ॥११२॥

वह श्यामा वन में कष्ट सह कर भी, मुझे कामपीड़ित देख, दुःख रहित की तरह हर्षित हो, मनोहर वचन बोला करती थी ॥११२॥

किंनु वक्ष्यामि कौसल्यामयोध्यायां नृपात्मज ।
क्व सा स्नुषेति पृच्छन्तीं कथं चातिमनस्विनीम् ॥११३॥

हे राजपुत्र ! मैं अयोध्या में लौट कर, माता कौसल्या को, जब वह मुझ से पूँछेगी कि मेरी पुत्रवधू सीता कहाँ है, तब क्या उत्तर दूँगा ॥११३॥

गच्छ लक्ष्मण पश्य त्वं भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
न ह्यहं जीवितुं शक्तस्तामृते जनकात्मजाम् ॥११४॥

हे लक्ष्मण ! तुम अयोध्या को लौट जाओ और भ्रातृवत्सल भरत से मिलो । मैं तो अब सीता के बिना न जीऊँगा ॥११४॥

इति रामं महात्मानं विलपन्तमनाथवत् ।
उवाच लक्ष्मणो भ्राता वचनं युक्तमव्ययम्[१] ॥११५॥

---

१ युक्तमव्ययम्—युक्तिभिरविनाश्य । (गो०)

इस प्रकार अनाथ की तरह श्रीरामचन्द्र को विलाप करते देख, लक्ष्मण ने युक्ति से खण्डन न करने योग्य वचन कहे ॥११५॥

संस्तम्भ राम भद्रं ते मा शुचः पुरुषोत्तम।
नेदृशानां मतिर्मन्दा भवत्यकलुषात्मनाम् ॥११६॥

हे राम! धीरज रखो। तुम्हारा मङ्गल हो। तुम चिन्ता मत करो। हे पुरुषोत्तम! तुम जैसे निर्मल बुद्धिवालों की बुद्धि ऐसी मन्द तो नहीं होनी चाहिए ॥११६॥

स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने।
अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद्वर्तिरार्द्रापि दह्यते ॥११७॥

आप विरहजन्य दुःख को स्मरण कर, प्रियजनों के प्रति स्नेह को त्याग दीजिए। क्योंकि देखिए, अत्यन्त स्नेहयुक्त (तेल में पड़ने से) गीली बत्ती भी जल जाती है ॥११७॥

यदि गच्छति पातालं ततो ह्यधिकमेव वा।
सर्वथा रावणस्तावन्न भविष्यति राघव ॥११८॥

हे राघव! रावण चाहे तो पाताल मे अथवा पाताल से भी बढ़ कर किसी अन्य गुप्तस्थान में जा छिपे, पर वह बच नहीं सकता— वह मारा तो अवश्य ही जायगा ॥११८॥

प्रवृत्तिर्[1]लभ्यतां तावत्तस्य पापस्य रक्षसः।
ततो हास्यति वा सीतां निधनं वा गमिष्यति ॥११९॥

प्रथम तो उस पापी राक्षस का पता लगाना तदनन्तर या तो वह सीता को स्वयं छोड़ ही देगा अथवा मारा ही जायगा ॥११९॥

---

१ प्रवृत्ति—वार्ता। (गो०)

यदि यात्यदितेर्गर्भं रावणः सह सीतया ।
तत्राप्येनं हनिष्यामि न चेद्दास्यति मैथिलीम् ॥१२०॥

यदि रावण सीतासहित दिति के गर्भ में जा छिपे और सीता को न दे तो मैं वहाँ भी उसका वध करूँगा ॥१२०॥

स्वास्थ्यं भद्रं भजस्वार्य त्यज्यतां कृपणा मतिः ।
अर्थो हि नष्टकार्यार्थैर्नायत्नेनाधिगम्यते ॥१२१॥

इसलिए हे भाई ! आप अपना चित्त ठिकाने कीजिए । इस दैन्य को त्याग दीजिए । क्योंकि खोई हुई वस्तु बिना प्रयत्न किए नहीं मिलती ॥१२१॥

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम् ।
सोत्साहस्यास्ति लोकेऽस्मिन्न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥१२२॥

हे भाई ! उत्साह बड़ा बलवान होता है । क्योंकि उत्साह से बढ़ कर दूसरा कोई बल ही नहीं है । जो उत्साही लोग हैं, उनके लिए इस संसार मे कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥१२२॥

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ।
उत्साहमात्रमाश्रित्य सीतां प्रतिलभेमहि ॥१२३॥

उत्साही जन किसी भी कार्य के करने मे नहीं घबड़ाते । अतः हम भी केवल उत्साह ही से जानकी को प्राप्त करेंगे ॥१२३॥

त्यज्यतां कामवृत्तत्वं शोकं संन्यस्य पृष्ठतः ।
महात्मानं कृतात्मानमात्मानं नावबुध्यसे ॥१२४॥

आप महात्मा और कृतविद्य हो कर भी अपने स्वरूप को क्यों नहीं चीन्हते ? आप शोक को, त्याग कर कामी जनों जैसी इस वृत्ति को पीठ पीछे फेंकिए, अर्थात् त्याग दीजिए ॥१२४॥

एवं संबोधितस्तत्र शोकोपहतचेतनः ।
न्यस्य शोकं च मोहं च ततो धैर्यमुपागमत् ॥१२५॥

जब लक्ष्मण जी ने शोक से विकल श्रीरामचन्द्र जी को इस प्रकार समझाया, तब श्रीरामचन्द्र जी ने शोक और मोह को त्याग धैर्य धारण किया ॥१२५॥

सोऽभ्यतिक्रामदव्यग्रस्तामचिन्त्यपराक्रमः ।
रामः पम्पां सुरुचिरां रम्यपारिप्लवद्रुमाम्[१] ॥१२६॥

तदनन्तर अचिन्त्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अव्यग्र चित्त से हिलते हुए वृक्षों से युक्त उस अत्यन्त मनोहर पम्पासर को घूम घूम कर देखने लगे ॥१२६॥

निरीक्षमाणः सहसा महात्मा
सर्वं वनं निर्भरकन्दरांश्च ।
उद्विग्नचेताः सह लक्ष्मणेन
विचार्य दुःखोपहतः प्रतस्थे ॥१२७॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी वनस्थली, झरने व गुफाओं को देखते हुए लक्ष्मण सहित उद्विग्न और दुःखित थे, तथापि (मन ही मन) विचार करते हुए चले जाते थे ॥१२७॥

तं मत्तमातङ्गविलासगामी
गच्छन्तमव्यग्रमना महात्मा ।
स लक्ष्मणो राघवमप्रमत्तो
ररक्ष धर्मेण बलेन चैव ॥१२८॥

---

१ पारिप्लवद्रुमाम्—चञ्चलद्रुमा । (गो०)

महापराक्रमशाली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को देख और डर कर वहाँ के बन्दर उस पवित्र, सुखदायी और सुरक्षित तथा वानरों से सेवित आश्रम को छोड़ भाग गये ॥१३१॥

किष्किन्धाकाण्ड का पहिला सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

द्वितीयः सर्गः

—❀—

तौ तु दृष्ट्वा महात्मानौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
वरायुधधरौ वीरौ सुग्रीवः शङ्कितोऽभवत् ॥१॥

वीर और अति उत्तम आयुधधारी दोनों भाई महात्मा श्रीराम लक्ष्मण को देख वानरराज सुग्रीव भयभीत हुए ॥१॥

उद्विग्नहृदयः सर्वा दिशः समवलोकयन् ।
न व्यतिष्ठत कस्मिंश्चिद्देशे वानरपुङ्गवः ॥२॥

और उद्विग्न हो सब दिशाओं को देखते हुए वानरश्रेष्ठ सुग्रीव एक स्थान पर न टिक सके ॥२॥

नैव चक्रे मनः स्थातुं *वीक्षमाणो महाबलौ ।
कपेः परमभीतस्य चित्तं व्यवससाद ह ॥३॥

उन महाबली दोनों वीरों को देख कर, सुग्रीव ने वहाँ ठहरने की इच्छा न की, उन परमत्रस्त कपिश्रेष्ठ का मन अत्यन्त विषाद को प्राप्त हुआ ॥३॥

वा० रा०　　* पाठान्तरे—स्थाने

चिन्तयित्वा[१] स धर्मात्मा विमृश्य गुरुलाघवम्[२] ।
सुग्रीवः परमोद्विग्नः सर्वैरनुचरैः सह ॥४॥

वे धर्मात्मा कपिराज सुग्रीव वालि को स्मरण कर और उनके बल का आधिक्य और अपने बल का अल्पत्व विचार कर, अपने अनुचरों सहित बहुत घबड़ाए ॥४॥

ततः स सचिवेभ्यस्तु सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
शशंस परमोद्विग्नः पश्यंस्तौ रामलक्ष्मणौ ॥५॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीव, राम लक्ष्मण को देखने के कारण घबड़ा कर अपने मन्त्रियों से बोले ॥५॥

एतौ वनमिदं दुर्गं वालिप्रणिहितौ ध्रुवम् ।
छद्मना चीरवसनौ प्रचरन्ताविहागतौ ॥६॥

ये दोनों अवश्य वालि के भेजे हुए हैं और कपटाचार से चीर वस्त्र धारण कर इस दुर्गम वन में घूमते फिरते यहाँ आए हैं ॥६॥

ततः सुग्रीवसचिवा दृष्ट्वा परमधन्विनौ ।
जग्मुर्गिरितटात्तस्मादन्यच्छिखरमुत्तमम् ॥७॥

धनुषधारी राम लक्ष्मण को देख सुग्रीव के सचिव पम्पा सरोवर के उस तट को छोड़ उस पहाड़ के अन्य ऊँचे शिखर पर चले गए ॥७॥

ते क्षिप्रमधिगम्याथ यूथपा यूथपर्षभम् ।
हरयो वानरश्रेष्ठं परिवार्योपतस्थिरे ॥८॥

---

१ चिन्तयित्वा वालिबलं संस्मृत्य । (शि०) २ गुरुलाघवम्—तद्बलस्य गुरुत्वं स्वबलस्य लघुत्वं । (रा०)

उनमें से बड़े बड़े यूथों के यूथपति बानर शीघ्रता से
श्रेष्ठ सुग्रीव के पास जा उनको घेर खड़े हो गए ॥८॥

एकमेकायनगताः प्लवमाना गिरेर्गिरिम् ।
प्रकम्पयन्तो वेगेन गिरीणां शिखराण्यपि ॥९॥

एक एक कर वे सब एकत्र हो और पर्वतशिखरों को
हुए एक पर्वत से कूद कर दूसरे पर्वत पर जाने लगे ।
कूद फाँद करने लगे ॥९॥

ततः शाखामृगाः सर्वे प्लवमाना महाबलाः ।
बभञ्जुश्च नगांस्तत्र पुष्पितान् दुर्गसंश्रितान् ॥१०

तदनन्तर वे बड़े बड़े बली कपि उस पर्वत पर उगे हुए
पेड़ों की पुष्पित डालियों को तोड़ तोड़ कर गिराने लगे ॥१०

आप्लवन्तो हरिवराः सर्वतस्तं महागिरिम् ।
मृगमार्जारशार्दूलांस्त्रासयन्तो ययुस्तदा ॥११॥

तदनन्तर वे बड़े बली बानर उस महापर्वत के समस्त स्था
बसने वाले मृग, बनविलाव, शार्दूलादिकों को भयभीत क
फाँद कर जाने लगे ॥११॥

ततः सुग्रीवसचिवाः पर्वतेन्द्रं समाश्रिताः ।
संगम्य कपिमुख्येन सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥१२॥

फिर सुग्रीव के मुख्य मुख्य मन्त्री सुग्रीव के सामने जा
जोड़ कर खड़े हो गए ॥१२॥

ततस्त भयसंविग्नं वालिकिल्बिषशङ्कितम् ।
उवाच हनुमान् वाक्यं सुग्रीवं वाक्यकोविदः ॥१३॥

तब बातचीत करने मे चतुर हनुमान जी वालि जी के डर से अनिष्ट की शङ्का कर के भयभीत हुए, सुग्रीव से बोले ॥१३॥

सम्भ्रमस्त्यज्यतामेष सर्वैर्वालिकृते महान् ।
मलयोऽयं गिरिवरो भयं नेहास्ति वालिनः ॥१४॥

यस्मादुद्विग्नचेतास्त्वं प्रद्रुतो हरिपुङ्गव ।
तं क्रूरदर्शनं क्रूरं नेह पश्यामि वालिनम् ॥१५॥

वालि के डर से कोई वानर भयभीत न हो, क्योंकि यह पर्वत श्रेष्ठ मलयाचल है। यहाँ पर वालि के भय की सम्भावना भी नहीं है, फिर जिस कारण से तुम लोग घबड़ा कर भागे हो वह क्रूरदर्शन और क्रूरस्वभाव वालि भी तो मुझे यहाँ नहीं देख पड़ता है ॥१४॥१५॥

यस्मात्तव भयं सौम्य पूर्वजात्पापकर्मणः ।
स नेह वाली दुष्टात्मा न ते पश्याम्यहं भयम् ॥१६॥

हे सौम्य! जिस पापी बड़े भाई से तुम डरते हो, वह दुष्टात्मा वालि मुझे यहाँ नहीं देख पड़ता ॥१६॥

अहो शाखामृगत्वं ते व्यक्तमेव प्लवङ्गम ।
लघुचित्ततयाऽऽत्मानं न स्थापयसि यो मतौ ॥१७॥

हे वानरराज! आश्चर्य है कि, आप अपना शाखामृगत्व (बंदरपना) स्पष्ट ही प्रदर्शित कर रहे हैं। आप चञ्चल स्वभाव वानर जाति के होने के कारण अपनी बुद्धि को स्थिर नहीं रख सकते और जरा जरा सी बातों से अपना जी छोटा कर लेते हैं ॥१७॥

बुद्धि[१]विज्ञान[२]सम्पन्न इङ्गितैः सर्वमाचर ।
न ह्यबुद्धिं गतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि ॥१८॥

१—बुद्धिः सामान्यतो ज्ञानं (गो०) २ विशेषतो ज्ञानं विज्ञानं (गो०)

सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान तथा सङ्केत द्वारा आपको अपने सब काम कर लेने चाहिए। क्योंकि बुद्धिहीन राजा सब प्राणियों का शासन नहीं कर सकता है ॥१८॥

सुग्रीवस्तु शुभं वाक्यं श्रुत्वा सर्वं हनूमतः ।
ततः शुभतरं वाक्यं हनूमन्तमुवाच ह ॥१९॥

सुग्रीव, हनुमान के यह शुभ वचन सुन, उनसे अति-हितकर वचन बोले ॥१९॥

दीर्घबाहू विशालाक्षौ शरचापासिधारिणौ ।
कस्य न स्याद्भयं दृष्ट्वा ह्येतौ सुरसुतोपमौ ॥२०॥

हे हनुमन्! दीर्घबाहु, विशालचक्षु, तीर, कमान और खड्ग धारण किए, देवपुत्रों के समान, इन दोनों को देख कर, जिसको भय न सतावेगा? ॥२०॥

वालिप्रणिहितावेतौ शङ्केऽहं पुरुषोत्तमौ ।
राजानो बहुमित्राश्च विश्वासो नात्र हि क्षमः ॥२१॥

मुझे तो इन दोनों नरश्रेष्ठों को देख यही शङ्का होती है कि, ये दोनों निश्चय ही वालि के भेजे हुए हैं। क्योंकि राजाओं के बहुत से मित्र हुआ करते हैं, अतः इन पर विश्वास न करना चाहिए ॥२१॥

अरयश्च मनुष्येण विज्ञेयाश्छन्नचारिणः ।
विश्वस्तानामविश्वस्ता रन्ध्रेषु प्रहरन्ति हि ॥२२॥

मनुष्य को चाहिए कि, वह कपट रूपधारी वैरियों को पहचाने। क्योंकि वे कपट रूपधारी विश्वास करने वालों पर स्वयं तो

विश्वास नहीं करते, किन्तु अवसर मिलने पर प्रहार करते हैं ॥२२॥

कृत्येषु वाली मेधावी राजानो बहुदर्शनाः ।
भवन्ति परहन्तारस्ते ज्ञेयाः प्राकृतैर्नरैः ॥२३॥

वालि ऐसे कामों में बड़ा चतुर है। क्योंकि राज लोग बहुदर्शी और उपायों के जानने वाले हुआ करते हैं। वे अपने शत्रुओं का घात करने मे बड़े उद्योगी होते हैं। अत. मुझ जैसे क्षुद्रजनों को उचित है कि, ऐसे मनुष्यों को पहचाने ॥२३॥

तौ त्वया प्राकृतेनैव गत्वा ज्ञेयौ प्लवङ्गम ।
इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च ॥२४॥
लक्षयस्व तयोर्भावं प्रहृष्टमनसौ यदि ।
विश्वासयन् प्रशंसाभिरिङ्गितैश्च पुनः पुनः ॥२५॥

अत. हे हनुमन्! तुम अपना प्राकृत वेष बना कर, उनके समीप जाओ और चेष्टाओं से, रूप (शक्ल) से और वार्तालाप से उनका भेद ले आओ। यदि वे प्रसन्न जान पड़ें तो उनकी बार बार प्रशंसा कर और चेष्टाओं से उनके मन मे अपने ऊपर विश्वास उत्पन्न कर लेना ॥२४॥२५॥

ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुङ्गव ।
प्रयोजनं प्रवेशस्य वनस्यास्य धनुर्धरौ ॥२६॥

हे वानरश्रेष्ठ! तुम मेरी ओर मुख कर खड़े होना और उन दोनों धनुर्धारियों से वन में आने का प्रयोजन पूछना ॥२६॥

शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्लवङ्गम ।
व्याभाषितैर्वा विज्ञेया स्याद्दुष्टादुष्टता तयोः ॥२७॥

हे वानर ! यदि उनका हृदय तुम्हें शुद्ध जान पड़े, तो तुम उनके रूपों से तथा बातचीत से उनके मन की दुष्टता अदुष्टता का पता लगा लेना ॥२७॥

इत्येवं कपिराजेन सन्दिष्टो मारुतात्मजः ।
चकार गमने बुद्धिं यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥२८॥

जब इस प्रकार सुग्रीव ने मारुतात्मज हनुमान जी को आज्ञा दी, तब हनुमान जी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के निकट जाने को तैयार हुए ॥२८॥

तथेति सम्पूज्य वचस्तु तस्य तत्-
कपेः सुभीमस्य दुरासदस्य च ।
महानुभावो हनुमान्ययौ तदा
स यत्ररामोतिबलश्च लक्ष्मणः ॥२९॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

महानुभाव कपिश्रेष्ठ हनुमान, अतिभीत दुर्धर्ष सुग्रीव जी के वचन मान, जहाँ श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण थे, वहाँ को चले गये ॥२९॥

किष्किन्धाकाण्ड का द्वितीय सर्ग पूरा हुआ

—❀—

तृतीयः सर्गः

—❀—

वचो विज्ञाय हनुमान् सुग्रीवस्य महात्मनः ।
पर्वतादृष्यमूकात्तु पुप्लुवे यत्र राघवौ ॥१॥

हनुमान, महात्मा सुग्रीव के वचन सुन ऋष्यमूक पर्वत से कूद कर श्रीराम और लक्ष्मण के निकट गए ॥१॥

कपिरूपं परित्यज्य हनुमान् मारुतात्मजः

भिक्षरूप[1] ततो भेजे शठबुद्धितया[2] कपिः ॥२॥

जाते समय अपने छिपाने के लिए हनुमान जी ने वानर का रूप छोड़ सन्यासी का वेष धारण किया ॥२॥

ततः स हनुमान् वाचा श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया ।

विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च ॥३॥

आबभाषे तदा वीरौ यथावत्प्रशशंस च ।

सम्पूज्य विधिवद्वीरो हनुमान् मारुतात्मजः ॥४॥

तदनन्तर हनुमान जी श्रीराम और लक्ष्मण के पास गए और नम्रतापूर्वक प्रणाम कर मधुर एवं मनोहर वाणी से उन दोनों की प्रशंसा करने लगे। उन दोनों वीरों की यथार्थ प्रशंसा कर, पवनतनय हनुमान जी ने, विधिपूर्वक उन दोनों की पूजा की ॥३॥४॥

[टिप्पणी—भिक्षुरूप अर्थात् सन्यासी का रूप धरे हुए हनुमान जी से सर्वशास्त्रज्ञ व्यक्ति विशेष ने रामलक्ष्मण को प्रणाम किया—यह यहाँ शङ्का उत्पन्न करता है। इसका समाधान रामानुजीय टीका में इस प्रकार किया है नमस्कारः परिगृहीता भिक्षुवेष विरुद्ध इति चेत् अत्यद्भुत वस्तु दर्शन सञ्जातातिविस्मयः सन् अङ्गीकृतं भिक्षुरूपं विस्मृत्य अवशाः प्रतिपेदिरे इतिवत् प्रणनामेति न विरोधः ।]

उवाच कामतो[3] वाक्यं मृदु सत्यपराक्रमौ ।

राजर्षिदेवप्रतिमौ तापसौ संशितव्रतौ ॥५॥

---

१ भिक्षुरूप—सन्यासि वेष। (गो०) २—शठबुद्धितया—वक्रबुद्धितया। (गो०) ३ कामतः—सुग्रीवोपदेशाविरुद्धस्वेच्छातः। (रामानु०)

हनुमान जी ने सुग्रीव के आदेश के अविरुद्ध, अपने इच्छा-नुसार उन सत्यपराक्रमी दोनों वीरों से मृदुभाव से कहा—आप राजर्षि सदृश, देवताओं के समान तपस्वी और कठोर व्रतधारी हैं ॥५॥

देशं कथमिमं प्राप्तौ भवन्तौ वरवर्णिनौ ।
त्रासयन्तौ मृगगणानन्यांश्च वनचारिणः ॥६॥

हे सुन्दर वर्णवालो! आप लोग मृगों और अन्य वनचारियों को त्रस्त करते हुए, वन में क्यों आए हैं ॥६॥

पम्पातीररुहान् वृक्षान् वीक्षमाणौ समन्ततः ।
इमां नदीं शुभजलां शोभयन्तौ तपस्विनौ ॥७॥

आप लोग पम्पा के तटवर्ती वृक्षों को चारो ओर से देखते हुए इस पुण्य जलवाली नदी की शोभा को बढ़ा रहे हैं ॥७॥

धैर्यवन्तौ सुवर्णाभौ कौ युवां चीरवाससौ ।
निःश्वसन्तौ वरभुजौ पीडयन्ताविमाः प्रजाः ॥८॥

धैर्यवान्, सुवर्ण की कान्ति के समान चीर पहिने हुए, बड़ी बाहों वाले और ऊँची स्वाँस लेते हुए आप कौन हैं, जो इन वन-वासी प्रजाजनों को पीड़ा देते हैं? ॥८॥

सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ सिंहातिबलविक्रमौ[1] ।
शक्रचापनिभे चापे गृहीत्वा शत्रुसूदनौ ॥९॥

आपकी चितवन सिंह के समान है। आप महाबलवान् और महापराक्रमी हैं। इन्द्रधनुष की तरह आप दोनों का धनुष देख कर जान पड़ता है कि, आप शत्रुओं का नाश कर देंगे ॥९॥

---

१ वृषभश्रेष्ठविक्रमौ—वृषभश्रेष्ठगमनौ। (गो०)

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ वृषभश्रेष्ठविक्रमौ[1] ।
हस्तिहस्तोपमभुजौ द्युतिमन्तौ नरर्षभौ ॥१०॥

आप कान्तिमान्, सुखरूप और साँड की तरह मस्तानी चाल चलने वाले हैं। आप हाथी की सूँड की तरह उतार चढ़ाव वाली लंबी भुजाओं वाले हैं। आप बुद्धिमान् और पुरुषों में श्रेष्ठ हैं ॥१०॥

प्रभया पर्वतेन्द्रोऽयं युवयोरवभासितः ।
राज्यार्हावमरप्रख्यौ कथं देशमिहागतौ ॥११॥

आप दोनों की प्रभा से यह पर्वत प्रकाशित हो रहा है और दोनों ही जन जो राज्य करने योग्य तथा देवतुल्य हैं, इस वन में क्यों आए हैं ? ॥११॥

पद्मपत्रेक्षणौ वीरौ जटामण्डलधारिणौ ।
अन्योन्यसदृशौ वीरौ देवलोकादिवागतौ ॥१२॥

आपके नेत्र कमल के सदृश हैं, आप वीर हैं और जटाजूट धारण किए हुए हैं। आप दोनों की मुखाकृति एक दूसरे से मिलती जुलती हुई सी है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानों आप दोनों देवलोक से यहाँ आए हैं ॥१२॥

यदृच्छयेव सम्प्राप्तौ चन्द्रसूर्यौ वसुन्धराम् ।
विशालवक्षसौ वीरौ मानुषौ देवरूपिणौ ॥१३॥

मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मानों चन्द्रमा और सूर्य अपनी इच्छा से धराधाम पर अवतीर्ण हुए हों। आप दोनों जन ऊँचे वक्षःस्थलों से युक्त मनुष्यों का रूप धारण किए हुए क्या कोई देवता हैं ? ॥१३॥

---

१ समदाविव गोवृषौ—मदोद्धतगोवृषौ तद्वद्गमनाविव । (रा०)

सिंहस्कन्धौ महोत्साहौ समदाविव गोवृषौ[१]
आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवः परिघोपमाः ॥१४॥

आप दोनों वीरों के कंधे सिंह के समान हैं। आप महाउत्साही और तरुण वृषों की तरह हैं। आपकी भुजाएँ विशाल और गोल परिघाकार* देख पड़ती हैं ॥१४॥

सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः।
उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम् ॥१५॥

आप समस्त आभूषण धारण करने योग्य हो कर भी भूषण क्यों धारण नहीं करते? मेरी समझ में तो आप दोनों ही पृथिवी की रक्षा करने योग्य हैं अर्थात् राजा होने योग्य हैं ॥१५॥

ससागरवनां कृत्स्नां विन्ध्यमेरुविभूषिताम्।
इमे च धनुषी चित्रे[१] श्लक्ष्णे चित्रानुलेपने[२] ॥१६॥

आप सागर, वन विन्ध्याचल, मेरु पर्वत से विभूषित, इस समूची पृथिवी की रक्षा कर सकते हैं। आपके ये दोनों धनुष अद्भुत, चिकने और सुनहरी कलई किए हुए हैं ॥१६॥

प्रकाशेते यथेन्द्रस्य वज्रे हेमविभूषिते।
सम्पूर्णा निशितैर्बाणैस्तूणाश्च शुभदर्शनाः ॥१७॥

और इन्द्र के हेमविभूषित वज्र की तरह शोभा दे रहे हैं। आप दोनों के तरकस भी पैने बाणों से परिपूर्ण हैं जो देखने में बड़े सुन्दर जान पड़ते हैं ॥१७॥

---

१ चित्रे—अद्भुतावहे। (गो०) २ चित्रानुलेपने—स्वर्णजलरूपलेपयोस्ते। (रा०)

* परिघ—एक प्रकार की गदा।

जीवितान्तकरैर्घोरैः श्वसद्भिरिव पन्नगैः ।
महाप्रमाणौ विस्तीर्णौ तप्तहाटकभूषितौ ॥१८॥
खङ्गावेतौ विराजेते निर्मुक्ताविव पन्नगौ ।
एवं मां परिभाषन्तं कस्माद्वै नाभिभाषथः ॥१९॥

आपके तरकसों के बाण फुमकारते हुए सर्प की तरह स्पर्श करते ही शत्रु के प्राणों का संहार करने वाले हैं। बड़े लंबे तथा चौड़े और सुनहरी मूँठों वाले ये दोनों खड्ग केंचुली छोड़े हुए सर्पों की तरह लड़ रहे (टकरा रहे) हैं। मैं आपसे इस प्रकार (सभ्यतापूर्वक) बातचीत करता हूँ, किन्तु इसका क्या कारण है जो आप मुझसे नहीं बोलते ? ॥१८।१९॥

सुग्रीवो नाम धर्मात्मा कश्चिद्वानरयूथपः ।
वीरो विनिकृतो[1] भ्रात्रा जगद्भ्रमति दुःखितः ॥२०॥

सुग्रीव नामक धर्मात्मा और वीर कोई एक वानर है, जो वानरों का मुखिया है। वह अपने भाई द्वारा छला जा कर दुःखित हो सारे जगत् में घूमता फिरता है ॥२०॥

प्राप्तोऽहं प्रेषितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना ।
राज्ञा वानरमुख्यानां हनूमान्नाम वानरः ॥२१॥

मैं उसके वानरों में मुख्य हनुमान नामक वानर हूँ और उस वानरराज महात्मा सुग्रीव का भेजा हुआ आपके समीप आया हूँ ॥२१॥

युवाभ्यां सह धर्मात्मा सुग्रीवः सख्यमिच्छति ।
तस्य मां सचिवं विद्धि वानरं पवनात्मजम् ॥२२॥

१—विनिकृतः—वञ्चित । (गो०)

वे धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनों के साथ मैत्री करना चाहते हैं। मुझे आप पवन का पुत्र और सुग्रीव का मन्त्री जानिए ॥२२॥

भिक्षुरूपप्रतिच्छन्नं सुग्रीवप्रियकाम्यया ।
ऋष्यमूकादिह प्राप्तं कामग कामरूपिणम् ॥२३॥

सुग्रीव की प्रीति के लिये (अर्थात् प्रसन्नता के लिये) मैंने सन्यासी का रूप धारण किया है। क्योंकि मैं यथेच्छाचारी और यथेच्छ रूप धारण करने वाला हूँ। मैं ऋष्यमूक पर्वत से यहाँ आया हूँ ॥२३॥

एवमुक्त्वा तु हनुमांस्तौ वीरौ रामलक्ष्मणौ ।
वाक्यज्ञौ वाक्यकुशलः पुनर्नोवाच किञ्चन ॥२४॥

वाक्यज्ञ और वीर श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण से इस प्रकार कह, वाक्यकुशल हनुमान जी चुप हो गए और फिर कुछ न बोले ॥२४॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
प्रहृष्टवदनः श्रीमान् भ्रातरं पार्श्वतः स्थितम् ॥२५॥

हनुमान जी के ये वचन सुन कर श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और पास खड़े हुए लक्ष्मण जी से बोले ॥२५॥

सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव काङ्क्षमाणस्य ममान्तिकमुपागतः ॥२६॥

हे लक्ष्मण! ये उन वानरराज महात्मा सुग्रीव के मन्त्री हैं जिनसे मैं स्वयं मिलना चाहता था। सो यह उनके मन्त्री स्वयं ही मेरे पास आए हैं ॥२६।

तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिन्दम ॥२७॥

हे लक्ष्मण ! सुग्रीव के वाक्यविशारद सचिव और शत्रुओं का नाश करने वाले इन कपिश्रेष्ठ से तुम मधुर वाणी से नीतिपूर्वक बातचीत करो ॥२७॥

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेव प्रभाषितुम् ॥२८॥

क्योंकि जिस प्रकार की बातचीत इन्होंने हमसे की है, वैसी बातचीत ऋग्वेद-यजुर्वेद और सामवेद के जाने विना, कोई कर नहीं सकता ॥२८॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥२९॥

अवश्य ही इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरण बहुधा सुना है। (अर्थात् पढ़ा है ;) क्योंकि इन्होंने इतनी बातें कहीं, किन्तु इनके मुख से एक भी बात अशुद्ध नहीं निकली ॥२९॥

न मुखे नेत्रयोर्वाऽपि ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च गात्रेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥३०॥

इतना ही नहीं, प्रत्युत बोलते समय भी इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंहे तथा अन्य शरीर का कोई अवयव विकृति को प्राप्त नहीं हुआ ॥३०॥

अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमद्रुतम् ।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमे स्वरे ॥३१॥

---

१ विनीतस्य—शिक्षितस्य। (गो०)

इन्होंने अपने कथन को न तो अंधाधुन्ध बढ़ाया (जिसे सुनने से जी ऊब उठे) और न इतना संक्षिप्त ही किया कि, उसका भाव समझने में भ्रम उत्पन्न हो। अपने कथन को व्यक्त करते समय इन्होंने न तो शीघ्रता की और न विलम्ब ही किया। इनके कहे वचन हृदयस्थ और कण्ठगत हैं, (अर्थात् बनावटी नहीं हैं अथवा जो अक्षर जहाँ से उठना चाहिए उसे इन्होंने वहीं से उठाया है।) इनका स्वर भी मध्यम है ॥३१॥

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं[१] वाचं हृदयहारिणीम्[२] ॥३२॥

इनकी वाणी व्याकरण से संस्कारित, क्रमसम्पन्न और न धीमी है और न तेज है। जो बातें करते हैं, वे मधुर और अन्य गुणों से युक्त होती हैं ॥३२॥

अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥३३॥

छाती, कण्ठ, सिर—इन तीन स्थानों से निकली हुई, इनकी अद्भुत वाणी, हाथ में तलवार लिये (मारने को उद्यत) शत्रु के कठोर हृदय को भी पिघला देगी, औरों की तो बात ही क्या है ॥३३॥

एवंविधो यस्य दूतो न भवेत्पार्थिवस्य तु ।
सिध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ ॥३४॥

हे लक्ष्मण ! यदि इस प्रकार का दूत राजा के पास न रहे, तो राजाओं के कार्य क्योंकर सिद्ध हों ? ॥३४॥

१—कल्याणीं—इतरगुणवतीं। (गो०) २ हृदयहारिणीम्—मधुरां। (गो०)

एवं गुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः ।
तस्य सिध्यन्ति सर्वार्था दूतवाक्यप्रचोदिताः ॥ ३५॥

जिस राजा के पास ऐसे गुणवान् कार्य बनाने वाले दूत रहते हैं, उस राजा के सब काम दूतों के वाक्यों ही से सिद्ध हो जाते हैं ॥३५॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिः सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
अभ्यभाषत वाक्यज्ञो वाक्यज्ञं पवनात्मजम् ॥३६ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजी ने इस प्रकार कहा, तब वचन बोलने में चतुर लक्ष्मण ने पवनतनय एवं सुग्रीव के सचिव वाक्यज्ञ हनुमान जी से कहा ॥३६॥

विदिता नौ गुणा विद्वन् सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव चावां मार्गावः सुग्रीवं प्लवगेश्वरम् ॥३७॥

हे विद्वन् ! हम लोगों को महात्मा सुग्रीव के सब गुण विदित हैं। हम दोनों उन्हीं कपिराज सुग्रीव को ढूँढ़ते फिरते हैं ॥३७॥

यथा ब्रवीषि हनुमन् सुग्रीववचनादिह ।
तत्तथा हि करिष्यावो वचनात्तव सत्तम ॥३८॥

हे हनुमन् ! सुग्रीव ने जो तुम्हारे द्वारा हमसे कहलाया है, हम लोग तदनुसार ही करेंगे ॥३८॥

तत्तस्य वाक्यं निपुणं निशम्य
प्रहृष्टरूपः पवनात्मजः कपिः ।

मनः समाधाय जयोपपत्तौ
सख्यं तदा कर्तुमियेष ताभ्याम् ॥ ३६ ॥

इति तृतीयः सर्गः॥

कपिश्रेष्ठ पवनतनय हनुमान जी लक्ष्मण जी के ये वचन सुन अत्यन्त प्रसन्न हुए और वालि को इनके द्वारा जीतने का मन में निश्चय कर, सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र जी की परस्पर मैत्री करने की इच्छा करते हुए ॥३६॥

किष्किन्धाकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ

—※—

चतुर्थः सर्गः

—:०:—

ततः प्रहृष्टो हनुमान् कृत्यवानिति तद्वचः ।
श्रुत्वा मधुरसम्भाषं सुग्रीवं मनसा गतः ॥१॥

हनुमान जी, श्री लक्ष्मण जी के मधुर सम्भाषण को सुन, अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने मन में सुग्रीव का मनोरथ सिद्ध हुआ जाना ॥१॥

भव्यो राज्यागमस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
यदयं कृत्यवान् प्राप्तः कृत्यं चैतदुपागतम् ॥२॥

उन्होंने विचारा कि, सुग्रीव को पुनः राज्य की प्राप्ति होगी। क्योंकि सुग्रीव से इनका भी कुछ प्रयोजन जान पड़ता है और अपने काम के लिए ये स्वयं यहाँ आए हैं ॥२॥

ततः परमसंहृष्टो हनुमान् प्लवगर्षभः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्य रामं वाक्यविशारदः ॥३॥

तब तो वानरश्रेष्ठ हनुमान (यह विचार) परम प्रसन्न हुए और वचन बोलने मे निपुण श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे । ३॥

किमर्थं त्वं वनं घोरं पम्पाकाननमण्डितम् ।
आगतः सानुजो दुर्गं नानाव्यालमृगायुतम् ॥४॥

हे राम ! पम्पासरोवर के तीरवर्ती वन से सुशोभित तथा भाँति भाँति के अजगरो और वाघो, चीतो से भरे हुए वन मे आप भाई के सहित किस लिए आए हैं ॥४॥

तस्य तद्वचन श्रुत्वा लक्ष्मणो रामचोदितः ।
आचचक्षे महात्मानं राम दशरथात्मजम् ॥५॥

हनुमान जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र जी के कहने से हनुमान जी को दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी का सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥५॥

राजा दशरथो नाम द्युतिमान् धर्मवत्सलः ।
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभ्यपालयत् ॥६॥

न द्वेष्टा विद्यते तस्य न च स द्वेष्टि कञ्चन ।
स च सर्वेषु भूतेषु पितामह इवापरः ॥७॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्टवानाप्तदक्षिणैः ।
तस्यायं पूर्वजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥८॥

हे हनुमन् ! दशरथ नाम के महाराज जो तेजस्वी, धर्मवत्सल, धर्मपूर्वक सदा चारों वर्णों का प्रजा का पालन करने वाले, शत्रु-

रहित, द्वेषशून्य और प्राणिमात्र का दूसरे पितामह ब्रह्मा की तरह पालन करने वाले और जो दक्षिणायुक्त अग्निष्टोमादि बहुत से यज्ञ करने वाले थे, उनके ये प्रथम पुत्र श्रीरामचन्द्र के नाम से लोगों में प्रसिद्ध हैं ॥६॥७॥८॥

शरण्यः सर्वभूतानां पितुर्निर्देशपारगः ।
वीरो दशरथस्यायं पुत्राणां गुणवत्तमः ॥६॥

ये सब प्राणियों के रक्षक, पितृआज्ञा का पालन करने वाले, और दशरथ के सुपुत्रों में अत्यन्त गुणवान् हैं ॥६॥

राजलक्षणसम्पन्नः संयुक्तो राजसम्पदा ।
राज्याद्भ्रष्टो वने वस्तुं मया सार्धमिहागतः ॥१०॥

इनमें समस्त राजाओ के लक्षण विद्यमान हैं और यावत् राज्य सम्पत्ति वाले हैं । किन्तु राज्यभ्रष्ट हो कर मेरे साथ वन में रहने के लिए इस वन में आए हैं ॥१०॥

भार्यया च महातेजाः सीतयाऽनुगतो वशी ।
दिनक्षये महातेजाः प्रभयेव दिवाकरः ॥११॥

जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रभा के सहित अस्ताचलगामी होते हैं, उसी प्रकार यह भी अपनी प्यारी पत्नी सीता के साथ यहाँ आए हैं ॥११॥

अहमस्यावरो भ्राता गुणैर्दास्यमुपागतः
कृतज्ञस्य बहुज्ञस्य लक्ष्मणो नाम नामतः ॥११॥

मैं इनका छोटा भाई हूँ। ये कृतज्ञ और बहुज्ञ हैं। मैं इनके गुणों पर मोहित हो, इनको सेवा किया करता हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है ॥१२॥

सुखार्हस्य महार्हस्य[१] सर्वभूतहितात्मनः।
ऐश्वर्येण च हीनस्य वनवासाश्रितस्य च ॥१३॥

वह सुख भोगने और ऐश्वर्य सम्पन्न होने योग्य हैं तथा प्राणिमात्र के हितैषी हैं। किन्तु इस समय ऐश्वर्य से विहीन हो वनवास कर रहे हैं ॥१३॥

रक्षसापहृता भार्या रहिते कामरूपिणा।
तच्च न ज्ञायते रक्षः पत्नी येनास्य सा हृता ॥१४॥

हम लोगों की अनुपस्थिति मे इनकी पत्नी को कामरूपी राक्षस हर ले गया है। जिस राक्षस ने उन्हें हरा है, उसको हमने अभी तक नहीं जान पाया ॥१४॥

दनुर्नाम दितेः पुत्रः शापाद्राक्षसतां गतः।
आख्यातस्तेन सुग्रीवः समर्थो वानरर्षभः ॥१५॥

दनु नामक दिति के पुत्र ने जो शाप के कारण कबन्ध राक्षस हो गया था—हमे इस कार्य में सहायता देने की सामर्थ्य रखने वाले वानरोत्तम सुग्रीव का नाम बतलाया है ॥१५॥

स ज्ञास्यति महावीर्यस्तव भार्यापहारिणम्।
एवमुक्त्वा दनुः स्वर्गं भ्राजमानो गतः सुखम् ॥१६॥

उसने हमसे कहा था कि, महापराक्रमी सुग्रीव तुम्हारी स्त्री के चुराने वाले को जानता है और वह बतला देगा। यह कह

१ महार्हस्य—ऐश्वर्यभाक्त्वस्य। (गो०)

कर वह दनु दिव्य रूप धारण कर सुखपूर्वक स्वर्ग को चला गया ॥१६॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं याथातथ्येन पृच्छतः ।
अहं चैव हि रामश्च सुग्रीवं शरणं गतौ ॥१७॥

हे हनुमन्! तुम्हारे पूँछने पर जो कुछ सच्चा सच्चा हाल था सो मैंने तुमको सुनाया। मैं और श्रीरामचन्द्र सुग्रीव के शरण में आए हैं ॥१७॥

एष दत्त्वा च वित्तानि प्राप्य चानुत्तमं यशः ।
लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति ॥१८॥

देखो, ये लोकों के नाथ, श्रीरामचन्द्र जी बहुत सा द्रव्य ब्राह्मणों को दे और बड़ा यश सम्पादन कर, इस समय सुग्रीव को अपना रक्षक बनाया चाहते हैं ॥१८॥

पिता यस्य पुरा ह्यासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः ।
तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः ॥१९॥

जो लोकों के शरण देने वाले और धर्मवत्सल महाराज दशरथ थे, उनके पुत्र ने रक्षक बनने योग्य सुग्रीव को अपना रक्षक बनाया है ॥१९॥

सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा ।
गुरुर्मे[1] राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः ॥२०॥

पहिले जो लोकों के स्वयं आश्रयदाता थे वे ही मेरे बड़े भाई धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव को अपना आश्रयदाता या रक्षक बनाना चाहते हैं ॥२०॥

---

१ गुरुः—अग्रज. । (गो०)

यस्य प्रसादे सततं प्रसीदेयुरिमाः प्रजाः ।
स रामो वानरेन्द्रस्य प्रसादमभिकाङ्क्षते ॥२१॥

जिनके प्रसन्न होने पर यह प्रजा प्रसन्न होती थी, वे श्रीरामचन्द्र वानरराज सुग्रीव की अपने ऊपर प्रसन्नता चाहते हैं ॥२१॥

येन सर्वगुणोपेताः पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ।
मानिताः सततं राज्ञा सदा दशरथेन वै ॥२२॥

तस्यायं पूर्वजः पुत्रस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
सुग्रीवं वानरेन्द्रं तु रामः शरणमागतः ॥२३॥

सर्वगुणों से युक्त राजाओं को जिन महाराज दशरथ ने सम्मानित किया था, उन्हीं के जगत्प्रसिद्ध ज्येष्ठपुत्र श्रीरामचन्द्र जी वानरेन्द्र सुग्रीव के शरण में जाना चाहते हैं ॥२२॥२३॥

शोकाभिभूते रामे तु शोकार्ते शरणं गते ।
कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं हरियूथपः ॥२४॥

इस समय श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्यारी पत्नी के शोक से विकल हो, सुग्रीव के शरण में आए हैं. अतः वानरराज सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर कृपा करनी चाहिये ॥२४॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं करुणं साश्रुलोचनम् ।
हनुमान् प्रत्युवाचेदं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥२५॥

जब इस प्रकार दीन भाव से और आखों में आँसू भर लक्ष्मण जी ने कहा, तब वाक्यविशारद हनुमान जी उनसे बोले ॥२५॥

ईदृशा बुद्धिसम्पन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
द्रष्टव्या वानरेन्द्रेण दिष्ट्या दर्शनमागताः ॥२६॥

हे लक्ष्मण ! इस प्रकार के बुद्धिमान् क्रोधशून्य और जितेन्द्रिय महात्मा पुरुष से सुग्रीव को अवश्य भेंट करनी चाहिए। क्योंकि ऐसे पुरुषों से भेंट बड़े भाग्य से होती है ॥२६॥

स हि राज्यात्परिभ्रष्टः कृतवैरश्च वालिना ।
हृतदारो वने त्यक्तो भ्रात्रा विनिकृतो[१] भृशम् ॥२७॥

सुग्रीव भी राज्य से भ्रष्ट हैं और वालि से शत्रुता हो जाने के कारण वे वालि द्वारा वञ्चित किये गये हैं और भयभीत हो वन मे वास करते हैं। वालि ने उनकी स्त्री को भी छीन लिया है ॥२७॥

करिष्यति स साहाय्यं युवयोर्भास्करात्मजः ।
सुग्रीवः सह चास्माभिः सीतायाः परिमार्गणे ॥२८॥

वे सूर्यपुत्र सुग्रीव, सीता का पता लगाने में आपकी सहायता करेंगे और मैं स्वयं भी इस कार्य मे हाथ बटाऊँगा ॥२८॥

इत्येवमुक्त्वा हनुमान् श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ।
बभाषे सोऽभिगच्छेम सुग्रीवमिति राघवम् ॥२९॥

हनुमान जी इस प्रकार के सुमधुर और कोमल वचन कह श्रीरामचन्द्र जी से बोले, हे वीर ! आइए अब सुग्रीव के पास चलें ॥२९॥

एवं ब्रुवाणं धर्मात्मा हनुमन्तं स लक्ष्मणः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं[२] प्रोवाच राघवम् ॥३०॥

इस प्रकार कहते हुए हनुमान जी का महात्मा लक्ष्मण जी ने दूतानुरूप सन्मान किया। तदनन्तर वे श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे ॥३०॥

---

१ विनिकृतः—वञ्चितः। (गो०) २ यथान्यायं—दूतानुरूप। (गो०)

कपिः कथयतो हृष्टो यथायं मारुतात्मजः ।
कृत्यवान् सोऽपि संप्राप्तः कृतकृत्योऽसि राघव ॥३१॥

हे राघव ! पवनतनय ने जो कुछ प्रसन्न हो कहा है, उस पर से यह जाना जाता है कि, सुग्रीव भी आपही की तरह अर्थी हैं। अतः वह आपसे अनेक कार्य में सहायता लेगा ॥३१॥

प्रसन्नमुखवर्णश्च व्यक्तं हृष्टश्च भाषते ।
नानृतं वक्ष्यते धीरो हनुमान् मारुतात्मजः ॥३२॥

धीर पवनतनय हनुमान जी जिस प्रकार हर्षित हो प्रसन्नमुख से बातचीत कर रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि, ये कभी झूठ नहीं बोलते ॥३२॥

ततः स तु महाप्राज्ञो हनुमान् मारुतात्मजः ।
जगामादाय तौ वीरौ हरिराजाय राघवौ ॥३३॥

तदनन्तर बड़े चतुर हनुमान जी दोनों भाइयों को सुग्रीव के पास ले चलने को तैयार हुए ॥३३॥

भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः ।
पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः ॥३४॥

उस समय उन्होंने सन्यासी का रूप त्याग कर, अपना असली वानररूप धारण किया और दोनों राजकुमारों को अपनी पीठ पर चढ़ा उनको सुग्रीव के पास ले गए ॥३४॥

स तु विपुलयशाः कपिप्रवीरः
पवनसुतः कृतकृत्यवत्प्रहृष्टः ।

• पाठान्तरे—वीरो ।

गिरि वरमुरुविक्रमः प्रयातः
सुशुभमतिः सह रामलक्ष्मणाभ्याम् ॥३५॥

॥ इतिः चतुर्थः सर्गं ॥

महायशस्वी वानरश्रेष्ठ पवनपुत्र हनुमान, उसी प्रकार परम प्रसन्न हुए, जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने पर होता है। हनुमान जी श्रीराम और लक्ष्मण सहित उस पर्वतश्रेष्ठ ऋष्यमूक पर जा पहुँचे ॥३५॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौथा सर्ग पूर्ण हुआ।

—❀—

पञ्चमः सर्गः

—❀—

[जान पड़ता है श्री राम और लक्ष्मण को देख कर भयभीत हो सुग्रीव मलय पर्वत के किसी सघन स्थान में जा छिपे थे। अतः हनुमानजी ऋष्यमूक पर श्रीराम और लक्ष्मण को छोड़ असली बात कहने को अकेले ही सुग्रीव के पास गए।]

ऋष्यमूकात्तु हनुमान् गत्वातु मलयं गिरिम्।
आचचक्षे तदा वीरौ कपिराजाय राघवौ ॥१॥

हनुमानजी ऋष्यमूक पर्वत से मलयाचल पर जा सुग्रीव से श्री राम और लक्ष्मण के आगमन का वृत्तान्त निवेदन कर, कहने लगे ॥१॥

अयं रामो महाप्राज्ञः सम्प्राप्तो दृढविक्रमः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामोऽयं सत्यविक्रमः ॥२॥

हे महाप्राज्ञ ! यह दृढ़ और सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ आए हैं ॥२॥

इक्ष्वाकूणं कुले जातो रामो दशरथात्मजः ।
धर्मे निगादित[1] श्चैव पितुर्निर्देशपारगः ॥३॥

श्रीरामचन्द्र इक्ष्वाकुकुलोद्भव महाराज दशरथ के पुत्र हैं और पितृआज्ञा पालनरूपी धर्मानुष्ठान में प्रसिद्ध हैं तथा पिता की आज्ञा के पालन करने वाले हैं ॥३॥

तस्यास्य वसतोऽरण्ये नियतस्य महात्मनः ।
रावणेन हृता भार्या स त्वां शरणमागतः ॥४॥

वन में वास करते हुए इन धर्मात्मा की भार्या को रावण हर ले गया है। अब ये आपके शरण में आये हैं ॥४॥

राजसूयाश्वमेधैश्च वह्निर्येनाभितर्पितः ।
दक्षिणाश्च तथोत्सृष्टा गावः शतसहस्रशः ॥५॥
तपसा सत्यवाक्येन वसुधा येन पालिता ।
स्त्रीहेतोस्तस्य पुत्रोऽयं रामस्त्वां शरणं गतः ॥६॥

जिन्होंने राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंको कर, अग्निदेव को तृप्त किया है और जिन्होंने बहुत सी दक्षिणा और सैकड़ों हजारों गायें ब्राह्मणों को दे डाली हैं तथा जिन्होंने बड़े परिश्रम से सत्यतापूर्वक पृथिवी का शासन किया है, उनके पुत्र ये श्रीरामचन्द्र राक्षस द्वारा हरी हुई स्त्री के पुनः प्राप्त करने के लिए आपके शरण मे आए हैं ॥५। ६॥

---

१ निगदितः—प्रसिद्धः। (गो०)

भवता सख्यकामौ तौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
प्रतिगृह्यार्चयस्वैतौ पूजनीयतमावुभौ ॥७॥

श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई पूज्य जनों में अग्रणी हैं और आपसे मित्रता करना चाहते हैं। अतः इनको ग्रहण कर इनका सत्कार कीजिए ॥७॥

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं सुग्रीवो हृष्टमानसः।
भयं च राघवाद्घोरं प्रजहौ विगतज्वरः ॥८॥

हनुमान के ये वचन सुन, सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न हुए और श्रीरामचन्द्र को देख उनके मन में जो बड़ा भारी भय उत्पन्न हो गया था, वह दूर हुआ और उनकी चिन्ता दूर हुई ॥८॥

स कृत्वा मानुषं रूपं सुग्रीवः प्लवगर्षभः।
दर्शनीयतमो भूत्वा प्रीत्या प्रोवाच राघवम् ॥९॥

वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने मनुष्य का रूप धारण कर और अत्यन्त दर्शनीय बन कर प्रीतिपूर्वक श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥९॥

भवान् धर्मविनीतश्च[1] विक्रान्तः सर्ववत्सलः।
आख्याता वायुपुत्रेण तत्त्वतो मे भवद्गुणाः ॥१०॥

आप धर्मज्ञ हैं, पराक्रमी हैं और सब पर कृपा करने वाले हैं। क्योंकि हनुमान जी ने आपके गुण यथार्थ रूप से कह सुनाए हैं ॥१०॥

तन्ममैवैष सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो।
यत्त्वमिच्छसि सौहार्दं वानरेण मया सह ॥११॥

१ धर्मविनीतः—धर्मे शिक्षित। (रा०)

हे प्रभो ! मैं जाति का बन्दर हूँ। मेरे साथ आपने जो मैत्री करनी चाही है सो यह आपने मुझको बड़ा सम्मान प्रदान किया है और इससे मुझे बड़ा लाभ है ॥११॥

रोचते यदि वा सख्यं बाहुरेष प्रसारितः ।
गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा वध्यतां ध्रुवा ॥१२॥

यदि मेरे साथ मैत्री करना आपको पसन्द हो तो मैं अपना यह हाथ पसारता हूँ। आप इसे अपने हाथ से पकड़ कर मित्रता की मर्यादा स्थापित कीजिए ॥१२॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवेण सुभाषितम् ।
स प्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना ॥१३॥

सुग्रीव के ये सुन्दर वचन सुन श्रीरामचन्द्र ने प्रसन्न मन से सुग्रीव का हाथ अपने हाथ से पकड़ा ॥१३॥

हृद्यं सौहृदमालम्ब्य पर्यष्वजत पीडितम् ।
ततो हनूमान् सन्त्यज्य भिक्षुरूपमरिन्दमः ॥१४॥

और फिर प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र ने सुग्रीव को भलीभाँति अपनी छाती से लगाया। इतने में हनुमान जी ने संन्यासि रूप त्याग कर ॥१४॥

काष्ठयोः स्वेन[१] रूपेण जनयामास पावकम् ।
दीप्यमानं ततो वह्निं पुष्पैरभ्यर्च्य सत्कृतम् ॥१५॥

और अपना वानर का रूप धारण कर दो अरणियों को मथ कर आग निकाली। फिर अग्निदेव का पुष्पादि से पूजन किया ॥१५॥

१ स्वेनरूपेण—वानररूपेण। (गो०)

तयोर्मध्येऽथ सुप्रीतो निदधे सुसमाहितः ।
ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम् ॥१६॥

तदनन्तर उस अग्नि को दोनों (राम और सुग्रीव) के बीच में स्थापित किया। जब अग्नि जलने लगी, तब दोनों ने उसकी परिक्रमा की ॥१६॥

सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ ।
ततः सुप्रीतमनसौ तावुभौ हरिराघवौ ॥१७॥

अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ न तृप्तिमुपजग्मतुः ।
त्वं वयस्योऽसि मे हृद्यो ह्येकं दुःखं सुखं च नौ ॥१८॥

सुग्रीवं राघवो वाक्यमित्युवाच प्रहृष्टवत् ।
ततः स पर्णबहुलां छित्त्वा शाखां सुपुष्पिताम् ॥१९॥

इस प्रकार सुग्रीव और श्रीराम की मैत्री हो गई। तदनन्तर अत्यन्त प्रसन्न मन से वे दोनों श्रीराम और सुग्रीव आपस में एक दूसरे को देखने लगे और बहुत देर तक देखते रहने पर भी दोनों में से एक को भी तृप्ति न हुई। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र ने प्रसन्न हो, सुग्रीव से कहा—तुम मेरे हृदय के प्यारे सखा हो। आज से तुम्हारा दुःख सुख मेरा दुःख सुख और मेरा दुःख सुख तुम्हारा दुःख सुख हुआ। सुग्रीव साखू के पेड के पत्तों और फूलों से लदी हुई एक डाली तोड़ लाए ॥१७॥१८॥१९॥

सालस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः ।
लक्ष्मणायाथ संहृष्टो हनुमान् प्लवगर्षभः ॥२०॥

सुग्रीव उस साखू के पेड़ की डाली को जमीन पर बिछा कर श्रीरामचन्द्र सहित उस पर बैठ गए। तदनन्तर वानरोत्तम हनुमान जी ने प्रसन्न हो कर, ॥२०॥

शाखां चन्दनवृक्षस्य ददौ परमपुष्पिताम् ।
ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ॥२१॥
प्रत्युवाच तदा रामं हर्षव्याकुललोचनः ।
अहं विनिकृतो राम चरामीह भयार्दितः ॥२२॥

अत्यन्त फूली हुई चन्दन वृक्ष की एक डाली तोड़ कर, लक्ष्मण जी को बैठने के लिए दी। तदनन्तर सुग्रीव प्रसन्न हो मधुर वाणी से, हर्ष के मारे आँखों में आँसू भरे हुए श्रीरामचन्द्रजी से बोले। हे राम ! मैं वालि द्वारा छला गया हूँ और उसके डर से मारा मारा फिरता हूँ ॥२१॥२२॥

हृतभार्यो वने त्रस्तो दुर्गमे तदुपाश्रितः ।
सोऽहं त्रस्तो वने भीतो वसाम्युद्भ्रान्तचेतनः ॥२३॥

मैं भार्या के हर जाने से दुःखी हूँ और भयभीत हो इस दुर्गम वन में वास करता हूँ। मेरा चित्त सदा विकल रहता है और रात दिन मारे डर के मुझे इस वन में भीरु की तरह रहना पड़ता है ॥२३॥

वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ।
वालिनो मे महाभाग भयार्तस्याभयं कुरु ॥२४॥

हे राघव ! मेरे वालि नामक भाई के कारण मेरी यह दशा हुई है। क्योंकि वह मुझसे शत्रुता रखता है। हे महाभाग ! मैं भयभीत हो रहा हूँ। आप मुझे वालि के भय से अभय कीजिए ॥२४॥

षष्ठः सर्गः

—❀—

पुनरेवाब्रवीत्प्रीतो राघवं रघुनन्दनम् ।
अयमाख्याति मे राम सचिवो मन्त्रिसत्तमः ॥१॥

तदनन्तर सुग्रीव प्रसन्न हो कर पुनः श्रीरामचन्द्रजी से बोले कि, हे रामचन्द्र ! मन्त्रियों में श्रेष्ठ मेरे मन्त्री हनुमान ने आपका सब वृत्तान्त मुझे बतला दिया है ॥१॥

हनुमान् यन्निमित्तं त्वं निर्जनं वनमागतः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वसतश्च वने तव ॥२॥

हनुमान जी ने मुझे सारा वृत्तान्त बतला दिया है कि, जिस कारण आपको अपने छोटे भाई लक्ष्मण सहित वन में वास करना पड़ता है ॥२॥

रक्षसापहृता भार्या मैथिली जनकात्मजा ।
त्वया वियुक्ता रुदती लक्ष्मणेन च धीमता ॥३॥

रुदन करती हुई आपकी भार्या मिथिलेशनन्दनी जानकी को राक्षस हर कर ले गया, जिस समय आप और धीमान् लक्ष्मण उपस्थित न थे ॥३॥

अन्तरप्रेप्सुना तेन हत्वा गृध्रं जटायुषम् ।
भार्यावियोगजं दुःखमचिरात्त्वं विमोक्ष्यसे ॥४॥

यह राक्षस तो अवसर की खोज में था ही (सो आप दोनों के आश्रम से हटते ही वह सीता को हर कर ले गया) जब जटायु ने

उसे रोकना चाहा तब उस (राक्षस ने) जटायु को मार डाला। अब मैं थोड़े ही दिनों में आपके इस भार्या वियोग-जन्य दुःख को दूर कर दूँगा ॥४॥

अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव
रसातले वा वर्तन्तीं वर्तन्तीं वा नभस्तले ॥५॥

मैं वेदश्रुति की तरह सीता को छुडा कर आपके निकट ले आऊँगा। वह रसातल या आकाश कहीं भी क्यों न हो ॥५॥

अहमानीय दास्यामि तव भार्यामरिन्दम ।
इदं तथ्यं मम वचस्त्वमवेहि च राघव ॥६॥

हे अरिन्दम ! मैं आपकी भार्या को ला कर आपसे मिला दूँगा। हे राघव ! आप मेरे इस कथन को सत्य मानें ॥६॥

न शक्या सा जरयितुमपि[१] सेन्द्रैः सुरासुरैः ।
तव भार्या महाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा ॥७॥

इन्द्रसहित देवता अथवा दैत्य दानव कोई भी आपकी भार्या जानकी जी को उसी तरह नहीं पचा सकता, जिस प्रकार विष को कोई नहीं पचा सकता ॥७॥

त्यज शोकं महाबाहो तां कान्तामानयामि ते
अनुमानात्तु जानामि मैथिली सा न संशयः ॥८॥

हे महाबाहो ! आप शोक छोड दीजिए। मैं आपकी प्यारी को लाए देता हूँ। हे राम ! मैं अनुमान से जानता हूँ कि, निस्सन्देह वही सीता होगी ॥८॥

---

१ अरिन्दम्—आत्मसात्कर्तुं। (गो०)

ह्रियमाणा मया दृष्टा रक्षसा क्रूरकर्मणा ।
क्रोशन्ती राम रामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम् ॥९॥

जिसे मैंने क्रूरकर्मा राक्षस द्वारा हर कर लिए जाते हुए देखा है। उस समय वह राम राम और लक्ष्मण लक्ष्मण कह कर उच्च स्वर से पुकार रही थी ॥९॥

स्फुरन्ती रावणस्याङ्के पन्नगेन्द्रवधूर्यथा ।
आत्मना पञ्चमं मां हि दृष्ट्वा शैलतटे स्थितम् ॥१०॥

और रावण की गोद में नागिन की तरह छटपटा रही थी उस समय मुझ समेत पाँच वानरों को पर्वत पर बैठा देख ॥१०॥

उत्तरीयं तया त्यक्तं शुभान्याभरणानि च ।
तान्यस्माभिर्गृहीतानि निहितानि च राघव ॥११॥

उत्तरीय वस्त्र सहित कई एक उत्तम आभूषणों को ऊपर से छोडा। उन सब को मैंने उठा कर रख छोड़ा है ॥११॥

आनयिष्याम्यहं तानि प्रत्यभिज्ञातुमर्हसि ।
तमब्रवीत्ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् ॥१२॥

मैं उन्हें लाता हूँ। आप उन्हें पहचानिए। यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने प्रियभाषी सुग्रीव से कहा ॥१२॥

आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलम्बसे
एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम् ॥१३॥
प्रविवेश ततः शीघ्रं राघवप्रियकाम्यया ।
उत्तरीयं गृहीत्वा तु शुभान्याभरणानि च ॥१४॥

इदं पश्येति रामाय दर्शयामास वानरः ।
ततो गृहीत्वा तद्वासः शुभान्याभरणानि च ॥१५॥

हे मित्र ! उन सब वस्तुओं को शीघ्र ले आओ। विलंब क्यों कर रहे हो ! जब श्रीरामचन्द्र ने यह कहा, तब सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिए पहाड़ की एक गहन गुफा में प्रवेश किया और शीघ्रता पूर्वक उन उत्तरीय वस्त्र और उन बहुमूल्यवान् आभूषणों को ला कर श्रीरामचन्द्र जी के सामने रखा और यह कहा कि, ये देखिए वे ही हैं। तब श्रीरामचन्द्र जी उन वस्त्रों और उन बढ़िया गहनों को हाथ में लेकर ॥१३॥१४॥१५॥

अभवद्बाष्पसंरुद्धो नीहारेणेव चन्द्रमाः ।
सीतास्नेहप्रवृत्तेन स तु बाष्पेण दूषितः ॥१६॥

कुहरे में ढके चन्द्रमा की तरह अश्रुयुक्त हो गए। सीता का प्रेम उमड़ने से उनके नेत्र आँसुओं से दूषित हो गए ॥१६॥

हा प्रियेति रुदन्धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत्क्षितौ ।
हृदि कृत्वा तु बहुशस्तमलङ्कारमुत्तमम् ॥१७॥
निशश्वास भृशं सर्पो बिलस्थ इव रोषितः ।
अविच्छिन्नाश्रुवेगस्तु सौमित्रिं वीक्ष्य पार्श्वतः ॥१८॥
परिदेवयितुं[1] दीनं रामः समुपचक्रमे ।
पश्य लक्ष्मण वैदेह्या संत्यक्तं ह्रियमाणया ॥१९॥

वे "प्यारी" कह कर रोते हुए, धीरज छोड़ भूमि पर गिर पड़े। श्रीरामचन्द्र जी उन बढ़िया आभूषणों को बार बार छाती से

१ परिदेवयितुं—प्रलपितुं । (गो०)

लगा, बिल में बैठे क्रुद्ध सर्प की तरह फुसकारें छोड़ने लगे और नेत्रों से अविरल अश्रुधार प्रवाहित कर बगल में बैठे लक्ष्मण की ओर देख दीन भाव से प्रलाप करने लगे। वे बोले— हे लक्ष्मण! देखो, जब राक्षस जानकी को हर कर लिए जाता था, तब उसने ये वस्तुएँ नीचे डाली थीं ॥१७॥१८॥१९॥

उत्तरीयमिदं भूमौ शरीराद्भूषणानि च ।
शाद्वलिन्यां ध्रुवं भूम्यां सीतया ह्रियमाणया ॥२०॥
उत्सृष्टं भूषणमिदं तथारूपं हि दृश्यते ।
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥२१॥

सीता ने हरण के समय यह उत्तरीय वस्त्र और ये आभूषण अपने शरीर से उतार कर हरी घास से युक्त भूमि पर छोड़ दिए इस प्रकार कहने पर लक्ष्मण जी ने कहा ॥२०॥२१॥

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥२२॥

मैं सीता के बाजूबन्द और कुण्डलों को नहीं पहचानता, किन्तु हाँ, मैं उनके (पैर के) बिछुओं को अवश्य पहचानता हूँ, क्योंकि चरणवंदना के समय इनको मैं नित्य ही देखा करता था ॥२२॥

[टिप्पणी—यह है भारत की प्राचीन संस्कृति और उच्च आदर्श चरित्र। लक्ष्मण इतने दिनों जानकी के साथ रहे किन्तु आँख उठा कर सीता की ओर कभी न देखा।

ततः स राघवो दीनः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ।
ब्रूहि सुग्रीव कं देशं ह्रियन्ती लक्षिता त्वया ॥२३॥

तब तो दीन हो कर श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव से यह बोले—

सुग्रीव, यह तो बतलाओ, तुमने उसको किस देश की ओर जाती हुई देखा था ॥२३॥

रक्षसा रौद्ररूपेण मम प्राणैः प्रिया प्रिया ।
क्व वा वसति तद्रक्षो महद्व्यसनदं मम ॥२४॥

मेरी प्यारी प्रिया को हर कर ले जाने वाला वह भयङ्कर राक्षस कहाँ रहता है, जिसने मुझे यह बड़ा भारी दुःख दे रक्खा है ॥२४॥

यन्निमित्तमहं सर्वान्नाशयिष्यामि राक्षसान् ।
हरता मैथिलीं येन मां च रोषयता भृशम् ॥
आत्मनो जीवितान्ताय मृत्युद्वारमपावृतम् ॥२५॥

उसकी इस करतूत के कारण मुझे समस्त राक्षसों का संहार करना पड़ेगा । उसने जानकी को हर कर मुझे बहुत क्रुद्ध किया है । मानो उसने अपनी मौत का दरवाजा स्वयं ही खोला है ॥२५॥

इति षष्ठः सर्गः॥

मम दयिततरा हृता वनान्ता-
द्रजनिचरेण विमथ्य[1] येन सा ।
कथय मम रिपुं त्वमद्य वै
प्लवगपते यमसन्निधिं नयामि ॥२६॥

हे कपीश्वर ! जिस राक्षसने मुझे धोखा देकर मेरी प्राणप्यारी को वन में हरा है, उस मेरे वैरी का नाम तुम मुझे बतलाओ जिससे मैं उसे आज ही यमपुरी भेज दूँ ॥२६॥

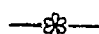
—※—

किष्किन्धाकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

---

१ विमथ्य—वञ्चयित्वा । (रा०)

सप्तमः सर्गः



एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामेणार्तेन वानरः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं सबाष्पं बाष्पगद्गदः ॥१॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार आर्त हो वचन कहे, तब वानर सुग्रीव ने भी आँखों में आँसू भर हाथ जोड़ और गद्गद हो कर कहा ॥१॥

न जाने निलयं तस्य सर्वथा पापरक्षसः ।
सामर्थ्यं विक्रमं वाऽपि दौष्कुलेयस्य वा कुलम् ॥२॥

मुझे उस पापी राक्षस का न तो निवासस्थान और न उसकी सामर्थ्य और पराक्रम ही मालूम है। मैं उस दुष्ट कुलवाले का कुल भी नहीं जानता ॥२॥

सत्यं ते प्रतिजानामि त्यज शोकमरिन्दम ।
करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्स्यसि मैथिलीम् ॥३॥

किन्तु हे शत्रुनाशन ! मैं सत्य सत्य प्रतिज्ञा कर के कहता हूँ कि, जानकी जी को प्राप्त करने के लिए मैं कोई बात उठा न रखूँगा। अतः अब आप शोक न कीजिए ॥३॥

रावणं सगणं हत्वा परितोष्यात्मपौरुषम् ।
तथाऽस्मि कर्ता न चिराद्यथा प्रीतो भविष्यसि ॥४॥

वंशसहित रावण को मार कर और अपने पुरुपार्थ को सफल कर, मैं ऐसा कार्य करूँगा जिससे आप प्रसन्न हो जॉयगे ॥४॥

अलं वैक्लव्य[1] मालम्ब्य धैर्यमात्मगतं स्मर ।
त्वद्विधानामसदृशमीदृशं विद्धि लाघवम् ॥५॥

बस अब आप दीनता त्यागिए और धीरज रखिए। क्योंकि आप जैसे पुरुषों को इस प्रकार की दीनता प्रदर्शित करना बड़ी ओछी बात है ॥५॥

मयाऽपि व्यसनं प्राप्तं भार्याहरणजं महत् ।
न चाहमेवं शोचामि न च धैर्यं परित्यजे ॥६॥

मैं भी तो अपनी पत्नी के हरे जाने से बड़ा दुःख भोग रहा हूँ; किन्तु मैं इस प्रकार न तो दुःखी होता हूँ और न धीरज ही छोड़ बैठता हूँ ॥६॥

नाहं तामनुशोचामि प्राकृतो[2] वानरोऽपि सन् ।
महात्मा च विनीतश्च[3] किं पुनर्धृतिमान् भवान् ॥७॥

यद्यपि मैं अनार्य जाति का वानर हूँ तथापि मैं उसके लिए इतना चिन्तातुर नहीं हूँ। फिर आप तो महात्मा, बड़े बूढ़ों द्वारा सुशिक्षित, और धैर्यवान् पुरुष हैं ॥७॥

वाष्पमापतितं धैर्यान्निग्रहीतुं त्वमर्हसि ।
मर्यादां सत्त्वयुक्तानां[4] धृतिं नोत्स्रष्टुमर्हसि ॥८॥

आप शोक से निकलते हुए अपने आँसुओं को धैर्य धारण कर रोकिए। सतोगुणियों के मर्यादारूप धैर्य को आप न त्यागिए ॥८॥

---

१ वैक्लव्यं—दैन्यं। (गो०) २ प्राकृत.—हीन.। (गो०)३ विनीतश्च—वृद्धैः सुशिक्षितः (गो०)।४ सत्त्वयुक्तानां—सत्त्वगुणवतां। (रा०)

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तके ।
विमृशन्वै स्वया बुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति ॥९॥

क्योंकि धैर्यवान् पुरुष, स्वजन वियोग के समय, धननाश के समय, भय उपस्थित होने पर और प्राणों की शङ्का उपस्थित होने पर भी, अपनी बुद्धि से काम लेते हैं और उसीसे वे कभी दुःखी नहीं होते ॥९॥

बालिशस्तु नरो नित्यं वैक्लव्यं योऽनुवर्तते ।
स मज्जत्यवशः शोके भाराक्रान्तेव नौर्जले ॥१०॥

जो लोग मूर्ख होते हैं, वे नित्य ही दीन बने रहते हैं। वे लाचार हो शोक में वैसे ही डूब जाते हैं, जैसे बड़े बोझ से दबी हुई नाव पानी में डूब जाती है ॥१०॥

एषोऽञ्जलिर्मया बद्धः प्रणयात्त्वां प्रसादये ।
पौरुषं श्रय शोकस्य नान्तरं[1] दातुमर्हसि ॥११॥

मैं आपसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि, आप मेरी प्रीति की ओर देख कर, प्रसन्न हो और पुरुषार्थ का सहारा लें, शोक को अपने मन में पैठने का अवसर ही न दें ॥११॥

ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम् ।
तेजश्च क्षीयते तेषां न त्वं शोचितुमर्हसि ॥१२॥

जो लोग शोक किया करते हैं, वे कभी सुखी हो ही नहीं सकते। प्रत्युत उनके तेज की भी हानि होती है। अतः आपको शोक न करना चाहिए ॥१२॥

---

१ अन्तरं—अवकाशं। (गो०)

शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशयः ।
स शोकं त्यज राजेन्द्र धैर्यमाश्रय केवलम् ॥१३॥

हे राजेन्द्र ! जो लोग सदा शोक में डूबे रहते हैं, उनके जीवन मे भी सन्देह हो जाता है। अतः आप शोक को त्याग कर, केवल धैर्य धारण कीजिए ॥१३॥

हितं वयस्यभावेन ब्रूमि नोपदिशामि ते ।
वयस्यतां पूजयन्मे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥१४॥

मैं केवल मित्रता के कर्त्तव्य से प्रेरित हो, आपसे आपके हित की बात कहता हूँ—मैं आपको उपदेश नहीं देता। अतः आप मेरी मैत्री का मान शोक मत कीजिए ॥१४॥

मधुरं सान्त्वितस्तेन सुग्रीवेण स राघवः ।
मुखमश्रुपरिक्लिन्नं वस्त्रान्तेन प्रमार्जयत् ॥१५॥

प्रकृतिस्थस्तु काकुत्स्थः सुग्रीववचनात्प्रभुः ।
सम्परिष्वज्य सुग्रीवमिदं वचनमब्रवीत् ॥१६॥

जब सुग्रीव ने श्रीराम को इस प्रकार मधुर वचनों से समझाया, तब श्रीरामचन्द्र अपने कपड़े के छोर से, आँसू से भरे अपने मुख को पोंछ, स्वस्थ हो एवं सुग्रीव को हृदय से लगा कर, यह बात बोले ॥१५॥१६॥

कर्तव्यं यद्वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च ।
अनुरूपं च युक्तं च कृतं सुग्रीव तत्त्वया ॥१७॥

हे सुग्रीव ! स्नेही और हितैषी मित्र के अनुरूप और योग्य कार्य तुमने किया है ॥१७॥

व्यसने वार्थकृच्छे वा भये वा जीवितान्तके ।
विमृशन्वै स्वया बुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति ॥६॥

क्योंकि धैर्यवान् पुरुष, स्वजन वियोग के समय, धननाश के समय, भय उपस्थित होने पर और प्राणों की शङ्का उपस्थित होने पर भी, अपनी बुद्धि से काम लेते हैं और उसीसे वे कभी दुःखी नहीं होते ॥६॥

बालिशस्तु नरो नित्यं वैक्लव्यं योऽनुवर्तते ।
स सज्जत्यवशः शोके भाराक्रान्तेव नौर्जले ॥१०॥

जो लोग मूर्ख होते हैं, वे नित्य ही दीन बने रहते हैं। वे लाचार हो शोक में वैसे ही डूब जाते हैं, जैसे बड़े बोझ से दबी हुई नाव पानी में डूब जाती है ॥१०॥

एषोऽञ्जलिर्मया बद्धः प्रणयात्त्वां प्रसादये ।
पौरुषं श्रय शोकस्य नान्तरं[1] दातुमर्हसि ॥११॥

मैं आपसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि, आप मेरी प्रीति की ओर देख कर, प्रसन्न हो और पुरुषार्थ का सहारा ले, शोक को अपने मन में पैठने का अवसर ही न दें ॥११॥

ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम् ।
तेजश्च क्षीयते तेषां न त्वं शोचितुमर्हसि ॥१२॥

जो लोग शोक किया करते हैं, वे कभी सुखी हो ही नहीं सकते। प्रत्युत उनके तेज की भी हानि होती है। अतः आपको शोक न करना चाहिए ॥१२॥

---

१ अन्तर —अवकाशं । (गो०)

और न आगे ही कभी बोलूँगा। इस बात के लिए मैं प्रतिज्ञा करता हूँ और सत्यतापूर्वक शपथ खाता हूँ ॥२१॥२२॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवो वानरैः सचिवैः सह ।
राघवस्य वचः श्रुत्वा प्रतिज्ञातं विशेषतः ॥२३॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन कर सुग्रीव अपने मन्त्रियों सहित बहुत प्रसन्न हुए—विशेष श्रीरामचन्द्र जी की प्रतिज्ञा को सत्य जान उन्होंने अपने को कृतार्थ माना ॥२३॥

एवमेकान्तसंपृक्तौ ततस्तौ नरवानरौ ।
उभावन्योन्यसदृशं सुखं दुःखं प्रभाषताम् ॥२४॥

इस प्रकार एकान्त में बैठ वे दोनों नर और वानर अपने अपने सुख दुःख आपस में कहते सुनते थे ॥२४॥

महानुभावस्य वचो निशम्य
हरिर्नराणामृषभस्य तस्य ।
कृतं स मेने हरिवीरमुख्य-
स्तदा स्वकार्यं हृदयेन विद्वान् ॥२५॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

वानरराज सुग्रीव ने राजराजेश्वर श्रीरामचन्द्र के वचन सुन मन ही मन विचार किया कि, निस्सन्देह अब मेरा कार्य हो गया। अथवा सुग्रीव ने अपना कार्य पूर्ण हुआ जाना ॥२५॥

किष्किन्धाकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—ः—

एष च प्रकृतिस्थोऽहमनुनीतस्त्वया सखे ।
दुर्लभो हीदृशो बन्धुरस्मिन् काले विशेषतः ॥१८॥

हे मित्र ! तुम्हारे समझाने बुझाने से मेरा मन ठीक हो गया है । तुम्हारे जैसा मित्र मिलना दुर्लभ है । सो भी ऐसी विपत्ति के समय ॥१८॥

किं तु यत्नस्त्वया कार्यो मैथिल्याः परिमार्गणे ।
राक्षसस्य च रौद्रस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥१९॥

परन्तु हे मित्र ! सीता जी और उस घोर दुरात्मा राक्षस रावण का पता लगाने का तुम प्रयत्न करो ॥१९॥

मया च यदनुष्ठेयं विस्रब्धेन तदुच्यताम् ।
वर्षास्विव च सुक्षेत्रे सर्वं संपद्यते मयि ॥२०॥

अपना जो काम तुम मुझसे करवाना चाहते हो सो तुम मुझसे बेधड़क कहो । मैं तुम्हारे सब काम उसी प्रकार सिद्ध कर दूँगा जिस प्रकार उपजाऊ खेत में वर्षा ऋतु में बोया हुआ बीज सफल होता है ॥२०॥

मया च यदिदं वाक्यमभि[1] मानात्समीरितम् ।
तत्त्वया हरिशार्दूल तत्त्वमित्युपधार्यताम् ॥२१॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ।
एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव च ते शपे ॥२२॥

हे वानरश्रेष्ठ ! मैंने शौर्याभिमान से जो बात कही है इसे तुम सत्य सत्य ही जानना । क्योंकि न तो पहले मैं कभी मिथ्या बोला

१ अभिमानात्—शौर्याभिमानात् । (गो०)

किन्तु हे राघव ! मैं आपका योग्य मित्र हूँ—यह बात आपको धीरे धीरे जान पड़ेगी। मैं अपनी बड़ाई अपने मुँह से आपके सामने नहीं कर सकता ॥५॥

महात्मनां तु भूयिष्ठं[1] त्वद्विधानां कृतात्मनाम् ।
निश्चला भवति प्रीतिर्धैर्यमात्मवतां[2] मिव ॥६॥

आप जैसे महात्मा और अत्यन्त स्वाधीन पुरुषों की प्रीति और धैर्य अटल होते हैं ॥६॥

रजतं वा सुवर्णं वा वस्त्राण्याभरणानि च ।
अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः ॥७॥

जो सन्मित्र होते हैं वे अपने मित्र की सोने चाँदी की चीजें, भूषण वस्त्रादि को अपनी ही समझते हैं अर्थात् अपनी और मित्र की चीजों को एक ही सी समझते हैं। भेदभाव नहीं रखते ॥७॥

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा ।
निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमा गतिः ॥८॥

चाहे धनी हो चाहे निर्धन, चाहे दुःखी हो चाहे सुखी, चाहे निर्दोष हो चाहे सदोष—मित्र मित्र ही है ॥८॥

धनत्यागः सुखत्यागो देहत्यागोऽपि वा पुनः ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम् ॥९॥

जो लोग आपस के स्नेह ही को देखते हैं, उनके लिए अपने मित्र के पीछे धन का त्याग, सुख का त्याग अथवा देह तक का त्याग कोई बड़ी बात नहीं ॥९॥

१ भूयिष्ठं—अतिशयेन। (गो०) २ आत्मवता—स्वाधीनमनसाम्। (रा०)

अष्टमः सर्गः

—❀—

परितुष्टस्तु सुग्रीवस्तेन वाक्येन वानरः ।
लक्ष्मणस्याग्रतो राममिदं वचनमब्रवीत् ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचनों से सन्तुष्ट हो कर, वानर सुग्रीव ने लक्ष्मण के ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र से यह कहा ॥१॥

सर्वथाऽहमनुग्राह्यो देवतानामसंशयः ।
उपपन्नगुणोपेतः सखा यस्य भवान् मम ॥२॥

जब आप जैसे सर्वगुण-सम्पन्न मेरे मित्र हो चुके, तब मैं देवताओं का भी सब प्रकार से कृपापात्र बन चुका ॥२॥

शक्यं खलु भवेद्राम सहायेन त्वयाऽनघ ।
सुरराज्यमपि प्राप्तुं स्वाराज्यं किं पुनः प्रभो ॥३॥

हे राम ! आपकी सहायता से जो मैं स्वर्ग का राज्य भी प्राप्त कर सकता हूँ । फिर इस अपने राज्य की गिनती ही क्या है ? ॥३॥

सोऽहं सभाज्यो बन्धूनां सुहृदां चैव राघव ।
यस्याग्निसाक्षिकं मित्रं लब्धं राघववंशजम् ॥४॥

हे राघव ! अब तो मैं अपने मित्र बाँधवों का पूज्य हो गया । क्योंकि मेरे अब महाराज रघु के वंश वाले अग्निसाक्षिक मित्र हुए हैं ॥४॥

अहमप्यनुरूपस्ते वयस्यो ज्ञास्यसे शनैः ।
न तु वक्तुं समर्थोऽहं स्वयमात्मगतान् गुणान् ॥५॥

किन्तु हे राघव ! मैं आपका योग्य मित्र हूँ—यह बात आपको धीरे धीरे जान पडेगी। मैं अपनी बडाई अपने मुँह से आपके सामने नहीं कर सकता ॥५॥

महात्मनां तु भूयिष्ठं[1] त्वद्विधानां कृतात्मनाम् ।
निश्चला भवति प्रीतिर्धैर्यमात्मवतां[2] सिव ॥६॥

आप जैसे महात्मा और अत्यन्त स्वाधीन पुरुषों की प्रीति और धैर्य अटल होते हैं ॥६॥

रजतं वा सुवर्णं वा वस्त्राण्याभरणानि च ।
अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः ॥७॥

जो सन्मित्र होते हैं वे अपने मित्र की सोने चाँदी की चीजें, भूषण वस्त्रादि को अपनी ही समझते हैं अर्थात् अपनी और मित्र की चीजों को एक ही सी समझते हैं । भेदभाव नहीं रखते ॥७॥

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा ।
निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमा गतिः ॥८॥

चाहे धनी हो चाहे निर्धन, चाहे दुःखी हो चाहे सुखी, चाहे निर्दोष हो चाहे सदोष—मित्र मित्र ही है ॥८॥

धनत्यागः सुखत्यागो देहत्यागोऽपि वा पुनः ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम् ॥९॥

जो लोग आपस के स्नेह ही को देखते हैं, उनके लिए अपने मित्र के पीछे धन का त्याग, सुख का त्याग अथवा देह तक का त्याग कोई बड़ी बात नहीं ॥९॥

---

१ भूयिष्ठं—अतिशयेन । (गो० २ आत्मवतां—स्वाधीनानाम् । (रा०)

तत्तथेत्यब्रवीद्रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् ।
लक्ष्मणस्याग्रतो लक्ष्म्या[1] वासवस्येव धीमतः ॥१०॥

प्रियवादी सुग्रीव के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने, इन्द्र की कान्ति की तरह कान्तिवाले धीमान् लक्ष्मण जी के सामने सुग्रीव से कहा—तुम्हारा कहना बहुत ठीक है ॥१०॥

ततो रामं स्थितं दृष्ट्वा लक्ष्मणं च महाबलम् ।
सुग्रीवः सर्वतश्चक्षुर्वने लोल[2]मपातयत् ॥११॥

तदनन्तर सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण को भूमि पर बैठा देख, पर्वत पर चारों ओर दृष्टि फैला कर निहारा ॥११॥

स ददर्श ततः सालमविदूरे हरीश्वरः ।
सुपुष्पमीषत्पत्राढ्यं भ्रमरैरुपशोभितम् ॥१२॥

सुग्रीव को पास ही साखू का एक वृक्ष देख पड़ा, जिसमें कुछ फूल और पत्ते लगे थे और जिस पर भौंरे मड़रा रहे थे ॥१२॥

तस्यैकां पर्णबहुलां भङ्क्त्वा शाखां सुपुष्पिताम् ।
सालस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः ॥१३॥

तब सुग्रीव उस वृक्ष से एक सघन पत्तों वाली और पुष्पित डाली तोड़ लाए और उसको बिछा कर, उस पर श्रीरामचन्द्र के साथ वे बैठ गए ॥१३॥

तावासीनौ ततो दृष्ट्वा हनूमानपि लक्ष्मणम् ।
सालशाखां समुत्पाट्य विनीतमुपवेशयत् ॥१४॥

---

१ लक्ष्म्या—कान्त्या । (गो०) २ लोलं—चक्षु । (गो०)

सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र को बैठे हुए देख, हनुमान जी ने लक्ष्मण जी के बैठने के लिए एक साखू की डाली तोड़ी और उसे बिछा कर उस पर विनीत भाव से लक्ष्मण जी को बिठाया ॥१४॥

सुखोपविष्टं रामं तु प्रसन्नमुदधिं यथा ।
फलपुष्पसमाकीर्णे तस्मिन् गिरिवरोत्तमे ॥१५॥

तब सुप्रसन्न मन तथा सागर की तरह गम्भीर स्वभावयुक्त श्रीराम को फल-पुष्प परिपूर्ण उस श्रेष्ठ पर्वत पर बैठा हुआ देख कर, ॥१५॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ।
उवाच प्रणयाद्रामं हर्षव्याकुलिताक्षरम् ॥१६॥

सुग्रीव हर्षित हो मधुर एवं हितकारी वचनों से, प्रेम और हर्षपूर्ण होने के कारण घबड़ाए से हो कर, श्रीरामचन्द्र से बोले ॥१६॥

अहं विनिकृतो भ्रात्रा चराम्येष भयार्दितः ।
ऋष्यमूकं गिरिवरं हृतभार्यः सुदुःखितः ॥१७॥

मैं वालि से छला जा कर, उसके डर के मारे इस ऋष्यमूक पर्वत पर मारा फिरता हूँ। मुझे अपनी स्त्री के छिन जाने का बड़ा दुःख है ॥१७॥

सोऽहं त्रस्तो भये मग्नो वसाम्युद्भ्रान्तचेतनः ।
वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ॥१८॥

सो यहाँ पर भी उस वालि के भय से मैं त्रस्त रहा करता हूँ और इसीसे मेरा जी भी ठिकाने नहीं रहता। मेरे भाई वालि ने मुझे धोखा दिया है। मेरा उसका वैर हो गया है ॥१८॥

तत्तथेत्यब्रवीद्रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् ।
लक्ष्मणस्याग्रतो लक्ष्म्या[1] वासवस्येव धीमतः ॥१०॥

प्रियवादी सुग्रीव के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने, इन्द्र की कान्ति की तरह कान्तिवाले धीमान् लक्ष्मण जी के सामने सुग्रीव से कहा—तुम्हारा कहना बहुत ठीक है ॥१०॥

ततो रामं स्थितं दृष्ट्वा लक्ष्मणं च महाबलम् ।
सुग्रीवः सर्वतश्चक्षुर्वने लोलं[2]मपातयत् ॥११॥

तदनन्तर सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण को भूमि पर बैठा देख, पर्वत पर चारों ओर दृष्टि फैला कर निहारा ॥११॥

स ददर्श ततः सालमविदूरे हरीश्वरः ।
सुपुष्पमीषत्पत्राढ्यं भ्रमरैरुपशोभितम् ॥१२॥

सुग्रीव को पास ही साखू का एक वृक्ष देख पड़ा, जिसमें कुछ फूल और पत्ते लगे थे और जिस पर भौंरे मड़रा रहे थे ॥१२॥

तस्यैकां पर्णबहुलां भङ्क्त्वा शाखां सुपुष्पिताम् ।
सालस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः ॥१३॥

तब सुग्रीव उस वृक्ष से एक सघन पत्तों वाली और पुष्पित डाली तोड़ लाए और उसको बिछा कर, उस पर श्रीरामचन्द्र के साथ वे बैठ गए ॥१३॥

तावासीनौ ततो दृष्ट्वा हनूमानपि लक्ष्मणम् ।
सालशाखां समुत्पाट्य विनीतमुपवेशयत् ॥१४॥

---

१ लक्ष्म्या—कान्त्या । (गो०) २ लोलं—चक्षु । (गो०)

सुग्रीव और श्रीरामचन्द्र को बैठे हुए देख, हनुमान जी ने लक्ष्मण जी के बैठने के लिए एक साखू की डाली तोड़ी और उसे बिछा कर उस पर विनीत भाव से लक्ष्मण जी को बिठाया ॥१४॥

सुखोपविष्टं रामं तु प्रसन्नमुदधिं यथा ।
फलपुष्पसमाकीर्णे तस्मिन् गिरिवरोत्तमे ॥१५॥

तब सुप्रसन्न मन तथा सागर की तरह गम्भीर स्वभावयुक्त श्रीराम को फल-पुष्प परिपूर्ण उस श्रेष्ठ पर्वत पर बैठा हुआ देख कर, ॥१५॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ।
उवाच प्रणयाद्रामं हर्षव्याकुलिताक्षरम् ॥१६॥

सुग्रीव हर्षित हो मधुर एवं हितकारी वचनों से, प्रेम और हर्षपूर्ण होने के कारण घबड़ाए से हो कर, श्रीरामचन्द्र से बोले ॥१६॥

अहं विनिकृतो भ्रात्रा चराम्येष भयार्दितः ।
ऋष्यमूकं गिरिवरं हृतभार्यः सुदुःखितः ॥१७॥

मैं वालि से छला जा कर, उसके डर के मारे इस ऋष्यमूक पर्वत पर मारा फिरता हूँ। मुझे अपनी स्त्री के छिन जाने का बड़ा दुःख है ॥१७॥

सोऽहं त्रस्तो भये मग्नो वसाम्युद्भ्रान्तचेतनः ।
वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ॥१८॥

सो यहाँ पर भी उस वालि के भय से मैं त्रस्त रहा करता हूँ और इसीसे मेरा जी भी ठिकाने नहीं रहता। मेरे भाई वालि ने मुझे धोखा दिया है। मेरा उसका वैर हो गया है ॥१८॥

वालिनो मे भयार्तस्य सर्वलोकाभयङ्कर ।
ममापि त्वमनाथस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥१६॥

हे सब लोकों के अभयदाता ! मैं बालि से बहुत भयभीत हूँ और मेरा रक्षक भी कोई नहीं है। अतः आप मेरे ऊपर कृपा कीजिए ॥१६॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ।
प्रत्युवाच स काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥२०॥

जब सुग्रीवजी ने ऐसा कहा, तब धर्मज्ञ धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी हँसते हुए उनसे बोले ॥२०॥

उपकारफलं मित्रमपकारोऽरिलक्षणम् ।
अद्यैव तं हनिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ॥२१॥

मनुष्य उपकार करने ही से मित्र और अपकार करने ही से शत्रु हो जाता है। मैं फिर भी कहता हूँ कि, मैं आज ही तुम्हारी भार्या को हरने वाले उस बालि को मार डालूँगा ॥२१॥

इमे हि मे महावेगाः पत्रिणस्तिग्मतेजसः ।
कार्त्तिकेयवनोद्भूताः शरा हेमविभूषिताः ॥२२॥

ये मेरे बाण बड़े वेगवान, बड़े परों वाले, तीखे, चमचमाते, और कार्तिकेय जी के वन में उत्पन्न एवं सुवर्ण भूषित हैं ॥२२॥

कङ्कपत्रप्रतिच्छन्ना महेन्द्राशनिसन्निभाः ।
सुपर्वाणः सुतीक्ष्णाग्राः सरोषा इव पन्नगाः ॥२३॥

ये कङ्क पत्रों से सुशोभित, इन्द्र के वज्र के समान, अच्छे पर्वों (पोरुओं) वाले, तीखे फलकों से युक्त और क्रुद्ध सर्प की तरह

भ्रातृसंज्ञममित्रं ते वालिनं कृतकिल्बिषम् ।
शरैर्विनिहतं पश्य विकीर्णमिव पर्वतम् ॥२४॥

इन बाणों से मैं तुम्हारे शत्रु रूपी भाई और पापी वालि-को मारूँगा। तुम उसे भूमि पर पर्वत की तरह गिरा देखोगे ॥२४॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाहिनीपतिः ।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥२५॥

वाहिनीपति सुग्रीव, श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन अत्यन्त हर्षित हो "साधु साधु" कह, श्रीरामचन्द्र जी की बड़ाई करने लगे ॥२५॥

राम शोकाभिभूतोऽहं शोकार्तानां भवान् गतिः ।
वयस्य इति कृत्वा हि त्वय्यहं परिदेवये ॥२६॥

हे राम! मैं शोक से विकल हो रहा हूँ और आप शोक से पीड़ित पुरुषों की गति हैं। सो मैं आपको अपना मित्र समझ आपके सामने अपना दुःख प्रकट कर रहा हूँ ॥२६॥

त्वं हि पाणिप्रदानेन वयस्यो मेऽग्निसाक्षिकम् ।
कृतः प्राणैर्बहुमतः सत्येनापि शपामि ते ॥२७॥

आपने अपने हाथ से मेरा हाथ पकड़ अग्नि के सामने मुझे अपना मित्र बनाया है। मैं सत्य सत्य शपथ पूर्वक कहता हूँ कि, आप मुझे निज प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं ॥२७॥

वयस्य इति कृत्वा च विस्रब्धं प्रवदाम्यहम् ।
दुःखमन्तर्गतं यन्मे मनो हरति नित्यशः ॥२८॥

आपको अपना मित्र समझ और आप पर विश्वास कर मैं अपना समस्त वृत्तान्त आपके सामने प्रकट करता हूँ। हे राम! मेरे मन के भीतर का यह दुःख मुझे सदा बहुत सताया करता है ॥२८॥

एतावदुक्त्वा वचनं बाष्पदूषितलोचनः ।
बाष्पोपहतया वाचा नोच्चैः शक्नोति भाषितुम् ॥२६॥

इस प्रकार कहते कहते सुग्रीव की आँखों से आँसू बहने लगे और गला भर आया और गला भर आने से वह उच्चस्वर से न बोल सके ॥२६॥

बाष्पवेगं तु सहसा नदीवेगमिवागतम् ।
धारयामास धैर्येण सुग्रीवो रामसन्निधौ ॥३०॥
स निगृह्य तु तं बाष्पं प्रमृज्य नयने शुभे ।
विनिःश्वस्य च तेजस्वी राघवं पुनरब्रवीत् ॥३१॥

वानरराज सुग्रीव ने नदी के वेग की तरह बहते हुए आँसुओं के वेग को धैर्य धारण कर रोका। फिर आँसू पोंछ और ठंडी साँस ले, श्रीराम को अपनी विपत्कथा कह सुनाई ॥३०॥३१॥

पुराहं वालिना राम राज्यात्स्वादवरोपितः ।
परुषाणि च संश्राव्य निर्धूतोऽस्मि बलीयसा ॥३२॥
हृता भार्या च मे तेन प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
सुहृदश्च मदीया ये संयता बन्धनेषु ते ॥३३॥

हे राम! पहले बलवान् वालि ने मुझको राजसिंहासन से उतार और कठोर वचन कह, धिक्कारा और बरजोरी घर से निकाल

दिआ। फिर मेरी प्राणों से भी अधिक प्यारी भार्या को छीन लिआ और जो मेरे हितैषी मित्र थे, उनको पकड़ कर बन्दी बना लिआ ॥३३॥

यत्नवांश्च सुदुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव ।
बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया ॥३४॥

हे! राघव वह दुष्ट मेरा नाश करने के लिए कई बार यत्न कर चुका है। किन्तु अभी तक उसने मुझे मारने को जितने बन्दर भेजे वे सब मेरे हाथ से मारे गए ॥३४॥

शङ्कया त्वेतया चेह दृष्ट्वा त्वामपि राघव ।
नोपसर्पाम्यहं भीतो भये सर्वे हि बिभ्यति ॥३५॥

हे राघव! इसी शङ्का के कारण मैं आपको देख आपके पास नहीं आया। मैं बालि से बहुत डरा हुआ हूँ और भय से सब भयभीत होते ही हैं ॥३५॥

केवलं हि सहाया मे हनूमत्प्रमुखास्त्विमे ।
अतोऽहं धारयाम्यद्य प्राणानकृच्छ्रगतोऽपि सन् ॥३६॥

ये केवल हनुमानादि वानर मेरे सहायक हैं। इसीसे अत्यन्त क्लेश भोगता हुआ भी मैं जीवित हूँ ॥३६॥

एते हि कपयः स्निग्धा मां रक्षन्ति समन्ततः ।
सह गच्छन्ति गन्तव्ये नित्यं तिष्ठन्ति च स्थिते ॥३७॥

ये वानर मेरे बड़े स्नेही हैं और मेरी सब प्रकार से रक्षा किआ करते हैं। जहाँ कहीं मैं जाता हूँ वहाँ ही ये मेरे साथ जाते हैं और जहाँ कहीं मैं रहता हूँ वहाँ ही ये मेरे साथ रहते हैं। सारांश यह कि, ये सदा मेरे साथ रहते हैं ॥३७॥

संक्षेपस्त्वेष ते राम किमुक्त्वा विस्तरं हि ते ।
स मे ज्येष्ठो रिपुर्भ्राता वाली विश्रुतपौरुषः ॥३८॥

हे राम! विस्तार करने से क्या, मैंने अपना सब वृत्तान्त संक्षेप से कह दिया। मेरा ज्येष्ठ भ्राता वालि मेरा बैरी है और एक प्रसिद्ध पराक्रमी वानर है ॥३८॥

तद्विनाशाद्धि मे दुःखं प्रनष्टं स्यादनन्तरम् ।
सुखं मे जीवितं चैव तद्विनाशनिबन्धनम् ॥३९॥

उसके नाश होने ही से मेरे दुःख का भी नाश होगा। उसके मारे जाने ही से मेरे सुखी होने और जीवित रहने की भी सम्भावना हो सकती है ॥३९॥

एष मे राम शोकान्तः शोकार्तेन निवेदितः ।
दुःखितः सुखितो वाऽपि सख्युर्नित्यं सखा गतिः ॥४०॥

मैंने शोकार्त्त हो कर जो अपने शोक के नाश का उपाय बतलाया है, बस इसीसे मेरा दुःख दूर हो सकता है। मित्र दुःखी हो अथवा सुखी, मित्र के लिए मित्र ही एकमात्र सहारा है ॥४०॥

श्रुत्वैतद्वचनं रामः सुग्रीवमिदमब्रवीत् ।
किंनिमित्तमभूद्वैरं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥४१॥

सुग्रीव के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र ने उनसे यह कहा—वालि के साथ तुम्हारी शत्रुता किस लिए हुई, सो मैं ठीक ठीक सुनना चाहता हूँ ॥४१॥

अहं हि कारणं श्रुत्वा वैरस्य तव वानर ।
आनन्तर्यं विधास्यामि सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥४२॥

मैं पहले तुम्हारे दोनों की पारस्परिक शत्रुता का कारण सुन चुकने पर बलाबल का विचार कर, तुम्हें सुखी करने का विधान करूँगा ॥४२॥

बलवान् हि ममामर्षः श्रुत्वा त्वामवमानितम् ।
वर्धते हृदयोत्कम्पी प्रावृड्वेग इवाम्भसः ॥४३॥

हे सुग्रीव! तुम्हारे अपमान की बात सुन, मेरा क्रोध, हृदय-कम्पनकारी वर्षाकालीन जल की तरह बढ़ता जाता है ॥४३॥

हृष्टः कथय विस्रब्धो यावदारोप्यते धनुः ।
सृष्टश्चेद्धि मया बाणो निरस्तश्च रिपुस्तव ॥४४॥

तुम प्रसन्न मन मुझ पर विश्वास कर, अपना हाल कहो। इतने में मैं अपने धनुष पर रोदा चढ़ाता हूँ। तुम यह बात पक्की जान लेना कि, मैंने बाण छोड़ा कि, तुम्हारा वैरी मरा ॥४४॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः काकुत्स्थेन महात्मना ।
प्रहर्षमतुलं लेभे चतुर्भिः सह वानरैः ॥४५॥

जब महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार सुग्रीव से कहा, तब सुग्रीव अपने चारों सहचर वानरों सहित अतुलित हर्ष को प्राप्त हुए ॥४५॥

ततः प्रहृष्टवदनः सुग्रीवो लक्ष्मणाग्रजे ।
वैरस्य कारणं तत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥४६॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

तदनन्तर सुग्रीव ने प्रसन्न हो श्रीरामचन्द्र जी से वालि से वैर बँधने का कारण कहना आरम्भ किया ॥४६॥

किष्किन्धाकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

नवमः सर्गः

—❀—

श्रूयतां राम यद्वृत्तमादितः प्रभृति त्वया ।
यथा वैरं समुद्भूतं यथा चाहं निराकृतः ॥१॥

हे राम ! जिस प्रकार वालि से मेरा वैर हुआ और जिस प्रकार मैं घर से निकाला गया—सो मैं आदि से कहता हूँ । आप सुनिये ॥१॥

वाली नाम, मम भ्राता ज्येष्ठः शत्रुनिषूदनः ।
पितुर्बहुमतो नित्यं ममापि च तथा पुरा ॥२॥

शत्रुओं का नाश करने वाले मेरे बड़े भाई वालि को हमारे पिता बहुत मानते थे और बैर होने के पूर्व, मैं भी उसे बहुत मानता था ॥२॥

पितर्युपरतेऽस्माकं ज्येष्ठोऽयमिति मन्त्रिभिः ।
कपीनामीश्वरो राज्ये कृतः परमसम्मतः ॥३॥

कुछ दिनों बाद जब पिता जी का देहान्त हुआ, तब वालि को, जेठा समझ, मन्त्रियों ने उसे राजसिंहासन पर बैठाया ॥३॥

राज्यं प्रशासतस्तस्य पितृपैतामहं महत् ।
अहं सर्वेषु कालेषु प्रणतः प्रेष्यवत्स्थितः ॥४॥

वालि पिता पितामहादिकों के विस्तृत राज्य का शासन करने लगा । मैं उसके पास दास की तरह विनीतभाव से रहने लगा ॥४॥

मायावी नाम तेजस्वी पूर्वजो[1] दुन्दुभेः सुतः ।
तेन तस्य महद्वैरं स्त्रीकृतं विश्रुतं पुरा ॥५॥

कुछ समय बीतने पर दुन्दुभी के ज्येष्ठ एवं तेजस्वी पुत्र के साथ किसी स्त्री के पीछे, वालि की शत्रुता हो गई ॥५॥

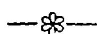
स तु सुप्तजने रात्रौ किष्किन्धाद्वारमागतः ।
नर्दति स्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद्रणे ॥६॥

एक बार रात्रि में, जबकि सब लोग सो रहे थे, वह दानव किष्किन्धा नगरी के बहिर्द्वार पर आ, बड़े ज़ोर से चिल्लाया और युद्ध के लिए वालि को ललकारा ॥६॥

प्रसुप्तस्तु मम भ्राता नर्दितं भैरवस्वनम् ।
श्रुत्वा न ममृषे वाली निष्पपात जवात्तदा ॥७॥
स तु वै निःसृतः क्रोधात्तं हन्तुमसुरोत्तमम् ।
वार्यमाणस्ततः स्त्रीभिर्मया च प्रणतात्मना ॥८॥
स तु निर्धूय सर्वान्नो निर्जगाम महाबलः ।
ततोऽहमपि सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह ॥९॥

उस समय सोता हुआ मेरा भाई वालि उसके उस भयङ्कर गर्जन को सुन, जाग उठा और उसके उस गर्जन को न सह कर तथा क्रोध में भर, बड़ी तेज़ी से उसे मारने को घर से निकला। यद्यपि वालि की स्त्रियों ने और मैंने भी विनम्र भाव से उसको बहुत रोका, तथापि वह महाबली किसी का कहना न मान, घर से निकल ही गया। उस समय भ्रातृ-स्नेह के वशवर्त्ती हो, मैं भी उसके साथ हो लिया ॥७॥८॥९॥

नवमः सर्गः



श्रूयतां राम यद्वृत्तमादितः प्रभृति त्वया ।
यथा वैरं समुद्भूतं यथा चाहं निराकृतः ॥१॥

हे राम ! जिस प्रकार वालि से मेरा वैर हुआ और जिस प्रकार मैं घर से निकाला गया—सो मैं आदि से कहता हूँ । आप सुनिये ॥१॥

वाली नाम, मम भ्राता ज्येष्ठः शत्रुनिषूदनः ।
पितुर्बहुमतो नित्यं ममापि च तथा पुरा ॥२॥

शत्रुओं का नाश करने वाले मेरे बड़े भाई वालि को हमारे पिता बहुत मानते थे और वैर होने के पूर्व, मैं भी उसे बहुत मानता था ॥२॥

पितर्युपरतेऽस्माकं ज्येष्ठोऽयमिति मन्त्रिभिः ।
कपीनामीश्वरो राज्ये कृतः परमसम्मतः ॥३॥

कुछ दिनों बाद जब पिता जी का देहान्त हुआ, तब वालि को, जेठा समझ, मन्त्रियों ने उसे राजसिंहासन पर बैठाया ॥३॥

राज्यं प्रशासतस्तस्य पितृपैतामहं महत् ।
अहं सर्वेषु कालेषु प्रणतः प्रेष्यवत्स्थितः ॥४॥

वालि पिता पितामहादिकों के विस्तृत राज्य का शासन करने लगा । मैं उसके पास दास की तरह विनीतभाव से रहने लगा ॥४॥

मायावी नाम तेजस्वी पूर्वजो[1] दुन्दुभेः सुतः ।
तेन तस्य महद्वैरं स्त्रीकृतं विश्रुतं पुरा ॥५॥

कुछ समय बीतने पर दुन्दुभी के ज्येष्ठ एवं तेजस्वी पुत्र के साथ किसी स्त्री के पीछे, वालि की शत्रुता हो गई ॥५॥

स तु सुप्तजने रात्रौ किष्किन्धाद्वारमागतः ।
नर्दति स्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद्रणे ॥६॥

एक बार रात्रि में, जबकि सब लोग सो रहे थे, वह दानव किष्किन्धा नगरी के बहिर्द्वार पर आ, बड़े जोर से चिल्लाया और युद्ध के लिए वालि को ललकारा ॥६॥

प्रसुप्तस्तु मम भ्राता नर्दितं भैरवस्वनम् ।
श्रुत्वा न ममृषे वाली निष्पपात जवात्तदा ॥७॥
स तु वै निःसृतः क्रोधात्तं हन्तुमसुरोत्तमम् ।
वार्यमाणस्ततः स्त्रीभिर्मया च प्रणतात्मना ॥८॥
स तु निर्धूय सर्वान्नो निर्जगाम महाबलः ।
ततोऽहमपि सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह ॥९॥

उस समय सोता हुआ मेरा भाई वालि उसके उस भयङ्कर गर्जन को सुन, जाग उठा और उसके उस तर्जन को न सह कर तथा क्रोध में भर, बड़ी तेजी से उसे मारने को घर से निकला। यद्यपि वालि की स्त्रियों ने और मैंने भी विनम्र भाव से उसको बहुत रोका तथापि वह महाबली किसी का कहना न मान, घर से निकल ही गया। उस समय भ्रातृस्नेह के वशवर्त्ती हो, मैं भी उसके साथ हो लिया ॥७॥८॥९॥

---

१ पूर्वज:—अग्रजः । (गो०)

स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां च दूरादवस्थितम् ।
असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव ततो भृशम् ॥१०॥

तदनन्तर वह असुर, मेरे भाई को तथा दूर पर मुझको देख, डर गया और डर कर बड़ी तेज़ी से भागा ॥१०॥

तस्मिन् द्रवति संत्रस्ते ह्यावां द्रुततरं गतौ ।
प्रकाशश्च कृतो मार्गश्चन्द्रेणोद्गच्छता तदा ॥११॥

जब वह हम लोगों से डर कर बड़ी तेज़ी से भागा, तब हम दोनों भाई भी बड़ी तेज़ी से उनके पीछे दौड़े। क्योंकि चन्द्रमा के उदय होने से उस समय चादनी छिटकी हुई थी ॥११॥

स तृणैरावृतं दुर्गं धरण्या विवरं महत् ।
प्रविवेशासुरो वेगादावामासाद्य विष्ठितौ ॥१२॥

भागते भागते वह असुर, पृथिवी के एक बड़े दुर्गम बिल में, जिसका मुख घास फूँस से ढका हुआ था, बड़ी तेज़ी से घुस गया। हम दोनों भाई, उस बिल के द्वार पर पहुँच कर, रुक गए। ॥१२॥

तं प्रविष्टं रिपुं दृष्ट्वा बिलं रोषवशं गतः ।
मामुवाच तदा वाली वचनं क्षुभितेन्द्रियः ॥१३॥

अपने वैरी को गुफा में घुसा हुआ देख, मेरा भाई वालि बहुत क्रुद्ध हुआ और क्षुब्ध हो मुझसे बोला ॥१३॥

इह त्वं तिष्ठ सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः ।
यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि सहसा रिपुम् ॥१४॥

हे सुग्रीव ! जब तक मैं इस शत्रु को मार कर न लौटूँ, तब तक यहीं पर खड़े रहना ॥१४॥

मया त्वेतद्वचः श्रुत्वा याचितः स परन्तपः ।
शापयित्वा च मां पद्भ्यां प्रविवेश बिलं महत् ॥१५॥

वालि का यह वचन सुन, मैंने उसके साथ उस गुफा में जाने की प्रार्थना की, किन्तु वालि ने मुझे अपने चरणों की शपथ दे कर, अकेले ही उस बड़ी गुफा मे प्रवेश किया ॥१५॥

तस्य प्रविष्टस्य बिलं साग्रः[1] संवत्सरो गतः ।
स्थितस्य च मम द्वारि स कालोऽप्यत्यवर्तत ॥१६॥

अहं तु नष्टं तं ज्ञात्वा स्नेहादागतसम्भ्रमः ।
भ्रातरं तु न पश्यामि पापाशङ्कि च मे मनः ॥१७॥

जब वालि को उस गुफा मे घुसे एक वर्ष से ऊपर बीत गया, तब तो मैंने वालि को मरा समझा और स्नेह से मैं विकल हो गया। भाई को न देखने से मेरे मन मे अनिष्ट की शङ्का उत्पन्न हुई ॥१६॥१७॥

अथ दीर्घस्य कालस्य बिलात्तस्माद्विनिःसृतम् ।
सफेनं रुधिरं रक्तमहं दृष्ट्वा सुदुःखितः ॥१८॥

इस पर भी मैं वहाँ खड़ा ही रहा। बहुत दिनों बाद उस गुफा से फेनसहित रुधिर निकला। उसे देख, मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥१८॥

नर्दतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः ।
निरस्तस्य च संग्रामे क्रोशतो निःस्वनो गुरोः ॥१९॥

तब युद्ध में निरत और गर्जते हुए असुरों का घोर शब्द मुझको सुनाई पड़ा ॥१९॥

---

१ साग्रः—सम्पूर्णः । (गो०)

न प्रावर्तत मे बुद्धिर्भ्रातृगौरवयन्त्रिता ।
हत्वा शत्रुं स मे भ्राता प्रविवेश पुरं तदा ॥२५॥

तथापि भाई के बड़प्पन का विचार कर, मैंने वैसा न किया। जब मेरे उस भाई ने अपने वैरी को मार, नगर में प्रवेश किया ॥२५॥

मानयंस्तं महात्मानं यथावच्चाभ्यवादयम् ।
उक्ताश्च नाशिषस्तेन सन्तुष्टेनान्तरात्मना ॥२६॥

तब मैंने उसका सम्मान करने के लिए उसे प्रणाम किया। किन्तु उसने न तो मुझे आशीर्वाद दिया और न वह मुझ पर प्रसन्न ही हुआ ॥२६॥

नत्वा पादावहं तस्य मुकुटेनास्पृशं प्रभो ।
कृताञ्जलिरुपागम्य स्थितोऽहं तस्य पार्श्वतः ।
अपि वाली मम क्रोधान्न प्रसादं चकार सः ॥२७॥

॥ इति नवमः सर्गः ॥

हे प्रभो ! मैंने बारबार मुकुटसहित अपना सीस उसके चरणों में रख उसे प्रणाम किया और हाथ जोड़े मैं उसकी बग़ल में खड़ा रहा, किन्तु वह मेरे ऊपर प्रसन्न न हुआ ॥२७॥

किष्किन्धाकाण्ड का नवां सर्ग पूरा हुआ।

---

* श्लोक का यह अंश किसी किसी संस्करण में नहीं पाया जाता।

अहं त्ववगतो बुद्ध्या चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम् ।
पिधाय च बिलद्वारं शिलया गिरिमात्रया ॥२०॥

तब तो मैंने इन लक्षणों से वालि को मरा हुआ जान, एक बड़ी भारी शिला ले कर, उस गुफा का द्वार बंद कर दिया ॥२०॥

शोकार्तश्चोदकं कृत्वा किष्किन्धामागतः सखे ।
गूहमानस्य मे तत्त्वं यत्नतो मन्त्रिभिः श्रुतम् ॥२१॥

हे मित्र ! फिर शोकार्त्त हो और भाई को जलाञ्जलि दे, मैं किष्किन्धा मे आया । यद्यपि मैंने वालि के मरने की बात यत्न पूर्वक छिपाई, तथापि मन्त्रियों को मालूम ही हो गई ॥२१॥

ततोऽहं तैः समागम्य सम्मतैरभिषेचितः ।
राज्यं प्रशासतस्तस्य न्यायतो मम राघव ॥२२॥

हे राघव ! तदनन्तर उन सब मन्त्रियों ने मिल कर, मेरा राज्याभिषेक कर दिआ । तब मैं न्यायपूर्वक राज्य करने लगा ॥२२॥

आजगाम रिपुं हत्वा वाली तमसुरोत्तमम् ।
अभिषिक्तं तु मां दृष्ट्वा वाली संरक्तलोचनः ॥२३॥

इतने मे अपने शत्रु उस महाअसुर को मार, वालि लौट आया । मुझको राजसिंहासन पर बैठा देख, मारे क्रोध के उसकी आँखें लाल हो गईं ॥२३॥

मदीयान् मन्त्रिणो बद्ध्वा परुषं वाक्यमब्रवीत् ।
निग्रहेऽपि समर्थस्य तं पापं प्रति राघव ॥२४॥

उसने मेरे मन्त्रियों को पकड़ उनसे बड़े कठोर शब्द कहे । हे राघव ! यद्यपि उस समय मुझमे यह शक्ति थी कि, मैं उस पापिष्ट वालि का निग्रह करता, ॥२४॥

न प्रावर्तत मे बुद्धिर्भ्रातुर्गौरवयन्त्रिता ।
हत्वा शत्रुं स मे भ्राता प्रविवेश पुरं तदा ॥२५॥

तथापि भाई के बड़प्पन का विचार कर, मैंने वैसा न किया। जब मेरे उस भाई ने अपने वैरी को मार, नगर में प्रवेश किया ॥२५॥

मानयंस्तं महात्मानं यथावच्चाभ्यवादयम् ।
उक्ताश्च नाशिषस्तेन सन्तुष्टेनान्तरात्मना ॥२६॥

तब मैंने उसका सम्मान करने के लिए उसे प्रणाम किया। किन्तु उसने न तो मुझे आशीर्वाद दिया और न वह मुझ पर प्रसन्न ही हुआ ॥२६॥

नत्वा पादावहं तस्य मुकुटेनास्पृशं प्रभो ।
कृताञ्जलिरुपागम्य स्थितोऽहं तस्य पार्श्वतः ।
अपि वाली मम क्रोधान्न प्रसादं चकार सः ॥२७॥

॥ इति नवमः सर्गः ॥

हे प्रभो ! मैंने बारबार मुकुटसहित अपना सीस उसके चरणों में रख उसे प्रणाम किया और हाथ जोड़े मैं उसकी बगल में खड़ा रहा, किन्तु वह मेरे ऊपर प्रसन्न न हुआ ॥२७॥

किष्किन्धाकाण्ड का नवाँ सर्ग पूरा हुआ।

---

* श्लोक का यह अंश किसी किसी संस्करण में नहीं पाया जाता।

दशमः सर्गः

—❀—

ततः क्रोधसमाविष्टं संरब्धं तमुपागतम् ।
अहं प्रसादयाञ्चक्रे भ्रातरं हितकाम्यया ॥१॥

तब मैं उसकी हितकामना से, उसको क्रोध में भरा देख, उसे प्रसन्न करने लगा ॥१॥

दिष्ट्याऽसि कुशली प्राप्तो दिष्ट्यापि निहतो रिपुः ।
अनाथस्य हि मे नाथस्त्वमेकोऽनाथनन्दनः ॥२॥

मैंने कहा—यह बड़े भाग्य की बात है कि, आप शत्रु को मार कर सकुशल लौट आए। मुझ अनाथ के एक आपही नाथ हैं और अनाथों को हर्षित करने वाले हैं ॥२॥

इदं बहुशलाकं ते पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ।
छत्रं सवालव्यजनं प्रतीच्छस्व मयोद्यतम् ॥३॥

अब आप अपना यह बहुतसी कीलियों वाला और पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह सफेद छत्र और चवर, जिसे मैंने धारण किआ था—लीजिए ॥३॥

आर्तश्चाथ बिलद्वारि स्थितः संवत्सरं नृप ।
दृष्ट्वाहं शोणितं द्वारि बिलाच्चापि समुत्थितम् ॥४॥

हे राजन्! मैं उस गुफा के द्वार पर आर्त्त हो, एक वर्ष तक खड़ा रहा। पीछे से उस बिल से एक बड़ी भारी रुधिर की धार निकली ॥४॥

शोकसंविग्नहृदयो भृशं व्याकुलितेन्द्रियः ।
अपिधाय बिलद्वारं गिरिशृङ्गेण तत्तथा ॥५॥

तब तो मैं शोकाकुल और अत्यन्त विकल हुआ और एक बड़ी शिला से गुफा का द्वार बंद कर दिया ।५॥

तस्माद्देशादपाक्रम्य किष्किन्धां प्राविशं पुनः ।
विषादात्त्विह मां दृष्ट्वा पौरैर्मन्त्रिभिरेव च ॥६॥

अभिषिक्तो न कामेन तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ।
त्वमेव राजा मानार्हः सदा चाहं यथापुरम् ॥७॥

तदनन्तर वहाँ से पुन. किष्किन्धा में आया । मन्त्रियों और पुरवासियों ने मुझे दु.खी देख—मेरी इच्छा न रहते भी मुझे राजसिंहासन पर बिठा दिया । सो आप इसको क्षमा करें । आप ही सम्मान पाने योग्य राजा हैं । मैं पहले आपका जैसा सेवक था वैसा ही मैं सदा रहूंगा ॥६॥७॥

राजभावनियोगोऽयं मया त्वद्विरहात्कृतः ।
सामात्यपौरनगरं स्थितं निहतकण्टकम् ॥८॥

आपके न रहने ही से मुझे लोगों ने राजसिंहासन पर बिठा दिया था । आप मन्त्रियों और पुरवासियों सहित जैसा निरुपद्रव इस नगर को छोड़ गए थे, यह वैसा ही बना हुआ है ॥८॥

न्यासभूतमिदं राज्यं तव निर्यातयाम्यहम् ।
मा च रोषं कृथाः सौम्य मयि शत्रुनिबर्हण ॥९॥

अभी तक आपका यह राज्य मेरे पास धरोहर की तरह रखा था, उसे मैं आपको लौटाये देता हूं । हे शत्रुसूदन ! मेरे ऊपर आप क्रुद्ध न हों ।९॥

याचे त्वां शिरसा राजन् मया बद्धोऽयमञ्जलिः ।
बलादस्मि समागम्य मन्त्रिभिः पुरवासिभिः ॥१०॥

राजभावे नियुक्तोऽहं शून्यदेशजिगीषया ।
स्निग्धमेवं ब्रुवाणं मां स तु निर्भर्त्स्य वानरः ॥११॥

धिक्त्वामिति च मामुक्त्वा बहु तत्तदुवाच ह ।
प्रकृतीश्च समानीय मन्त्रिणश्चैव सम्मतान् ॥१२॥

हे राजन्! मैं अपना माथा नवा और हाथ जोड़, आपसे यही माँगता हूँ। मंत्रियों और पुरवासियों ने मुझे बरजोरी इस लिए राजसिंहासन पर बिठा दिया था कि, कहीं सूना राज्य देख, कोई वैरी इसे न दाब ले। मैं विनम्र भाव से जब इस प्रकार कह रहा था, तब वाली ने मुझे बहुत धिक्कारा। फिर प्रजाजनों और मंत्रियों को एकत्र कर, ॥१०॥११॥१२॥

मामाह सुहृदां मध्ये वाक्यं परमगर्हितम् ।
विदितं वो यथा रात्रौ मायावी स महासुरः ॥१३॥

मां समाह्वयत क्रूरो युद्धाकाङ्क्षी सुदुर्मतिः ।
तस्य तद्गर्जितं श्रुत्वा निःसृतोऽहं नृपालयात् ॥१४॥

और मेरे मित्रों के बीच मुझसे उसने बड़ी बुरी बुरी बातें कहीं। उसने कहा तुम लोग यह तो जानते ही हो कि, उस नृशंस मायावी महासुर ने मुझे रात को युद्ध के लिये ललकारा था। उसकी आवाज सुन, मैं तुरन्त राजभवन से निकला ॥१३॥१४॥

अनुयातश्च मां तूर्णमयं भ्राता सुदारुणः ।
स तु दृष्ट्वैव मां रात्रौ सद्वितीयं महाबलः ॥१५॥

प्राद्रवद्भयसंत्रस्तो वीक्ष्यावां तमनुद्रुतौ ।
अनुद्रुतश्च वेगेन प्रविवेश महाबिलम् ॥१६॥

और मेरे पीछे पीछे मेरा यह कठोर हृदय भाई भी हो लिया। उस रात में, हम दोनों जनों को देख, वह महाबली असुर भयभीत हो, भागा। जब हमने भी उसका पीछा किया, तब वह बड़ी तेजी से भाग कर, एक बड़ी गुफा में घुस गया ॥१५॥१६॥

तं प्रविष्टं विदित्वा तु सुघोरं सुमहद्बिलम् ।
अयमुक्तोऽथ मे भ्राता मया तु क्रूरदर्शनः ॥१७॥

उस बहुत बड़ी और भयङ्कर गुफा में उसको घुसा हुआ जान, मैंने अपने इस क्रूरदर्शन भाई से कहा ॥१७॥

अहत्वा नास्ति मे शक्तिः प्रतिगन्तुमितः पुरीम् ।
बिलद्वारि प्रतीक्ष त्वं यावदेनं निहन्म्यहम् ॥१८॥

मैं इसे मारे बिना पुरी में नहीं जा सकता। सो जब तक मैं इसको मार कर लौटूँ, तब तक तुम इस गुफा के द्वार पर रह कर, मेरी प्रतीक्षा करना ॥१८॥

स्थितोऽयमिति मत्वा तु प्रविष्टोऽहं दुरासदम् ।
तं च मे मार्गमाणस्य गतः संवत्सरस्तदा ॥१९॥

मैं यह जान कर कि, मेरा भाई तो द्वार पर मौजूद ही है, उस दुर्गम गुफा में घुस गया। वहाँ जा कर उस दानव के ढूँढने ही में एक साल लगा ॥१९॥

स तु दृष्टो मया शत्रुरनिर्वेदाद्[1]भयावहः ।
निहतश्च मया तत्र सोऽसुरो बन्धुभिः सह ॥२०॥

१ अनिर्वेदात्—उत्साहात् (गो.)

वह भयावह शत्रु बिना प्रयास ही मुझे देख पड़ा। मैंने सपरिवार उसको मार डाला ॥२०॥

तस्यास्यात्तु प्रवृत्तेन रुधिरौघेण तद्बिलम् ।
पूर्णमासीद्दुराक्रामं स्तनतस्तस्य[1] भूतले[2] ॥२१॥

वध करने के समय वह ऐसा चिल्लाया कि उसकी उस चिल्लाहट से तथा उसके शरीर से निकले हुए रक्त से वह गुफा भर गयी ॥२१॥

सूदयित्वा तु तं शत्रुं विक्रान्तं तं महासुरम् ।
निष्क्रामन्नैव पश्यामि बिलस्यापिहितं मुखम् ॥२२॥

उस महापराक्रमी महासुर को मार, जब मैं वहाँ से बाहिर आने लगा तब देखा कि, गुफा का द्वार बंद पड़ा है ॥२२॥

विक्रोशमानस्य तु मे सुग्रीवेति पुनः पुनः ।
यदा प्रतिवचो नास्ति ततोऽहं भृशदुःखितः ॥२३॥

तब मैंने सुग्रीव ! सुग्रीव ! कह कर, बार बार पुकारा। किन्तु जब मुझे किसी ने उत्तर न दिया, तब मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥२३॥

पादप्रहारैस्तु मया बहुभिस्तद्विदारितम् ।
ततोऽहं तेन निष्क्रम्य पथा पुरमुपागतः ॥२४॥

अन्त में मैंने लातों से उस पत्थर को तोड़ डाला और उस मार्ग से निकल कर, मैं नगर मे आया ॥२४॥

अत्रानेनास्मि संरुद्धो राज्यं प्रार्थयताऽऽत्मनः ।
सुग्रीवेण नृशंसेन विस्मृत्य भ्रातृसौहृदम् ॥२५॥

---

१ स्तनतः—गर्जतः । (गो०) २ भूतले—भूविवरे । (गो०)

इस क्रूर सुग्रीव ने भ्रातृस्नेह को भुला कर, राज्य पाने के लोभ से मुझे गुफा मे बन्द कर दिया था ॥२५॥

एवमुक्त्वा तु मां तत्र वस्त्रेणैकेन वानरः ।
तदा निर्वासयामास वाली विगतसाध्वसः ॥२६॥

साधुपन को त्याग, वालि ने यह कह और एक वस्त्र पहिना कर, मुझे निकाल दिया ॥२६॥

तेनाहमपविद्धश्च हृतदारश्च राघव ।
तद्भयाच्च मही कृत्स्ना क्रान्तेयं सवनार्णवा ॥२७॥

हे राघव ! मेरी स्त्री को भी इसने छीन लिया । तब से मैं उसके भय से त्रस्त हो वनों और समुद्रों सहित सारी पृथिवी पर घूमता रहा ॥२७॥

ऋश्यमूकं गिरिवरं भार्याहरणदुःखितः ।
प्रविष्टोऽस्मि दुराधर्षं वालिनः कारणान्तरे ॥२८॥

अपनी स्त्री के छिन जाने के दुःख से दुःखी हो, मैं इस ऋश्यमूक पर्वत पर चला आया । क्योंकि, कारणान्तर से वालि इस पर्वत पर नहीं आ सकता ॥२८॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं वैरानुकथनं महत् ।
अनागसा मया प्राप्तं व्यसनं पश्य राघव ॥२९॥

वालि से महावैर बंधने का जो कारण था, वह आपको सुनाया । हे राम देखिये, मैं निरपराध होने पर भी, महादुःख भोग रहा हूँ ॥२९॥

वालिनस्तु भयार्तस्य सर्वलोकाभयङ्कर ।
कर्तुमर्हसि मे वीर प्रसादं तस्य निग्रहात् ॥३०॥

हे राम ! आप सब लोकों के भय दूर करने वाले हैं। अ
वालि को दण्ड दे कर मुझे भी उसके भय से छुड़ाइये ॥३०॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मसंहितम् ।
वचनं वक्तुमारेभे सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥३१॥

तेजस्वी एवं धर्मात्मा श्रीराम जी सुग्रीव के यह धर्मसा
वचन सुन और मुसकरा कर, उससे कहने लगे ॥३१॥

अमोघाः सूर्यसङ्काशा ममैते निशिताः शराः ।
तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः ॥३२॥

हे सुग्रीव ! मेरे ये तीखे और सूर्य की तरह चमचमाते अचू
बाण उस दुराचारी वालि के ऊपर बड़ी तेजी के साथ गिरेंगे ॥३२॥

यावत्तं नाभिपश्यामि तव भार्यापहारिणम् ।
तावत्स जीवेत्पापात्मा वाली चारित्रदूषकः ॥३३॥

जब तक मैं तुम्हारी स्त्री को छीनने वाले वालि को नहीं देख
पाता, तभी तक उस कुचरित्र और पापाचारी को जीवित
समझो ॥३३॥

आत्मानुमानात्पश्यामि मग्नं त्वां शोकसागरे ।
त्वामहं तारयिष्यामि कामं प्राप्स्यसि पुष्कलम् ॥३४॥

मैं अपने ऊपर से जानता हूँ कि, तुम भी शोकसागर में निमग्न
हो रहे हो, किन्तु तुम्हारा उद्धार करूँगा और तुमको बड़ा लाभ
होगा ॥३४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्यात्मनो हितम् ।
सुग्रीवः परमप्रीतः सुमहद्वाक्यमब्रवीत् ॥३५॥

इति दशमः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के हर्ष और पौरुष बढ़ाने वाले वचनों को सुन कर, सुग्रीव बहुत प्रसन्न हुए और बड़े अर्थगर्भित वचन बोले ॥३५॥

किष्किन्धाकाण्ड का दसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

एकादशः सर्गः

—※—

रामस्य वचनं श्रुत्वा हर्षपौरुषवर्धनम् ।
सुग्रीवः [1]पूजयांचक्रे राघवं प्रशशंस च ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के हर्ष और पुरुषार्थ बढ़ाने वाले वचन सुन कर, सुग्रीव हाथ जोड़ कर प्रशंसा करते हुए बोले ॥१॥

असंशयं प्रज्वलितैस्तीक्ष्णैर्मर्मातिगैः शरैः ।
त्वं दहेः कुपितो लोकान्युगान्त इव भास्करः ॥२॥

हे राम! आप क्रुद्ध होने पर चमचमाते, पैने और मर्मभेदी बाणों से समस्त लोकों को वैसे ही जला सकते हैं, जैसे प्रलयकालीन सूर्य ॥२॥

वालिनः पौरुषं यत्तद्यच्च वीर्यं धृतिश्च या ।
तन्ममैकमनाः श्रुत्वा विधत्स्व यदनन्तरम् ॥३॥

---

१ पूजयांचक्रे—सत्कारं चकार (गो०)

किन्तु वालि का पौरुष, पराक्रम और धीरता को सावधानता पूर्वक सुन लीजिए। तदनन्तर जो उचित समझिए कीजिए ॥३॥

समुद्रात्पश्चिमात्पूर्वं दक्षिणादपि चोत्तरम् ।
क्रामत्यनुदिते सूर्ये वाली व्यपगतक्लमः ॥४॥

वालि सूर्य उदय होने के पूर्व पश्चिम समुद्र से पूर्व समुद्र तक और दक्षिण समुद्र से उत्तर समुद्र के किनारे तक घूम आता है, किन्तु इतनी दूर चल कर भी वह थकता नहीं ॥४॥

अग्राण्यारुह्य शैलानां शिखराणि महान्त्यपि ।
ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य तरसा प्रतिगृह्णाति वीर्यवान् ॥५॥

वह महापराक्रमी वालि पर्वतों पर चढ़, उनके बड़े बड़े शिखरों को उछाल कर (गेंद की तरह) हाथ में लपक लेता है ॥५॥

बहवः सारवन्तश्च वनेषु विविधा द्रुमाः ।
वालिना तरसा भग्ना बलं प्रथयताऽऽत्मनः ॥६॥

वनों के बड़े बड़े दृढ और तरह तरह के वृक्षों को उसने उखाड़ कर फेंक दिया है और अपने बल का परिचय दिया है ॥६॥

महिषो दुन्दुभिर्नाम कैलासशिखरप्रभः ।
बलं नागसहस्रस्य धारयामास वीर्यवान् ॥७॥

कैलास पर्वत के शिखर के समान विशालकाय दुन्दभी नामक पराक्रमी भैंसा, अपने शरीर में एक हजार हाथियों का बल रखता था ॥७॥

वीर्योत्सेकेन दुष्टात्मा वरदानाच्च मोहितः ।
जगाम सुमहाकायः समुद्रं सरितां पतिम् ॥८॥

वह अपने शारीरिक बल और वरदान के घमंड से मतवाला हो महाकाय दुन्दुभी, समुद्र के निकट गया ॥८॥

ऊर्मिमन्तमतिक्रम्य सागरं रत्नसञ्चयम् ।
मह्यं युद्धं प्रयच्छेति तमुवाच महार्णवम् ॥९॥

वह समुद्र की लहरों को रोक कर रत्नसञ्चयी समुद्र से बोला कि मुझसे युद्ध करो ॥९॥

ततः समुद्रो धर्मात्मा समुत्थाय महाबलः ।
अब्रवीद्वचनं राजन्नसुरं कालचोदितम् ॥१०॥

हे राजन् ! तब धर्मात्मा समुद्र ने उठ कर कालपाश से बद्ध उस दानव से कहा कि, ॥१०॥

समर्थो नास्मि ते दातुं युद्धं युद्धविशारद ।
श्रूयतां चाभिधास्यामि यस्ते युद्धं प्रदास्यति ॥११॥

हे युद्धविशारद ! मुझमें तो इतनी सामर्थ्य नहीं कि मैं तेरे साथ लड़ सकूँ, किन्तु सुन, मैं तुझे उसको बतलाता हूँ, जो तेरे साथ युद्ध कर सकेगा ॥११॥

शैलराजो महारण्ये तपस्विशरणं परम् ।
शङ्करश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः ॥१२॥

गुहाप्रस्रवणोपेतो बहुकन्दरनिर्दरः ।
स समर्थस्तव प्रीतिमतुलां कर्तुमाहवे ॥१३॥

उस तपस्वियों का आश्रयस्थल और शङ्कर के ससुर, हिमवान नाम से प्रसिद्ध और अनेक गुफाओं और झरनों से युक्त, पर्वतराज के निकट तू जा। वह तुझको युद्ध में प्रसन्न कर सकता है। ॥१२-१३॥

किन्तु वालि का पौरुष, पराक्रम और धीरता को सावधानता पूर्वक सुन लीजिए। तदनन्तर जो उचित समझिए कीजिए ॥३॥

समुद्रात्पश्चिमात्पूर्वं दक्षिणादपि चोत्तरम् ।
क्रामत्यनुदिते सूर्ये वाली व्यपगतक्लमः ॥४॥

वालि सूर्य उदय होने के पूर्व पश्चिम समुद्र से पूर्व समुद्र तक और दक्षिण समुद्र से उत्तर समुद्र के किनारे तक घूम आता है, किन्तु इतनी दूर चल कर भी वह थकता नहीं ॥४॥

अग्राण्यारुह्य शैलानां शिखराणि महान्त्यपि ।
ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य तरसा प्रतिगृह्णाति वीर्यवान् ॥५॥

वह महापराक्रमी वालि पर्वतों पर चढ़, उनके बड़े बड़े शिखरों को उछाल कर (गेंद की तरह) हाथ में लपक लेता है ॥५॥

बहवः सारवन्तश्च वनेषु विविधा द्रुमाः ।
वालिना तरसा भग्ना बलं प्रथयताऽऽत्मनः ॥६॥

वनों के बड़े बड़े दृढ़ और तरह तरह के वृक्षों को उसने उखाड़ कर फेंक दिआ है और अपने बल का परिचय दिआ है ॥६॥

महिषो दुन्दुभिर्नाम कैलासशिखरप्रभः ।
बलं नागसहस्रस्य धारयामास वीर्यवान् ॥७॥

कैलास पर्वत के शिखर के समान विशालकाय दुन्दभी नामक पराक्रमी भैंसा, अपने शरीर में एक हजार हाथियों का बल रखता था ॥७॥

वीर्योत्सेकेन दुष्टात्मा वरदानाच्च मोहितः ।
जगाम सुमहाकायः समुद्रं सरितां पतिम् ॥८॥

वह अपने शारीरिक बल और वरदान के घमण्ड से मतवाला हो महाकाय दुन्दुभी, समुद्र के निकट गया ॥८॥

ऊर्मिमन्तमतिक्रम्य सागरं रत्नसञ्चयम् ।
मह्यं युद्धं प्रयच्छेति तमुवाच महार्णवम् ॥९॥

वह समुद्र की लहरों को रोक कर रत्नसञ्चयी समुद्र से बोला कि मुझसे युद्ध करो ॥९॥

ततः समुद्रो धर्मात्मा समुत्थाय महाबलः ।
अब्रवीद्वचनं राजन्नसुरं कालचोदितम् ॥१०॥

हे राजन् ! तब धर्मात्मा समुद्र ने उठ कर कालपाश से बद्ध उस दानव से कहा कि, ॥१०॥

समर्थो नास्मि ते दातुं युद्धं युद्धविशारद ।
श्रूयतां चाभिधास्यामि यस्ते युद्धं प्रदास्यति ॥११॥

हे युद्धविशारद ! मुझसे तो इतनी सामर्थ्य नहीं कि, मैं तेरे साथ लड़ सकूँ, किन्तु सुन, मैं तुझे उसको बतलाता हूँ, जो तेरे साथ युद्ध कर सकेगा ॥११॥

शैलराजो महारण्ये तपस्विशरणं परम् ।
शङ्करश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः ॥१२॥

गुहाप्रस्रवणोपेतो बहुकन्दरनिर्दरः ।
स समर्थस्तव प्रीतिमतुलां कर्तुमाहवे ॥१३॥

उस तपस्वियों का [illegible] और शङ्कर के ससुर, हिमवान नाम से प्रसिद्ध और बड़ी गुफाओं और झरनों से युक्त, पर्वतराज के निकट तू जा। वह तुझको युद्ध में प्रसन्न कर सकता है ॥१२॥१३॥

तं भीत इति विज्ञाय समुद्रमसुरोत्तमः ।
हिमवद्वनमागच्छच्छरश्चापादिव च्युतः ॥१४॥

वह असुरोत्तम समुद्र को अपने से भयभीत हुआ जान, कमान से छूटे हुए तीर की तरह बड़े वेग से सीधा हिमालय के वन में पहुँचा ॥१४॥

ततस्तस्य गिरेः श्वेता गजेन्द्रविपुलाः शिलाः ।
चिक्षेप बहुधा भूमौ दुन्दुभिर्विननाद च ॥१५॥

और उस पर्वत की वर्फ से ढकी होने के कारण सफेद और गजेन्द्र की तरह विशाल शिलाओं को उखाड़ उखाड़ कर, भूमि पर पटक, बड़े जोर से गर्जा ॥१५॥

ततः श्वेताम्बुदाकारः सौम्यः प्रीतिकराकृतिः ।
हिमवानब्रवीद्वाक्यं स्व एव शिखरे स्थितः ॥१६॥

तब सफेद बादल की तरह सुन्दर और मनोहर आकार धारण कर, हिमालय अपने एक शिखर पर खड़ा हो कर, दुन्दुभि से बोला ॥१६॥

क्लेष्टुमर्हसि मां न त्वं दुन्दुभे धर्मवत्सल ।
रणकर्मस्वकुशलस्तपस्विशरणं ह्यहम् ॥१७॥

हे धर्मवत्सल दुन्दुभे ! मुझे कष्ट देना तुझे उचित नहीं। क्योंकि मैं तो रणकौशल में कुशल नहीं हूँ। मैं तो तपस्वियों का आश्रयस्थल मात्र हूँ ॥१७॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा गिरिराजस्य धीमतः ।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं रोषात्संरक्तलोचनः ॥१८॥

बुद्धिमान् हिमवान के ऐसे वचन सुन, वह दुन्दुभि क्रोध से लाल लाल नेत्र कर के बोला ॥१८॥

यदि युद्धेऽसमर्थस्त्वं मद्भयाद्वा निरुद्यमः ।
तमाचक्ष्व प्रदद्यान्मे योऽद्य युद्धं युयुत्सतः ॥१९॥

यदि तुम मुझसे युद्ध करने में असमर्थ हो अथवा मेरे डर से तुम उद्यमहीन हो तो, बतलाओ मुझसे युद्ध करने योग्य कौन है ? ॥१९॥

हिमवानब्रवीद्वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः ।
अनुक्तपूर्वं धर्मात्मा क्रोधात्तमसुरोत्तमम् ॥२०॥

वचन बोलने में चतुर धर्मात्मा हिमालय उसके ऐसे वचन सुन उस क्रोध से मतवाले असुरोत्तम से ऐसे वचन बोला, जैसे कि, वह पहिले कभी नहीं बोला था ॥२०॥

वाली नाम महाप्राज्ञः शक्रतुल्यपराक्रमः ।
अध्यास्ते वानरः श्रीमान् किष्किन्धामतुलप्रभाम् ॥२१॥

हिमवान ने कहा—हे असुरोत्तम ! अतुलित प्रभा वाली किष्किन्धा नामक नगरी में बड़ा बुद्धिमान, प्रतापी और इन्द्र के समान पराक्रमी वालि नाम का एक वानर रहता है ॥२१॥

स समर्थो महाप्राज्ञस्तव युद्धविशारदः ।
द्वन्द्वयुद्धं महद्दातुं नमुचेरिव वासवः ॥२२॥

वह बड़ा बुद्धिमान वालि तुमसे इसी प्रकार युद्ध कर सकता है, जिस प्रकार नमुचि दैत्य के साथ इन्द्र ने युद्ध किया था ॥२२॥

तं शीघ्रमभिगच्छ त्वं यदि युद्धमिहेच्छसि ।
स हि दुर्धर्षणो नित्यं शूरः समरकर्मणि ॥२३॥

यदि तुमको युद्ध करने की अभिलाषा है, तो तुम शीघ्र इसके पास जाओ। क्योंकि वह बड़ा दुर्धर्ष और युद्ध के कार्य में बड़ा शूर है ॥२३॥

श्रुत्वा हिमवतो वाक्यं क्रोधाविष्टः स दुन्दुभिः ।
जगाम तां पुरीं तस्य किष्किन्धां वालिनस्तदा ॥२४॥

हिमवान के ये वचन सुन दुन्दुभि क्रोध में भरा हुआ अति शीघ्रतापूर्वक बालि की किष्किन्धा नामक नगरी में गया ॥२४॥

धारयन् माहिषं रूपं तीक्ष्णशृङ्गो भयावहः ।
प्रावृषीव महामेघस्तोयपूर्णो नभस्तले ॥२५॥

वह असुर पैने पैने सींगों सहित भयानक भैंसे का रूप धारण किए हुए, आकाश में वर्षा ऋतु के जलपूर्ण मेघ की तरह देख पड़ता था ॥२५॥

ततस्तद्द्वारमागम्य किष्किन्धाया महाबलः ।
ननर्द कम्पयन् भूमिं दुन्दुभिर्दुन्दुभिर्यथा ॥२६॥

फिर वह महाबली दुन्दुभि किष्किन्धा नगरी के द्वार पर जा पृथिवी को कँपाता हुआ, नगाड़े के शब्द के समान नाद करने लगा ॥२६॥

समीपस्थान् द्रुमान् भञ्जन् वसुधां दारयन् खुरैः ।
विषाणेनोल्लिखन् दर्पात्तद्द्वारं द्विरदो यथा ॥२७॥

वह अभिमान में भर मतवाले हाथी की तरह किष्किन्धा के द्वार वाले पेड़ों को उखाड़ने और अपने खुरों और सींगों से भूमि को खोदने लगा ॥२७॥

अन्तःपुरगतो वाली श्रुत्वा शब्दममर्षणः ।
निष्पपात सह स्त्रीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः ॥२८॥

अन्तःपुर मे बैठा हुआ वालि उसके शब्द को सुन और उसे न सह कर, तारागण सहित चन्द्रमा की तरह, सब स्त्रियों के साथ बाहर चला आया ॥२८॥

मितं व्यक्ताक्षरपदं तमुवाचाथ दुन्दुभिम् ।
हरीणामीश्वरो वाली सर्वेषां वनचारिणाम् ॥२९॥

समस्त वनचरो और वानरो का राजा वालि, दुन्दुभि से सक्षेप में, किन्तु स्पष्ट शब्दों में बोला ॥२९॥

किमर्थं नगरद्वारमिदं रुद्ध्वा विनर्दसि ।
दुन्दुभे विदितो मेऽसि रक्ष प्राणान् महाबल ॥३०॥

तू क्यों इस नगर के द्वार को छेके हु गर्जता है । हे महाबलवान् दुन्दुभि ! मैं तुझे जानता हूँ तू अपने प्राण बचा ॥३०॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वानरेन्द्रस्य धीमतः ।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं रोषात्संरक्तलोचनः ॥३१॥

धीमान् वानरराज वालि के ऐसे वचन सुन कर, दुन्दुभि लाल लाल आँखे कर, वालि से कहने लगा ॥३१॥

न त्वं स्त्रीसन्निधौ वीर वचनं वक्तुमर्हसि ।
मम युद्धं प्रयच्छाद्य ततो ज्ञास्यामि ते बलम् ॥३२॥

हे वीर ! स्त्रियो के समीप खड़े हो कर तुझे ऐसी बाते कहना उचित नहीं । आज मेरे साथ युद्ध कर, तब मुझे तेरा बल मालूम हो जायगा ॥३२॥

अथवा धारयिष्यामि क्रोधमद्य निशामिमाम् ।
गृह्यतामुदयः स्वैरं कामभोगेषु वानर ॥३३॥

अथवा यदि तू अभी युद्ध करना नहीं चाहता हो तो, आज मैं अपने क्रोध को रोके लेता हूँ। कल सवेरे युद्ध हो। हे वानर! आज की रात तू सुख और भोग लो ॥३३॥

दीयतां सम्प्रदानं[1] च परिष्वज्य च वानरान् ।
सर्वशाखामृगेन्द्रस्त्वं संसादय सुहृज्जनान् ॥३४॥

जो कुछ तुझे दान पुण्य करना हो सो कर ले और जिन वानरों से मिलना भेंटना हो मिल भेंट लो और सब इष्टमित्रों को भी आदर मान से प्रसन्न कर लो ॥३४॥

सुदृष्टां कुरु किष्किन्धां कुरुष्वात्मसमं पुरे ।
क्रीडस्व च सह स्त्रीभिरहं ते दर्पनाशनः ॥३५॥

किष्किन्धा को भी भली भाँति देख भाल ले और अपने समान किसी योग्य वानर को वह राज्य सौंप दे। अपनी स्त्रियों से क्रीडा भी कर ले। क्योंकि मैं तेरा अहङ्कार दूर कर, तुझको मार डालूँगा ॥३५॥

यो हि मत्तं[2] प्रमत्तं[3] वा सुप्तं वा रहितं[4] भृशम् ।
हन्यात्स भ्रूणहा लोके त्वद्विधं[5] मदमोहितम्[6] ॥३६॥

---

१ सम्प्रदान—देयद्रव्यं । (गो०) २ मत्तं—मधुपानादिनामत्त । (गो०) ३ प्रमत्त—अनवहित । (गो०) ४ रहित—आयुधादिशून्य । (गो०) ५ त्वद्विध—त्वामिव स्त्रीमध्यगत । (गो०) ६ मदमोहितं—मदनमोहित ।

जो पुरुष शराबी, असावधान, सोते हुए, सोते आयुधादि से रहित, और तेरी तरह मदन से मोहित को मारता है, वह गर्भहत्या के पाप को प्राप्त होता है ॥३६॥

स महस्याब्रवीन्मन्दं क्रोधात्तमसुरोत्तमम् ।
विसृज्य ताः स्त्रियः सर्वास्ताराप्रभृतिकास्तदा ॥३७॥

उस असुर के ये वचन सुन, वालि ने क्रोध में भर उन तारा आदि समस्त स्त्रियों को विदा किया और मुसक्या कर धीरे धीरे दुन्दुभि से कहा ॥३७॥

मत्तोऽयमिति मा मंस्था यद्यभीतोऽसि संयुगे ।
मदोऽयं संप्रहारेऽस्मिन् वीरपानं समर्थ्यताम् ॥३८॥

हे वीर! तू मुझे मतवाला मत जान। यदि तू संग्राम में निर्भय है, तो इस मद्यपान को तू वीरपान जान ॥३८॥

तमेवमुक्त्वा संक्रुद्धो मालामुत्क्षिप्य काञ्चनीम् ।
पित्रा दत्तां महेन्द्रेण युद्धाय व्यवतिष्ठत ॥३९॥

ऐसा कह, वालि अपने गले की माला को, जो उसे उसके पिता इन्द्र ने दी थी, पहिन कर, युद्ध के लिए उद्यत हुआ ॥३९॥

विषाणयोर्गृहीत्वा तं दुन्दुभिं गिरिसन्निभम् ।
आविध्यत तदा वाली विनदन् कपिकुञ्जरः ॥४०॥

वालि ने उस पहाड़ जैसे आकार के दुन्दुभि के दोनों सींग पकड़, उसे दूर फेंक दिया और घोर नाद किया ॥४०॥

वाली व्यापातयांश्चक्रे ननर्द च महास्वनम् ।
श्रोत्राभ्यामथ रक्तं तु तस्य सुस्राव पात्यतः ॥४१॥

दुन्दुभि को गिरा कर वालि सिंहनाद कर गर्जने लगा। वालि ने उसे ऐसी जोर से पटका कि, उससे कानों से रक्त बहने लगा ॥४१॥

तयोस्तु क्रोधसंरम्भात्परस्परजयैषिणोः ।
युद्धं समभवद्घोरं दुन्दुभेर्वानरस्य च ॥४२॥

तदनन्तर परस्पर जीतने की इच्छा रखने वाले और क्रोध मे भरे हुए वालि और दुन्दुभि का घोर युद्ध हुआ ॥४२॥

अयुध्यत तदा वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ।
मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव शिलाभिः पादपैस्तथा ॥४३॥

इन्द्रतुल्य पराक्रमी वालि लात, घूँसा, जाँघ, शिला और वृक्षों से युद्ध करने लगा ॥४३॥

परस्परं घ्नतोस्तत्र वानरासुरयोस्तदा ।
असीददसुरो युद्धे शक्रसूनुर्व्यवर्धत ॥४४॥

वानर और असुर का युद्ध हुआ। युद्ध होते होते उस असुर का बल क्षीण होने लगा और वालि का बढ़ने लगा ॥४४॥

व्यापारवीर्यधैर्यैश्च परिक्षीणं पराक्रमैः ।
तं तु दुन्दुभिमुत्पाट्य धरण्यामभ्यपातयत् ॥४५॥

जब दुन्दुभि का साहस, बल, धैर्य और पराक्रम मन्द पड़ गया, तब वालि ने उठा कर, उसे जमीन पर पटक दिया ॥४५॥

युद्धे प्राणहरे तस्मिन्निष्पिष्टो दुन्दुभिस्तदा ।
पपात च महाकायः क्षितौ पञ्चत्वमागतः ॥४६॥

उस प्राणविनाशकारी युद्ध मे दुन्दुभि को वालि ने चूर्ण कर डाला। तब वह महाकाय असुर जमीन पर गिर कर, मर गया ॥४६॥

तं तोलयित्वा बाहुभ्यां गतसत्त्वमचेतनम् ।
चिक्षेप बलवान् वाली वेगेनैकेन योजनम् ॥४७॥

बलवान् वालि ने उस गतप्राण दुन्दुभि को उठा कर, एक योजन पर फेंक दिया ॥४७॥

तस्य वेगप्रविद्धस्य वक्त्रात्क्षतजबिन्दवः ।
प्रपेतुर्मारुतोत्क्षिप्ता मतङ्गस्याश्रमं प्रति ॥४८॥

वालि ने जब उसे बड़े ज़ोर से फेंका, तब उसके मुख से टपकता हुआ रुधिर, वायु के झोंके से उड़ कर, मतङ्ग के आश्रम में गिरा ॥४८॥

तान् दृष्ट्वा पतितांस्तस्य मुनिः शोणितविप्रुषः ।
क्रुद्धस्तत्र महाभागश्चिन्तयामास को न्वयम् ॥४९॥
येनाहं सहसा स्पृष्टः शोणितेन दुरात्मना ।
कोऽयं दुरात्मा दुर्बुद्धिरकृतात्मा* च बालिशः ॥५०॥

मुनि इन रुधिर की बूँदों को देख, बहुत क्रुद्ध हुए और कुछ देर तक वे सोचते रहे कि, किस दुष्ट ने मेरे ऊपर यह रुधिर का छिड़काव किया है। वह कौन दुरात्मा, दुर्बुद्धि नीच, अजितेन्द्रिय और मूर्ख है? ॥४९॥५०॥

इत्युक्त्वाथ विनिष्क्रम्य ददर्श मुनिपुङ्गवः ।
महिषं पर्वताकारं गतासुं पतितं भुवि ॥५१॥

इस प्रकार सोच विचार करते हुए मुनि आश्रम से निकले, तो उन्होंने एक पर्वताकार भैंसा मरा हुआ, पृथिवी पर पड़ा देख पड़ा ॥५१॥

* अकृतात्मा—अजितेन्द्रियः । (गो०)

स तु विज्ञाय तपसा वानरेण कृतं हि तत् ।
उत्ससर्ज महाशापं क्षेप्तारं वालिनं प्रति ॥५२॥

तब तो मतङ्ग मुनि ने तपोबल से जान लिया कि, यह सारी करतूत वालि की है। अतः यह जान उन्होंने भैंसा फैंकने वाले वालि को शाप दिया ॥५२॥

इह तेनाप्रवेष्टव्यं प्रविष्टस्य वधो भवेत् ।
वनं मत्संश्रयं येन दूषितं रुधिरस्रवैः ॥५३॥

मेरे आश्रम को जिसने रक्त की बूँदों से तर कर दूषित कर दिया है, वह इस आश्रम में न आने पावेगा और यदि आया तो वह मर जायगा ॥५३॥

संभग्नाः पादपाश्चेमे क्षिपतेहासुरीं तनुम् ।
समन्ताद्योजनं पूर्णमाश्रमं मामकं यदि ॥५४॥

आगमिष्यति दुर्बुद्धिर्व्यक्तं स न भविष्यति ।
ये चापि सचिवास्तस्य संश्रिता मामकं वनम् ॥५५॥

न च तैरिह वस्तव्यं श्रुत्वा यान्तु यथासुखम् ।
यदि तेऽपीह तिष्ठन्ति शपिष्ये तानपि ध्रुवम् ॥५६॥

इस असुर की मृत देह फैंक कर, जिसने मेरे आश्रम के वृक्ष तोड़े हैं वह यदि मेरे आश्रम में घुसा या इस आश्रम के चार कोस के घेरे के भीतर वह दुर्बुद्धि आया, तो भी, वह निश्चय ही मर जायगा। उसके मित्र या मन्त्री—कोई भी जो मेरे वन में वास करते हैं, अब वे भी यहाँ न रहें। यदि वे यहाँ रहेंगे तो, उन्हें भी मैं अवश्य शाप दे दूँगा। अतः मेरे इस शाप को सुन, उन्हें अन्यत्र जहाँ कहीं सुख मिले, वहाँ चल देना चाहिए ॥५४॥५५॥५६॥

वनेऽस्मिन् मामकेऽत्यर्थं पुत्रवत्परिपालिते ।
पत्राङ्कुरविनाशाय फलमूलाभवाय च ॥५७॥

क्योंकि मैं इस वन का पालन सदा पुत्रवत किया करता हूँ। उनके यहाँ रहने से पत्ते अंकुर फल और मूल एक भी नहीं बचने पाते ॥५७॥

दिवसश्चास्य मर्यादा यं द्रष्टा श्वोऽस्मि वानरम् ।
बहुवर्षसहस्राणि स वै शैलो भविष्यति ॥५८॥

आज के दिन तक मेरे शाप की मर्यादा है, सवेरा होते ही वालि की ओर के जिस किसी बंदर को यहाँ देखूँगा, तो उसे हजारों वर्ष तक पत्थर हो कर रहना पड़ेगा ॥५८॥

ततस्ते वानराः श्रुत्वा गिरं मुनिसमीरिताम् ।
निश्चक्रमुर्वनात्तस्मात्तान् दृष्ट्वा वालिरब्रवीत् ॥५९॥

तदनन्तर उस वन के रहने वाले सब वानर मुनि के ये वचन सुन कर, वहाँ से चले गए। उनको वन से निकला हुआ देख, वालि बोला ॥५९॥

किं भवन्तः समस्ताश्च मतङ्गवनवासिनः ।
मत्समीपमनुप्राप्ता अपि स्वस्ति वनौकसाम् ॥६०॥

मतङ्गवनवासी वानरो! तुम सब के सब क्यों मेरे पास आए हो? सब वानर प्रसन्न तो हैं ॥६०॥

ततस्ते कारणं सर्वं तदा शापं च वालिनः ।
शशंसुर्वानराः सर्वे वालिने हेममालिने ॥६१॥

उन सब वानरों ने सुवर्णमालाधारी वालि से सारा वृत्तान्त कह और यह कहा कि, आपको भी मतङ्ग मुनि ने शाप दिया है ॥६१॥

स तु विज्ञाय तपसा वानरेण कृतं हि तत् ।
उत्ससर्ज महाशापं क्षेप्तारं वालिनं प्रति ॥५२॥

तब तो मतङ्ग मुनि ने तपोबल से जान लिश्रा कि, यह सारी करतूत वालि की है। अतः यह जान उन्होंने भैंसा फैंकने वाले वालि को शाप दिश्रा ॥५२॥

इह तेनाप्रवेष्टव्यं प्रविष्टस्य वधो भवेत् ।
वनं मत्संश्रयं येन दूषितं रुधिरस्रवैः ॥५३॥

मेरे आश्रम को जिसने रक्त की बूँदों से तर कर दूषित कर दिश्रा है, वह इस आश्रम में न आने पावेगा और यदि आया तो वह मर जायगा ॥५३॥

संभग्नाः पादपाश्चेमे क्षिपतेहासुरीं तनुम् ।
समन्ताद्योजनं पूर्णमाश्रमं मामकं यदि ॥५४॥

आगमिष्यति दुर्बुद्धिर्व्यक्तं स न भविष्यति ।
ये चापि सचिवास्तस्य संश्रिता मामकं वनम् ॥५५॥

न च तैरिह वस्तव्यं श्रुत्वा यान्तु यथासुखम् ।
यदि तेऽपीह तिष्ठन्ति शपिष्ये तानपि ध्रुवम् ॥५६॥

इस असुर की मृत देह फैंक कर, जिसने मेरे आश्रम के वृत्त तोड़े हैं वह यदि मेरे आश्रम में घुसा या इस आश्रम के चार कोस के घेरे के भीतर वह दुर्बुद्धि आया, तो भी, वह निश्चय ही मर जायगा। उसके मित्र या मन्त्री—कोई भी जो मेरे वन में वास करते हैं, अब वे भी यहाँ न रहें। यदि वे यहाँ रहेंगे तो, उन्हें भी मैं अवश्य शाप दे दूँगा। अतः मेरे इस शाप को सुन, उन्हें अन्यत्र जहाँ कहीं सुख मिले, वहाँ चल देना चाहिए ॥५४॥५५॥५६॥

वनेऽस्मिन् मामकेऽत्यर्थं पुत्रवत्परिपालिते।
पत्राङ्कुरविनाशाय फलमूलाभवाय च ॥५७॥

क्योंकि मैं इस वन का पालन सदा पुत्रवत् किया करता हूँ। उनके यहाँ रहने से पत्ते अंकुर फल और मूल एक भी नहीं बचने पाते ॥५७॥

दिवसश्चास्य मर्यादा यं द्रष्टा श्वोऽस्मि वानरम्।
बहुवर्षसहस्राणि स वै शैलो भविष्यति ॥५८॥

आज के दिन तक मेरे शाप की मर्यादा है, सबेरा होते ही वालि की ओर के जिस किसी बंदर को यहाँ देखूँगा, तो उसे हजारों वर्ष तक पत्थर हो कर रहना पड़ेगा ॥५८॥

ततस्ते वानराः श्रुत्वा गिरं मुनिसमीरिताम्।
निश्चक्रमुर्वनात्तस्मात्तान् दृष्ट्वा वालिरब्रवीत् ॥५९॥

तदनन्तर उस वन के रहने वाले सब वानर मुनि के ये वचन सुन कर, वहाँ से चले गए। उनको वहाँ से निकला हुआ देख, वालि बोला ॥५९॥

किं भवन्तः समस्ताश्च मतङ्गवनवासिनः।
मत्समीपमनुप्राप्ता अपि स्वस्ति वनौकसाम् ॥६०॥

मतङ्गवनवासी वानरो! तुम सब के सब क्यों मेरे पास आए हो? सब वानर प्रसन्न तो हैं ॥६०॥

ततस्ते कारणं सर्वं तदा शापं च वालिनः।
शशंसुर्वानराः सर्वे वालिने हेममालिने ॥६१॥

उन सब वानरों ने सुवर्णमालाधारी वालि से सारा वृत्तान्त कहा, और यह कहा कि, हमको भी मतङ्ग मुनि ने शाप दिया है ॥६१॥

एतच्छ्रुत्वा तदा वाली वचनं वानरेरितम् ।
स महर्षिं तदासाद्य याचते स्म कृताञ्जलिः ॥६२॥

उन वानरों के वचन सुन वालि महर्षि मतङ्ग के पास जा और हाथ जोड़ उनको प्रसन्न करने लगा ॥६२॥

महर्षिस्तमनादृत्य प्रविवेशाश्रमं तदा ।
शापधारणभीतस्तु वाली विह्वलतां गतः ॥६३॥

परन्तु महर्षि मतङ्ग उसकी बातों पर ध्यान न दे, अपने आश्रम के भीतर उठ कर चले गए और शाप के भय से वालि अत्यन्त विकल हो गया ॥६३॥

ततः शापभयाद्भीत ऋश्यमूकं महागिरिम् ।
प्रवेष्टुं नेच्छति हरिर्द्रष्टुं वापि नरेश्वर ॥६४॥

हे नरेश्वर ! तब से शाप के भय से वालि इस ऋष्यमूक पर्वत पर कभी नहीं आता—यहाँ तक कि, इस पर्वत की ओर मारे डर के देखता भी नहीं ॥६४॥

तस्याप्रवेशं ज्ञात्वाऽहमिदं राम महावनम् ।
विचरामि सहामात्यो विषादेन विवर्जितः ॥६५॥

वालि का इस वन मे आना निषिद्ध जान कर ही मैं, विषाद रहित हो, मन्त्रियों सहित इस वन मे वास करता हूँ ॥६५॥

एषोऽस्थिनिचयस्तस्य दुन्दुभेः सम्प्रकाशते ।
वीर्योत्सेकान्निरस्तस्य गिरिकूटोपमो महान् ॥६६॥

देखिए, यहा उस दुन्दुभि की हड्डियों का पहाड़ के समान ढेर है, जिसको वालि ने अपने बल पराक्रम से उठा कर, यहाँ फेंका था ॥६६॥

इमे च विपुलाः सालाः सप्त शाखावलम्बिनः ।
यत्रैकं घटते¹ वाली निष्पत्रयितुमोजसा ॥६७॥

हे राम ! ये जो मोटे सात साखू के बड़ी बड़ी शाखाओं वाले पेड़ हैं, इनमे से एक एक को वालि अपने पराक्रम से हिला कर विना पत्ते का कर सकता है ॥६७॥

एतदस्यासमं वीर्यं मया राम प्रकीर्तितम् ।
कथं तं वालिनं हन्तुं समरे शक्ष्यसे नृप ॥६८॥

हे राम ! मैंने यह आपसे वालि का बल वर्णन किया सो आप इस वालि को युद्ध में किस प्रकार मार सकेंगे ? ॥६८॥

तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं प्रहसँल्लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।
कस्मिन् कर्मणि निर्वृत्ते श्रद्दध्या वालिनो वधम् ॥६९॥

इस प्रकार कहते हुए सुग्रीव से लक्ष्मण जी ने हँस कर कहा—श्रीरामचन्द्र जी कौनसा काम कर के तुमको दिखावें जिससे उनके द्वारा वालि के मारे जाने का तुमको विश्वास हो जावे ॥६९॥

तमुवाचाथ सुग्रीवः सप्त सालानिमान् पुरा ।
एतमेकैकशो वाली विव्याधाथ स चासकृत् ॥७०॥

यह सुन, सुग्रीव बोले कि, ये सात साल के वृक्ष जो सामने देख पड़ते हैं वालि इन पेड़ों में से एक को पकड़ जब चाहता था, तब एक ही बार में सब वृक्षों को हिला देता था ॥७०॥

रामोऽपि दारयेदेषां बाणेनैकेन चेद्द्रुमम् ।
वालिनं निहतं मन्ये दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम् ॥७१॥

---

१ पाठे—[illegible] । (गो०)

सो श्रीरामचन्द्र जी भी यदि एक ही बाण से इनमें से एक भी साल से वृक्ष को काट डालें तो, मैं इनका पराक्रम देख, वालि को मरा समझूँ ॥७१॥

हतस्य महिषस्यास्थि पादेनैकेन लक्ष्मण ।
उद्यम्याथ प्रक्षिपेच्चेत्तरसा द्वे धनुःशते ॥७२॥

मृत दुन्दुभि की हड्डियों के ढेर को एक पैर से यदि राम दो सौ धनुष पर फेंक दें तो मैं वालि को मरा समझूँ ॥७२॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवो रामं रक्तान्तलोचनम् ।
ध्यात्वा मुहूर्तं काकुत्स्थं पुनरेव वचोऽब्रवीत् ॥७३॥

यह कह सुग्रीव लाल लाल नेत्र कर और मुहूर्त्त भर सोच कर, फिर श्रीराम से बोले ॥७३॥

शूरश्च शूरघाती च प्रख्यातबलपौरुषः ।
बलवान् वानरो वाली संयुगेष्वपराजितः ॥७४॥

हे राम! वालि स्वयं बड़ा शूर वीर और शूर वीरों का वध करने वाला है। वह एक प्रसिद्ध बलवान् और पुरुषार्थी है। उस बलवान् वानर वालि को युद्ध में कोई पराजित नहीं कर सकता है ॥७४॥

दृश्यन्ते चास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि ।
यानि सञ्चिन्त्य भीतोऽहमृश्यमूकं समाश्रितः ॥७५॥

उसके जितने काम देखे जाते हैं, उन्हें देवता भी नहीं कर सकते। उसके उन कर्मों का स्मरण करने ही से मुझे बड़ा डर लगता है और इसीसे मैं इस ऋष्यमूक पर्वत पर पड़ा रहता हूँ ॥७५॥

तमजय्यमधृष्यं च वानरेन्द्रममर्षणम् ।
विचिन्तयन्न मुञ्चामि ऋश्यमूकमहं त्विमम् ॥७६॥

उस अजेय, अधृष्य और सहन करने के अयोग्य वालि को याद कर के, मैं ऋष्यमूक पर्वत को नहीं छोड़ सकता ॥७६॥

उद्विग्नः शङ्कितश्चापि विचरामि महावने ।
अनुरक्तैः सहामात्यैर्हनुमत्प्रमुखैर्वरैः ॥७७॥

मैं उद्विग्न और शङ्कित हो हनुमानादि पाँच मन्त्रियों के साथ इन महावन में घूमा फिरा करता हूँ ॥७७॥

उपलब्धं च मे श्लाघ्यं सन्मित्रं मित्रवत्सल ।
त्वामहं पुरुषव्याघ्र हिमवन्तमिवाश्रितः ॥७८॥

हे मित्रवत्सल नरश्रेष्ठ! आप श्लाघ्य और सन्मित्र हैं। जैसे लोग हिमालय का आश्रय लेते हैं, वैसे ही मैंने आप का आश्रय लिया है ॥७८॥

किन्तु तस्य बलज्ञोऽहं दुर्भ्रातुर्बलशालिनः ।
अप्रत्यक्षं तु मे वीर्यं समरे तव राघव ॥७९॥

हे राघव! मुझे अपने उस बलवान एवं दुष्टात्मा भाई वालि का बल तो मालूम है; परन्तु मुझे अभी यह नहीं मालूम कि आप कितने अथवा कैसे बलवान हैं ॥७९॥

न खल्वहं त्वां तुलये नावमन्ये न भीषये ।
कर्मभिस्तस्य भीमैस्तु कातर्यं जनितं मम ॥८०॥

इस लिए न तो मैं उनके साथ आपकी तुलना ही कर सकता हूँ, न मैं आपका अनादर करता हूँ और न आप को उनसे भयभीत ही करता हूँ। किन्तु उसके इन भयङ्कर कर्मों को सोचकर, मैं कातर होता हूँ ॥८०॥

सो श्रीरामचन्द्र जी भी यदि एक ही बाण से इनमें से एक भी साल से वृक्ष को काट डालें तो, मैं इनका पराक्रम देख, वालि को मरा समझूँ ॥७१॥

हतस्य महिषस्यास्थि पादेनैकेन लक्ष्मण ।
उद्यम्याथ प्रक्षिपेच्चेत्तरसा द्वे धनुःशते ॥७२॥

मृत दुन्दुभि की हड्डियों के ढेर को एक पैर से यदि राम दो सौ धनुष पर फेंक दें तो मैं वालि को मरा समझूँ ॥७२॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवो रामं रक्तान्तलोचनम् ।
ध्यात्वा मुहूर्तं काकुत्स्थं पुनरेव वचोऽब्रवीत् ॥७३॥

यह कह सुग्रीव लाल लाल नेत्र कर और मुहूर्त्त भर सोच कर, फिर श्रीराम से बोले ॥७३॥

शूरश्च शूरघाती च प्रख्यातबलपौरुषः ।
बलवान् वानरो वाली संयुगेष्वपराजितः ॥७४॥

हे राम ! वालि स्वयं बड़ा शूर वीर और शूर वीरों का वध करने वाला है। वह एक प्रसिद्ध बलवान् और पुरुषार्थी है। उस बलवान् वानर वालि को युद्ध में कोई पराजित नहींकर सकता है ॥७४॥

दृश्यन्ते चास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि ।
यानि संचिन्त्य भीतोऽहमृश्यमूकं समाश्रितः ॥७५॥

उसके जितने काम देखे जाते हैं, उन्हें देवता भी नहीं कर सकते। उसके उन कर्मों का स्मरण करने ही से मुझे बड़ा डर लगता है और इसीसे मैं इस ऋष्यमूक पर्वत पर पड़ा रहता हूँ ॥७५॥

तमजय्यमधृष्यं च वानरेन्द्रममर्षणम् ।
विचिन्तयन्न मुञ्चामि ऋश्यमूकमहं त्विमम् ॥७६॥

उस अजेय, अधृष्य और सहन करने के अयोग्य वालि को याद कर के, मैं ऋष्यमूक पर्वत को नहीं छोड़ सकता ॥७६॥

उद्विग्नः शङ्कितश्चापि विचरामि महावने ।
अनुरक्तैः सहामात्यैर्हनुमत्प्रमुखैर्वरैः ॥७७॥

मैं उद्विग्न और शङ्कित हो हनुमानादि पाँच मन्त्रियों के साथ इन महावन में घूमा फिरा करता हूँ ॥७७॥

उपलब्धं च मे श्लाघ्यं सन्मित्रं मित्रवत्सल ।
त्वामहं पुरुषव्याघ्र हिमवन्तमिवाश्रितः ॥७८॥

हे मित्रवत्सल नरश्रेष्ठ! आप श्लाघ्य और सन्मित्र हैं। जैसे लोग हिमालय का आश्रय लेते हैं, वैसे ही मैंने आप का आश्रय लिया है ॥७८॥

किन्तु तस्य बलज्ञोऽहं दुर्भ्रातुर्बलशालिनः ।
अप्रत्यक्षं तु मे वीर्यं समरे तव राघव ॥७९॥

हे राघव! मुझे अपने उस बलवान् एवं दुष्टात्मा भाई वालि का बल तो मालूम है; परन्तु मुझे अभी यह नहीं मालूम कि आप कितने अथवा कैसे बलवान हैं ॥७९॥

न खल्वहं त्वां तुलये नावमन्ये न भीषये ।
कर्मभिस्तस्य भीमैस्तु कातर्यं जनितं मम ॥८०॥

इस लिए न तो मैं उनके साथ आपकी तुलना ही कर सकता हूँ, न मैं आपका अनादर करता हूँ और न आप को उनसे भयभीत ही करता हूँ। किन्तु उसके इन भयङ्कर कर्मों को सोचकर, मैं कातर होता हूँ ॥८०॥

सो श्रीरामचन्द्र जी भी यदि एक ही बाण से इनमें से एक भी साल से वृक्ष को काट डालें तो, मैं इनका पराक्रम देख, बालि को मरा समझूँ ॥७१॥

हतस्य महिषस्यास्थि पादेनैकेन लक्ष्मण ।
उद्यम्याथ प्रक्षिपेच्चेत्तरसा द्वे धनुःशते ॥७२॥

मृत दुन्दुभि की हड्डियों के ढेर को एक पैर से यदि राम दो सौ धनुष पर फेंक दें तो मैं बालि को मरा समझूँ ॥७२॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवो रामं रक्तान्तलोचनम् ।
ध्यात्वा मुहूर्तं काकुत्स्थं पुनरेव वचोऽब्रवीत् ॥७३॥

यह कह सुग्रीव लाल लाल नेत्र कर और मुहूर्त्त भर सोच कर, फिर श्रीराम से बोले ॥७३॥

शूरश्च शूरघाती च प्रख्यातबलपौरुषः ।
बलवान् वानरो वाली संयुगेष्वपराजितः ॥७४॥

हे राम! बालि स्वयं बड़ा शूर वीर और शूर वीरों का वध करने वाला है। वह एक प्रसिद्ध बलवान् और पुरुषार्थी है। उस बलवान् वानर बालि को युद्ध में कोई पराजित नहींकर सकता है ॥७४॥

दृश्यन्ते चास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि ।
यानि सचिन्त्य भीतोऽहमृश्यमूकं समाश्रितः ॥७५॥

उसके जितने काम देखे जाते हैं, उन्हें देवता भी नहीं कर सकते। उसके उन कर्मों का स्मरण करने ही से मुझे बड़ा डर लगता है और इसीसे मैं इस ऋष्यमूक पर्वत पर पड़ा रहता हूँ ॥७५॥

तमजय्यमधृष्यं च वानरेन्द्रममर्षणम् ।
विचिन्तयन्न मुञ्चामि ऋश्यमूकमहं त्विमम् ॥७६॥

उस अजेय, अधृष्य और सहन करने के अयोग्य वालि को याद कर के, मैं ऋष्यमूक पर्वत को नहीं छोड़ सकता ॥७६॥

उद्विग्नः शङ्कितश्चापि विचरामि महावने ।
अनुरक्तैः महामात्यैर्हनुमत्प्रमुखैर्वरैः ॥७७॥

मैं उद्विग्न और शङ्कित हो हनुमानादि पाँच मन्त्रियों के साथ इस महावन में घूमा फिरा करता हूँ ॥७७॥

उपलब्ध च मे श्लाघ्यं सन्मित्रं मित्रवत्सल ।
त्वामहं पुरुषव्याघ्र हिमवन्तमिवाश्रितः ॥७८॥

हे मित्रवत्सल नरश्रेष्ठ! आप श्लाघ्य और सन्मित्र हैं। जैसे लोग हिमालय का आश्रय लेते हैं, वैसे ही मैंने आप का आश्रय लिया है ॥७८॥

किन्तु तस्य बलज्ञोऽहं दुर्भ्रातुर्बलशालिनः ।
अप्रत्यक्षं तु मे वीर्यं समरे तव राघव ॥७९॥

हे राघव! मुझे अपने उस बलवान एवं दुष्टात्मा भाई वालि का बल तो मालूम है; परन्तु मुझे अभी यह नहीं मालूम कि आप कितने अथवा कैसे बलवान हैं ॥७९॥

न खल्वहं त्वां तुलये नावमन्ये न भीषये ।
कर्मभिस्तस्य भीमैस्तु कातर्यं जनितं मम ॥८०॥

इस लिए न तो मैं उसके साथ आपकी तुलना ही कर सकता हूँ, न मैं आपका अनादर करता हूँ और न आपको उससे भयभीत ही करता हूँ। किन्तु उसके इन भयङ्कर कर्मों को सोचकर, मैं कातर होता हूँ ॥८०॥

पा० रा० (कि०)—८

कामं राघव ते वाणी प्रमाणं धैर्यमाकृतिः
सूचयन्ति परं तेजो भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥८१॥

हे राघव आपके वचन, धैर्य और आकृति ही से आपके वीर होने का परिचय मिलता है। ये सब गुण राख से ढकी हुई आग की तरह आपके तेज को सूचित करते हैं ॥८१॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य महात्मनः ।
स्मितपूर्वमथो रामः प्रत्युवाच हरिं प्रभुः ॥८२॥

श्रीरामचन्द्र जी महात्मा सुग्रीव के ये वचन सुन, मुसक्या कर उनसे बोले ॥८२॥

यदि न प्रत्ययोऽस्मासु विक्रमे तव वानर ।
प्रत्ययं समरे श्लाघ्यमहमुत्पादयामि ते ॥८३॥

हे वानर! यदि तुमको मेरे पराक्रम पर विश्वास नहीं है, तो मैं तुम्हें अपने में वालि के साथ युद्ध करने मे उत्कृष्ट बल रखने का पक्का विश्वास कराए देता हूँ ॥८३॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सान्त्वं लक्ष्मणपूर्वजः ।
राघवो दुन्दुभेः कायं पादाङ्गुष्ठेन लीलया ॥८४॥

तोलयित्वा महाबाहुश्चिक्षेप दशयोजनम् ।
असुरस्य तनुं शुष्कं पादाङ्गुष्ठेन वीर्यवान् ॥८५॥

महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार सुग्रीव को समझा कर अपने पैर के अँगूठे से दुन्दुभि की हड्डियों के ढेर को अनायास दस योजन पर फेक दिआ। उस असुर के शरीर की सूखी हड्डियो को बलवान् श्रीरामचन्द्र जी के पैर के अँगूठे से ॥८४॥८५॥

क्षिप्तं दृष्ट्वा ततः कायं सुग्रीवः पुनरब्रवीत् ।
लक्ष्मणस्याग्रतो राममिदं वचनमब्रवीत् ॥८६॥

फेंका जाना देख, सुग्रीव ने लक्ष्मण के सामने श्रीरामचन्द्र जी से ये वचन कहे ॥८६॥

हरीणामग्रतो वीरं तपन्तमिव भास्करम् ।
आर्द्रः समांसः प्रत्यग्रः क्षिप्तः कायः पुरा सखे ॥८७॥

लघुः सम्प्रति निर्मांसस्तृणभूतश्च राघव ।
परिश्रान्तेन मत्तेन भ्रात्रा मे वालिना तदा ॥८८॥

क्षिप्तमेवं प्रहर्षेण भवता रघुनन्दन ।
नात्र शक्यं बलं ज्ञातुं तव वा तस्य वाऽधिकम् ॥८९॥

सुग्रीव ने ये वचन वानरों के सामने सूर्य की तरह तपते हुए श्रीरामचन्द्रजी से कहे—हे सखे! पहले यह शरीर रुधिर माँस युक्त था। उस समय मेरे भाई वालि ने बड़े परिश्रम से इसे उठा कर फेंका था। हे रघुनन्दन! अब तो यह शरीर मांसहीन होने से तृण की तरह हलका हो गया है। इसे आपने सहज में फेंक दिया है। अतः आपके और वालि के बल में कमीवेशी नहीं मालूम हो सकता ॥८७॥८८॥८९॥

आर्द्रशुष्कमिति ह्येतत्सुमहद्राघवान्तरम् ।
स एव संशयस्तात तव तस्य च यद्बले ॥९०॥

हे राघव! गीली और सूखी वस्तु के वजन में बड़ा अन्तर होता है। इसलिये आपके और इसके बल की तुलना करने में सन्देह उत्पन्न हो गया ॥९०॥

कामं राघव ते वाणी प्रमाणं धैर्यमाकृतिः
सूचयन्ति परं तेजो भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥८१॥

हे राघव आपके वचन, धैर्य और आकृति ही से आपके वीर होने का परिचय मिलता है। ये सब गुण राख से ढकी हुई आग की तरह आपके तेज को सूचित करते हैं ॥८१॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य महात्मनः ।
स्मितपूर्वमथो रामः प्रत्युवाच हरिं प्रभुः ॥८२॥

श्रीरामचन्द्र जी महात्मा सुग्रीव के ये वचन सुन, मुसक्या कर उनसे बोले ॥८२॥

यदि न प्रत्ययोऽस्मासु विक्रमे तव वानर ।
प्रत्ययं समरे श्लाघ्यमहमुत्पादयामि ते ॥८३॥

हे वानर! यदि तुमको मेरे पराक्रम पर विश्वास नहीं है, तो मैं तुम्हें अपने में वालि के साथ युद्ध करने में उत्कृष्ट बल रखने का पक्का विश्वास कराए देता हूँ ॥८३॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सान्त्वं लक्ष्मणपूर्वजः ।
राघवो दुन्दुभेः कायं पादाङ्गुष्ठेन लीलया ॥८४॥
तोलयित्वा महाबाहुश्चिक्षेप दशयोजनम् ।
असुरस्य तनुं शुष्कं पादाङ्गुष्ठेन वीर्यवान् ॥८५॥

महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार सुग्रीव को समझा कर अपने पैर के अँगूठे से दुन्दुभि की हड्डियों के ढेर को अनायास दस योजन पर फेंक दिया। उस असुर के शरीर की सूखी हड्डियों को बलवान् श्रीरामचन्द्र जी के पैर के अँगूठे से ॥८४॥८५॥

क्षिप्तं दृष्ट्वा ततः कायं सुग्रीवः पुनरब्रवीत् ।
लक्ष्मणस्याग्रतो राममिदं वचनमब्रवीत् ॥८६॥

फेंका जाना देख, सुग्रीव ने लक्ष्मण के सामने श्रीरामचन्द्र जी से ये वचन कहे ॥८६॥

हरीणामग्रतो वीरं तपन्तमिव भास्करम् ।
आर्द्रः समांसः प्रत्यग्रः क्षिप्तः कायः पुरा सखे ॥८७॥

लघुः सम्प्रति निर्मांसस्तृणभूतश्च राघव ।
परिश्रान्तेन मत्तेन भ्रात्रा मे वालिना तदा ॥८८॥

क्षिप्तमेवं प्रहर्षेण भवता रघुनन्दन ।
नात्र शक्यं बलं ज्ञातुं तव वा तस्य वाऽधिकम् ॥८९॥

सुग्रीव ने ये वचन वानरों के सामने सूर्य की तरह तपते हुए श्रीरामचन्द्रजी से कहे—हे सखे ! पहले यह शरीर रुधिर माँस युक्त था । उस समय मेरे भाई वालि ने बड़े परिश्रम से इसे उठा कर फेंका था । हे रघुनन्दन ! अब तो यह शरीर मांसहीन होने से तृण की तरह हलका हो गया है । उसे आपने सहज में फेंक दिया है । अतः आपके और वालि के बल में कमीवेशी नहीं मालूम हो सकती ॥८७॥८८॥८९॥

आर्द्रं शुष्कमिति ह्येतत्सुमहद्राघवान्तरम् ।
स एव संशयस्तात तव तस्य च यद्बले ॥९०॥

हे राघव ! गीली और सूखी वस्तु के वजन में बड़ा अन्तर होता है । इसलिये आपके और इसके बल की तुलना करने में सन्देह उत्पन्न हो गया ॥९०॥

सालमेकं तु निर्भिन्द्या भवेद्व्यक्तिबलाबले ।
कृत्वेदं कार्मुकं सज्यं हस्तिहस्तमिवाततम् ।
आकर्णपूर्णमायम्य विसृजस्व महाशरम् ॥९१॥

आप एक साखू के पेड़ को भेदन करें तो अभी आपका और वालि का बलाबल मालूम पड़ जाय । आप इस हाथी की सूँड़ की तरह अपने धनुष पर रोदा चढ़ा कर और उसे कान तक खींच कर एक बड़ा तीर छोड़िए ॥९१॥

इमं हि सालं सहितस्त्वया शरो
न संशयोऽत्रास्ति विदारयिष्यति ।
अलं विमर्शेन मम प्रियं ध्रुवं
कुरुष्व राजात्मज शापितो मया ॥९२॥

हे राजपुत्र ! आपका छोड़ा हुआ तीर निश्चय ही इस शाल वृक्ष को विदीर्ण कर डालेगा । अब आप इस विषय में कुछ सोच विचार न करें और आपको मेरी शपथ है, आप अवश्य मेरे इतना प्रिय कार्य कर के दिखावें ॥९२॥

यथा हि तेजःसु वरः सदा रवि-
र्यथा हि शैलो हिमवान् महाद्रिषु ।
यथा चतुष्पात्सु च केसरी वर-
स्तथा नराणामसि विक्रमे वरः ॥९३॥

इति एकादशः सर्गः ॥

जैसे तेजस्वियों में सूर्य, पर्वतों में हिमालय और चौपायों में सिंह श्रेष्ठ है, वैसे ही पराक्रमशाली पुरुषों में आप श्रेष्ठ हैं ॥९३॥

किष्किन्धाकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

द्वादशः सर्गः

—❀—

एतच्च वचनं श्रुत्वा सुग्रीवेण सुभाषितम् ।
प्रत्ययार्थं महातेजा रामो जग्राह कार्मुकम् ॥१॥

सुग्रीव के इन वचनों को सुन महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने उनको विश्वास कराने के लिए, अपना धनुष उठाया ॥१॥

स गृहीत्वा धनुर्घोरं शरमेकं च मानदः ।
सालमुद्दिश्य चिक्षेप ज्यास्वनैः पूरयन् दिशः ॥२॥

मानप्रद श्रीराम जी ने उस भयङ्कर धनुष पर एक तीर रख और साल के पेड़ को निशान बना उसे ऐसे जोर से छोड़ा, कि उसके छूटने के शब्द से दसों दिशाएँ परिपूर्ण हो गई ॥२॥

स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः[1] ।
भित्त्वा सालान् गिरिप्रस्थे सप्त भूमिं विवेश ह ॥३॥

सोने के बंदों से जकड़ा हुआ, वह तीर बलवान श्रीरामचन्द्र जी द्वारा चलाया जाकर, सातों तालों के पेड़ों को और पर्वत को फोड़ कर ज़मीन में घुस गया ॥३॥

प्रविष्टस्तु मुहूर्तेन धरां भित्त्वा महाजवः ।
निष्पत्य च पुनस्तूर्णं स्वतूणीं प्रविवेश ह ॥४॥

वह तीर बड़ी तेज़ी से निकल ज़मीन को फोड़ और मुहूर्त भर में वहाँ से फिर श्रीरामचन्द्र जी के तरकस में आ गया ॥४॥

---

१ स्वर्णपरिष्कृतः—स्वर्णबन्धनालंकृत

सालमेकं तु निर्भिन्द्या भवेद्व्यक्तिबलावले।
कृत्वेदं कार्मुकं सज्यं हस्तिहस्तमिवाततम्।
आकर्णपूर्णमायम्य विसृजस्व महाशरम् ॥६१॥

आप एक साखू के पेड़ को भेदन करें तो अभी आपका औ वालि का बलाबल मालूम पड़ जाय। आप इस हाथी की सूँड की तरह अपने धनुष पर रोदा चढ़ा कर और उसे कान तक खींच कर एक बड़ा तीर छोड़िए ॥६१॥

इमं हि सालं सहितस्त्वया शरो
न संशयोऽत्रास्ति विदारयिष्यति।
अलं विमर्शेन मम प्रियं ध्रुवं
कुरुष्व राजात्मज शापितो मया ॥६२॥

हे राजपुत्र! आपका छोड़ा हुआ तीर निश्चय ही इस शाल के वृक्ष को विदीर्ण कर डालेगा। अब आप इस विषय में कुछ भी सोच विचार न करें और आपको मेरी शपथ है, आप अवश्य मेरा इतना प्रिय कार्य कर के दिखावें ॥६२॥

यथा हि तेजःसु वरः सदा रवि-
र्यथा हि शैलो हिमवान् महाद्रिषु।
यथा चतुष्पात्सु च केसरी वर-
स्तथा नराणामसि विक्रमे वरः ॥६३॥

इति एकादश सर्गः ॥

जैसे तेजस्वियों मे सूर्य, पर्वतों मे हिमालय और चौपायों में सिंह श्रेष्ठ है, वैसे ही पराक्रमशाली पुरुषों मे आप श्रेष्ठ हैं ॥६३॥

किष्किन्धाकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

जिसने सात साल के पेड़ों को और भूमि को एक ही बाण ने विदीर्ण कर डाला, उसके (अर्थात आपके) सामने युद्धक्षेत्र में कौन खड़ा रह सकता है? ॥६॥

अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्य परा मम ।
सुहृदं त्वां समासाद्य महेन्द्रवरुणोपमम् ॥१०॥

आज मेरा दुःख दूर हुआ और मुझे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। मैंने आपको इन्द्र और वरुण के तुल्य मित्र पाया है ॥१०॥

तमद्यैव प्रियार्थं मे वैरिणं भ्रातृरूपिणम् ।
वालिनं जहि काकुत्स्थ मया बद्धोऽयमञ्जलिः ॥११॥

हे श्रीराम! मैं आपके हाथ जोड़ता हूँ। आप मुझे प्रसन्न करने के लिए वैरी रूपी मेरे भाई को मारिए ॥११॥

ततो रामः परिष्वज्य सुग्रीवं प्रियदर्शनम् ।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो लक्ष्मणानुमतं वचः ॥१२॥

बड़े बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी के समान प्रियदर्शन सुग्रीव को गले लगा कर, उनसे कहा ॥१२॥

अस्माद्गच्छेम किष्किन्धां क्षिप्रं गच्छ त्वमग्रतः ।
गत्वा चाह्वय सुग्रीव वालिनं भ्रातृगन्धिनम्[1] ॥१३॥

हे सुग्रीव! अब यहाँ से शीघ्र ही किष्किन्धा को चलना चाहिए। तुम आगे जाकर अपने भ्रातृचिह्नक भाई को ललकारो ॥१३॥

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम् ।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन गहने वने ॥१४॥

---

१ भ्रातृगन्धिनम्—भ्रातृचिह्न। (गो०)

यह कह कर, श्रीराम सुग्रीवादि सब तुरन्त वालि की राजधानी किष्किन्धा पुरी में पहुँचे और सघन वन में पेड़ों की आड़ में छिप कर खड़े रहे ॥१४॥

सुग्रीवो व्यनदद्घोरं वालिनो ह्वानकारणात् ।
गाढं परिहितो[1] वेगान्नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम् ॥१५॥

सुग्रीव कपड़ा कमर में लपेट वालि को बुलाने के लिए बड़े ज़ोर से चिल्लाते रहे, माना आकाश को वे विदीर्ण कर डालेंगे ॥१५॥

ननाद सुमहानादं पूरयन्वै नभःस्थलम् ।
तं श्रुत्वा निनदं भ्रातुः क्रुद्धो वाली महाबलः ॥१६॥

उच्चस्वर से चिल्लाते हुए सुग्रीव के नाद से आकाश परिपूर्ण हो गया । तब भाई के उस नाद को सुन, महाबली वालि बहुत क्रुद्ध हुआ ॥१६॥

निष्पपात* सुसंरब्धो भास्करोऽस्ततटादिव ।
ततस्तु तुमुलं युद्धं वालिसुग्रीवयोरभूत् ॥१७॥

और ऐसे झपट कर आया, जैसे सूर्य अस्ताचल से निकल कर आते हैं । तदनन्तर वालि और सुग्रीव का तुमुल युद्ध हुआ ॥१७॥

गगने ग्रहयोर्घोरं बुधाङ्गारकयोरिव ।
तलैरशनिकल्पैश्च वज्रकल्पैश्च मुष्टिभिः १८॥

आकाश में बुद्ध और मङ्गल ग्रहों की तरह वालि और सुग्रीव, वज्र तुल्य थप्पड़ और वज्र तुल्य घूँसों से ॥१८॥

---

१ गाढं परिहितो—बलवृद्धये दृढबद्धपरिधानः । (गो०) * पाठान्तरे "निश्चक्राम" ।

जघ्नतुः समरेऽन्योन्यं भ्रातरौ क्रोधमूर्छितौ ।
ततो रामो धनुष्पाणिस्तावुभौ समुदीक्ष्य तु ॥१९॥

क्रोध में भर एक दूसरे को मारने लगे । उस समय श्रीरामचन्द्र जी धनुष बाण लिये हुए उन दोनों भाइयों को देखते रहे ॥१९॥

अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौ देवाविवाश्विनौ ।
यन्नावगच्छत्सुग्रीवं वालिनं वाऽपि राघवः ॥२०॥

दोनों एक ही शक्ल सूरत के थे, मानों दोनों अश्विनीकुमार हों । श्रीरामचन्द्र जी को यह न भेद जान पड़ा कि, उन दोनों में कौन सा वालि है और कौन सा सुग्रीव ॥२०॥

ततो न कृतवान् बुद्धिं मोक्तुमन्तकरं शरम् ।
एतस्मिन्नन्तरे भग्नः सुग्रीवस्तेन वालिना ॥२१॥

अपश्यन् राघवं नाथमृश्यमूकं प्रदुद्रुवे ।
क्लान्तो रुधिरसिक्ताङ्गः प्रहारैर्जर्जरीकृतः* ॥२२॥

उस से श्रीरामचन्द्र जी ने शत्रु के प्राण हरने वाले अपने बाण को न छोड़ा । उधर सुग्रीव, वालि से हार कर, श्रीरामचन्द्र जी को अपनी सहायता करने में उद्यत न देख, ऋष्यमूक पर्वत पर भाग गया । उस समय वालि के प्रहारों से सुग्रीव का बदन विक्षत हो रहा था । वह थक गया था और रक्त से लथपथ था । ॥२१॥२२॥

वालिनाऽभिद्रुतः क्रोधात्प्रविवेश महावनम् ।
तं प्रविष्टं वनं दृष्ट्वा वाली शापभयार्दितः ॥२३॥

---

* पाठान्तरे "जर्जरी"

वालि ने जब क्रोध में भर सुग्रीव का पीछा किया, तब सुग्रीव भाग कर महावन में चला गया। सुग्रीव को उस महावन में प्रविष्ट हुआ देख, वालि शाप के भय से त्रस्त हो ॥२३॥

मुक्तो ह्यसि त्वमित्युक्त्वा सन्निवृत्तो महाद्युतिः ।
राघवोऽपि सह भ्रात्रा सह चैव हनूमता ॥२४॥

बोला कि, जा तुझे छोड़ दिया। यह कह वह महाद्युतिमान् वालि वहाँ से लौट गया। श्रीरामचन्द्र जी भी लक्ष्मण और हनुमान के साथ ॥२४॥

तदेव वनमागच्छेत्सुग्रीवो यत्र वानरः ।
तं समीक्ष्यागतं रामं सुग्रीवः सहलक्ष्मणम् ॥२५॥
ह्रीमान् दीनमुवाचेदं वसुधामवलोकयन् ।
आह्वयस्वेति मामुक्त्वा दर्शयित्वा च विक्रमम् ॥२६॥

उस वन मे पहुँचे जहाँ सुग्रीव थे। सुग्रीव ने लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी को आते देख, लज्जा के मारे नीचे सिर झुका, पृथिवी की ओर देखते हुए दीनतापूर्वक कहा—हे राम! तुमने अपना पराक्रम दिखा, मुझसे तो कहा
ललकारो ॥२५॥२६॥

वैरिणा घातयित्वा च किमिदानीं त्वया कृतम् ।
तामेव वेलां वक्तव्यं त्वया राघव तत्त्वतः ॥२७॥

और शत्रु से मुझे खूब पिटवाया सो यह तुमने क्यों किया? हे राघव! यदि तुमको उसे नहीं मारना था तो यह बात तुमको स्पष्ट रूप से पहले ही कह देनी चाहिए थी ॥२७॥

वालिनं न निहन्मीति ततो नाहमितो व्रजे ।
तस्य चैवं ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥२८॥

कि, मैं वालि को न मारूँगा। यदि यह बात मुझे मालूम हो जाती तो मैं यहाँ से वहाँ क्यों जाता। इस प्रकार कहते हुए महात्मा सुग्रीव से ॥२८॥

करुणं दीनया वाचा राघवः पुनरब्रवीत्।
सुग्रीव श्रूयतां तात क्रोधश्च व्यपनीयताम् ॥२९॥
कारणं येन बाणोऽयं न मया स विसर्जितः।
अलङ्कारेण वेषेण[1] प्रमाणेन[2] गतेन च ॥३०॥
त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थः परस्परम्।
स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर ॥३१॥
विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिं[3] वां नोपलक्षये।
ततोहं रूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम ॥३२॥

श्रीरामचन्द्र जी ने करुणापूर्ण और नम्रतायुक्त शब्दों में पुनः कहा। हे सुग्रीव! क्रोध मत करो। मैंने जिस लिए तीर नहीं चलाया उसका कारण सुनो। तुम्हारी दोनों की सजावट, आकार, डील-डौल, चालढाल एक दूसरे से बिल्कुल मिलती जुलती है। यहाँ तक कि, तुम दोनों का कण्ठस्वर, तेज चितवन, विक्रम और बोलचाल में भी कुछ विशेषता नहीं देख पड़ती। हे वानरोत्तम, तुम दोनों की एकसी शकल होने के कारण मैं धोखे में पड़ गया ॥२९॥३०॥३१॥३२॥

नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिबर्हणम्।
जीवितान्तकरं घोरं सादृश्यात्तु विशङ्कितः ॥३३॥

---

१ वेषेण—आकारेण। (गो०) २ प्रमाणेन—दैर्घ्येण। (गो०)
३ व्यक्तिं—विशेषं। (गो०)

इसी लिए मैंने महावेगवान् शत्रुनाशकारी तीर नहीं छोड़ा। उस समय मेरे मन में तुम दोनों का एक सा रूप देख, सन्देह उठ खड़ा हुआ था और इससे प्राणघातक भयङ्कर बाण मैंने नहीं छोड़ा था ॥३३॥

मूलघातो न नौ स्याद्धि द्वयोरपि कृतो मया ।
त्वयि वीरे विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया ॥३४॥

हे कपिराज! यदि धोखे में और हड़बड़ी में वह बाण तुम्हारे लग जाता तो हम दोनों की जड़ ही कट जाती ॥३४॥

मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्याद्धरीश्वर ।
दत्ताभयवधो नाम पातकं महदुच्यते ॥३५॥

और हे हरीश्वर! मेरी मूर्खता और लड़कपन का सर्वत्र ढिंढोरा पिट जाता। इतना ही नहीं, बल्कि अभय दे कर, वध करने से मुझे बड़ा भारी पाप लगता ॥३५॥

अहं च लक्ष्मणश्चैव सीता च वरवर्णिनी ।
त्वदधीना वयं सर्वे वनेऽस्मिञ्शरणं भवान् ॥३६॥

क्या मैं, क्या लक्ष्मण और क्या श्रेष्ठवर्ण वाली जानकी—हम सब ही आपके अधीन हैं, क्योंकि यहाँ इस वन में आप ही एक मात्र हम लोगों के रक्षक हैं ॥३६॥

तस्माद्युध्यस्व भूयस्त्वं निःशङ्को* वानरेश्वर ।
† अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव पश्य वालिनमाहवे ॥३७॥
निरस्तमिषुणैकेन वेष्टमानं महीतले ।
अभिज्ञानं कुरुष्व त्वमात्मनो वानरेश्वर ॥३८॥

---

* पाठान्तरे "मा मा शङ्किष्व वानर" । † पाठान्तरे—"एतन्" ।

अतएव हे कपिराज ! तुम निःशङ्क होकर पुनः जा कर, वालि से लड़ो। तुम इसी मुहूर्त्त में देखोगे कि, संग्राम में मेरे एक बाण से गिर कर वाली भूमि पर छटपटा रहा है। किन्तु हे वानरराज ! तुम अपनी पहिचान के लिए कोई चिह्न धारण कर लो ॥३७॥३८॥

येन त्वामभिजानीयां द्वन्द्वयुद्धमुपागतम् ।
गजपुष्पीमिमां फुल्लामुत्पाट्य शुभलक्षणाम् ॥३९॥

कुरु लक्ष्मण कण्ठेऽस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
ततो गिरितटे जातामुत्पाट्य कुसुमाकुलाम् ॥४०॥

जिससे द्वन्द्वयुद्ध करते समय मैं तुमको पहिचान सकूं। हे लक्ष्मण ! तुम इस फूली हुई और शुभ लक्षण वाली नागपुष्पी लता को उखाड़ कर, महात्मा सुग्रीव के गले में बाँध दो। तब पर्वत के किनारे लगी हुई और फूली हुई ॥३९॥४०॥

लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कण्ठे व्यसर्जयत् ।
स तया शुशुभे श्रीमाँल्लतया कण्ठसक्तया ॥४१॥
मालयेव बलाकानां ससन्ध्य इव तोयदः ॥४२॥

नागपुष्पी को उखाड़, लक्ष्मण ने उसे सुग्रीव के कण्ठ में बाँध दिया। उस लता की माला पहिनने से सुग्रीव की ऐसी शोभा हुई, जैसी शोभा कि, बगलों की पंक्ति से सन्ध्याकालीन मेघ की होती है ॥४१॥४२॥

विभ्राजमानो वपुषा रामवाक्यसमाहितः ।
जगाम सह रामेण किष्किन्धां वालिपालिताम् ॥४३॥

॥ इति द्वादशः सर्गः ॥

अपने शरीर को इस प्रकार शोभायमान कर और श्रीरामचन्द्र के वचनों पर ध्यान दे कर, सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी को साथ ले, पुनः वालि की राजधानी किष्किन्धा पुरी को गए ॥४३॥

किष्किन्धाकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:—

त्रयोदशः सर्गः

—❀—

ऋश्यमूकात्स धर्मात्मा किष्किन्धां लक्ष्मणाग्रजः ।
जगाम सहसुग्रीवो वालिविक्रमपालिताम् ॥१॥

वे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र, सुग्रीव को साथ ले, ऋश्यमूक से, वालि के पराक्रम से पालित, किष्किन्धा पुरी को गए ॥१॥

समुद्यम्य महच्चाप रामः काञ्चनभूषितम् ।
शरांश्चादित्यसङ्काशान् गृहीत्वा रणसाधकान् ॥२॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष पर रोदा चढा कर और सूर्य की तरह चमचमाते और लड़ाई में काम आने वाले तीर, हाथ में ले लिये ॥२॥

अग्रतस्तु ययौ तस्य राघवस्य महात्मनः ।
सुग्रीवः संहतग्रीवो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥३॥

मजबूत गर्दन वाले सुग्रीव और महाबली लक्ष्मण, महात्मा श्रीरामचन्द्र के आगे आगे हो लिये ॥३॥

पृष्ठतो हनुमान् वीरो नलो नीलश्च वानरः ।
तारश्चैव महातेजा हरियूथपयूथपः ॥४॥

और श्रीरामचन्द्र जी के पीछे हनुमान, नल, नील और महा तेजस्वी तार हो लिये । तार यूथपतियों के यूथ का पति अर्थात् जरनल था ॥४॥

ते वीक्षमाणा वृक्षांश्च पुष्पभारावलम्बिनः ।
प्रसन्नाम्बुवहाश्चैव सरितः सागरङ्गमाः ॥५॥

रास्ते में वे पुष्पों के बोझ से झुके हुए पेड़ों को और स्वच्छ जल वाली एवं समुद्रगामिनी नदियों को देखते जाते थे ॥५॥

कन्दराणि च शैलांश्च निर्दराणि गुहास्तथा ।
शिखराणि च मुख्यानि दरीश्च प्रियदर्शनाः ॥६॥

वे कन्दराएँ, पहाड़, घाटियाँ, गुफाएँ, बड़े बड़े शिखर और देखने में सुन्दर दरें देखते जाते थे ॥६॥

वैदूर्यविमलैः पर्णैः पद्मैश्चाकाशकुड्मलैः ।
शोभितान् सजलान् मार्गे तटाकांश्च व्यलोकयन् ॥७॥

इन लोगों ने जाते जाते मार्ग में पन्ना के रंग के हरे रंग के पत्तों सहित खिले हुए कमल के फूलों से युक्त शोभायमान तालाब देखे ॥७॥

कारण्डैः सारसैर्हंसैर्वञ्जुलैर्जलकुक्कुटैः ।
चक्रवाकैस्तथा चान्यैः शकुनैश्चापि नादितान् ॥८॥

उन तालाबों में तट पर कारण्डव सारस हंस, वञ्जुल, जल कुक्कुट, चकवे तथा अन्य पक्षी बोल रहे थे ॥८॥

मृदुशष्पाङ्कुराहारान्निर्भयान् वनगोचरान् ।
चरतः सर्वतोऽपश्यन् स्थलीषु हरिणान् स्थितान् ॥९॥

उन लोगों को, मुलायम हरी दूब चरने वाले और निर्भय हो वन मे घूमने वाले हिरन, वहाँ की वन-स्थलियों में चारों ओर बैठे हुए देख पड़े ॥९॥

तटाकवैरिणश्चापि शुक्लदन्तविभूषितान् ।
घोरानेकचरान् वन्यान् द्विरदान् कूलघातिनः ॥१०॥

तड़ागों के वैरी, सफेद दाँतों वाले, भयङ्कर रूप वाले नदियों के करारों को गिराने वाले, जंगली हाथी भी देख पड़े ॥१०॥

मत्तान् गिरितटोत्कृष्टाञ्जङ्गमानिव पर्वतान् ।
वारणान् वारिदप्रख्यान् महीरेणुसमुक्षितान् ॥११॥

मतवाले, पर्वतों पर टक्कर मारने वाले, चलते पर्वत की तरह अथवा बड़े बड़े मेघों की तरह, धूल से नहाए हुए हाथियों को ॥११॥

वने वनचरांश्चान्यान् खेचरांश्च विहङ्गमान् ।
पश्यन्तस्त्वरिता जग्मुः सुग्रीववशवर्तिनः ॥१२॥

वानरों को तथा और भी अन्य प्रकार के वनचारी जीवों को और आकाशचारी अनेक पक्षियों को देखते हुए, सुग्रीव के वशवर्ती हो, वे सब चले जाते थे ॥१२॥

तेषां तु गच्छतां तत्र त्वरितं रघुनन्दनः ।
द्रुमषण्डं वनं दृष्ट्वा रामः सुग्रीवमब्रवीत् ॥१३॥

जिस समय वे सब बड़ी तेजी से चले जा रहे थे, उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने सघन वृक्षों वाले एक वनप्रदेश को देख, सुग्रीव से कहा ॥१३॥

एष मेघ इवाकाशे वृक्षषण्डः प्रकाशते ।
मेघसङ्घातविपुलः पर्यन्तकदलीवृतः ॥१४॥

हे मित्र! आकाशस्थ मेघ की तरह यह जो वृक्ष समूह है और जिसके चारों ओर केले के पेड़ लगे हैं, ॥१४॥

किमेतज्ज्ञातुमिच्छामि सखे कौतूहलं हि मे ।
कौतूहलापनयनं कर्तुमिच्छाम्यहं त्वया ॥१५॥

यह क्या है? इसे मैं जानना चाहता हूँ। क्योंकि इसे जानने का मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है। सो तुम मेरे इस कौतूहल को दूर करो ॥१५॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
गच्छन्नेवाचचक्षेऽथ सुग्रीवस्तन्महद्वनम् ॥१६॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, चलते चलते सुग्रीव ने उस महावन का वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥१६॥

एतद्राघव विस्तीर्णमाश्रमं श्रमनाशनम् ।
उद्यानवनसम्पन्नं स्वादुमूलफलोदकम् ॥१७॥

हे रघुनन्दन! यह लंबा चौड़ा और श्रम को हरने वाला एक आश्रम है। यह उद्यान, वन, स्वादिष्ट कन्द मूल फल और जल से परिपूर्ण है ॥१७॥

अत्र सप्तजना नाम मुनयः संशितव्रताः ।
सप्तैवासन्नधःशीर्षा नियतं जलशायिनः ॥१८॥

इसमें बड़े कठोर व्रतधारी सप्तजन नामक सात मुनि तप किया करते थे। तपस्या करते समय वे ऊपर को पैर और नीचे को सिर किए रहते थे और नित्य जल में शयन करते थे ॥१८॥

सप्तरात्रकृताहारा वायुना वनवासिनः ।
दिवं वर्षशतैर्याताः सप्तभिः सकलेवराः ॥१९॥

वे वनवासी मुनि सात दिन पीछे एक दिन केवल वायुभक्षण कर लेते थे। इस प्रकार उन्होंने सात सौ वर्षों तक तप किया और अन्त मे सातों के सातों सदेह स्वर्ग को सिधारे ॥१९॥

तेषामेवं प्रभावानां द्रुमप्राकारसंवृतम् ।
आश्रमं सुदुराधर्षमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥२०॥

उन्हीं मुनियों के प्रभाव से यह आश्रम वृक्षों से घिरा हुआ है और इसमें इन्द्र सहित और असुर भी नहीं जा सकते ॥०२॥

पक्षिणो वर्जयन्त्येतत्तथाऽन्ये वनचारिणः ।
विशन्ति मोहाद्ये तत्र निवर्तन्ते न ते पुनः ॥२१॥

पक्षी अथवा अन्य जगली कोई जीव इसमें नहीं जाते और जो कोई भूला भटका वहाँ चला जाता है, वह फिर वहाँ से लौट कर नहीं आता, अर्थात् वहीं मर जाता है ॥२१॥

विभूषणरवाश्चात्र श्रूयन्ते सकलाक्षरः ।
तूर्यगीतस्वनाश्चात्र गन्धो दिव्यश्च राघव ॥२२॥

हे राघव ! इसमें अप्सराओं का मधुर गान और गहनों की झङ्कार, और बाजों की ध्वनि सुन पड़ती है और बड़ी सुगन्ध भी आया करती है ॥२२॥

त्रेताग्नयोऽपि दीप्यन्ते धूमो ह्यत्र प्रकाशते ।
वेष्टयन्निव वृक्षाग्रान् कपोताङ्गारुणो घनः ॥२३॥

इस आश्रम में तीनों प्रकार के अग्नि (अर्थात् गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि और श्रोत्राग्नि) प्रज्वलित रहते हैं। उनका यह कबूतर के अंग के रंग जैसा कुछ कुछ लाल धुआँ, इन सब वृक्षों पर छाया रहता है ॥२३॥

एते वृक्षाः प्रकाशन्ते धूमसंसक्तमस्तकाः ।
मेघजालप्रतिच्छन्ना वैडूर्यगिरयो यथा ॥२४॥

देखो ये वृक्ष, जिनकी फुनगियाँ धुएँ से ढकी हैं ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे मेघों से ढका हुआ पन्ने का पर्वत हो। २४॥

कुरु प्रणामं धर्मात्मंस्तान् समुद्दिश्य राघव ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रयतः प्रयताञ्जलिः ॥२५॥

हे धर्मात्मन्! हे राघव! तुम लक्ष्मण सहित हाथ जोड़ कर, उन मुनियों के उद्देश्य से प्रणाम करो ॥२५॥

प्रणमन्ति हि ये तेषां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
न तेषामशुभं किञ्चिच्छरीरे राम दृश्यते ॥२६॥

हे श्रीरामचन्द्र! जो लोग इन आत्मज्ञानी पुरुषों को प्रणाम करते हैं, उनके शरीर में जरा सा भी पाप नहीं रहता ॥२६॥

ततो रामः सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन कृताञ्जलिः ।
समुद्दिश्य महात्मानस्तानृषीनभ्यवादयत् ॥२७॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने भाई सहित, हाथ जोड़कर उन महात्मा ऋषियों को प्रणाम किया ॥२७॥

अभिवाद्य तु धर्मात्मा रामो भ्राता च लक्ष्मणः ।
सुग्रीवो वानराश्चैव जग्मुः संहृष्टमानसाः ॥२८॥

उनको प्रणाम कर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण, सुग्रीव तथा अन्य वानर प्रसन्न होते हुए गमन करने लगे ॥२८॥

ते गत्वा दूरमध्वानं तस्मात्सप्तजनाश्रमात् ।
ददृशुस्तां दुराधर्षां किष्किन्धां वालिपालिताम् ॥२९॥

सप्तजन आश्रम से बहुत दूर चलने के बाद उन लोगों ने वालि की दुर्द्धर्ष किष्किन्धा नगरी देखी ॥२९॥

ततस्तु रामानुजरामवानराः
प्रगृह्य शस्त्राण्युदितार्कतेजसः ।
पुरीं सुरेशात्मजवीर्यपालितां
वधाय शत्रोः पुनरागताः सह ॥३०॥

॥इति त्रयोदशः सर्गः॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण तथा अन्य वानर सूर्य की तरह चमचमाते शस्त्रों को ले, शत्रु का वध करने के लिए, इन्द्रपुत्र वालि की राजधानी किष्किन्धा में फिर पहुँचे ॥३०॥

किष्किन्धाकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

चतुर्दशः सर्गः

—❀—

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिपालिताम् ।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन्गहने वने ॥१॥

वे सब लोग शीघ्रता पूर्वक वालि द्वारा पालित किष्किन्धा के समीप पहुँच, सघन वन में पेड़ों की आड़ में खड़े हो गये ॥१॥

विसार्य* सर्वतो दृष्टिं कानने काननप्रियः ।
सुग्रीवो विपुलग्रीवः क्रोधमाहारयद्भृशम् ॥२॥

मोटी गर्दन वाले सुग्रीव चारों ओर वन में दृष्टि फैला कर, युद्ध करने के लिए अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥२॥

ततः स निनदं घोरं कृत्वा युद्धाय चाह्वयत् ।
परिवारैः परिवृतो नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम् ॥३॥

और बड़ी ज़ोर से चिल्ला कर युद्ध के लिए वालि को ललकारने लगे । उनका वह नाद चारों ओर व्याप्त हो गया और उस समय ऐसा जान पड़ा मानों आकाश फटा जाता है ॥३॥

गर्जन्निव महामेघो वायुवेगपुरःसरः ।
अथ बालार्कसदृशो दृप्तसिंहगतिस्तदा ॥४॥

वायु के वेग से चलते हुए बड़े बादल की तरह गर्ज कर, बालसूर्य सदृश सिंह जैसी चाल चलने वाले ॥४॥

दृष्ट्वा रामं क्रियादक्षं सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत् ।
हरिवागुरया व्याप्तां तप्तकाञ्चनतोरणाम् ॥५॥

क्रियाकुशल श्रीराम को देख, सुग्रीव बोले, हे रामचन्द्र ! वानरों को फँसाने वाले पाशों से युक्त तथा तपाए हुए काञ्चन की बन्दनवारों से भूषित, ॥५॥

[टिप्पणी — यह बात ध्यान देने की है कि [illegible] किष्किन्धा की [illegible] ऐसे जाल [illegible] जिनमें शत्रु वानर फँसने [illegible] ।

[illegible] प्राकारयन्त्राढ्यां किष्किन्धां वालिनः पुरीम् ।
प्रतिज्ञा या त्वया वीर कृता वालिवधे पुरा ॥६॥

---

* पाठान्तरे—“[illegible]” । पाठान्तरे—“[illegible]”

परकोटे और कलों से सुसज्जित, वालि की किष्किन्धा पुरी को देखिए। हे वीर! वालि के बध के लिए पहिले तुमने जो प्रतिज्ञा की थी ॥६॥

सफलां तां कुरु क्षिप्रं लतां काल इवागतः ।
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सुग्रीवेण स राघवः ॥७॥

उसे आप उसी प्रकार शीघ्र पूरी कीजिए जिस प्रकार ऋतु प्राप्त होने पर लताएँ फूलने फलने लगती हैं। जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी से सुग्रीव ने यह कहा ॥७॥

तमथोवाच सुग्रीवं वचनं शत्रुसूदनः ।
कृताभिज्ञानचिह्नस्त्वमनया गजसाह्वया ॥८॥
लक्ष्मणेन समुत्पाट्य येषा कण्ठे कृता तव ।
शोभसे ह्यधिकं वीर लतया कण्ठसक्तया ॥९॥
विपरीत इवाकाशे सूर्यो नक्षत्रमालया ।
अद्य वालिसमुत्थं ते भयं वैरं च वानर ॥१०॥

तब शत्रुओं का संहार करने वाले श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव से बोले—हे वीर! तुम्हारी पहिचान के लिए, लक्ष्मण ने गजपुष्पी लता को उखाड़, तुम्हारे कण्ठ में बाँध ही दिया है। इस कारण तुम्हारी ऐसी शोभा हो रही है जैसे आकाश में नक्षत्रों की माला के समीप जाने से सूर्य की होती है। हे वानर! आज मैं वालि सम्बन्धी तुम्हारा भय और वैर ॥८॥९॥१०॥

एकेनाहं प्रमोक्ष्यामि बाणमोक्षेण संयुगे ।
मम दर्शय सुग्रीव वैरिणं भ्रातृरूपिणम् ॥११॥

युद्ध में एक ही बाण चला कर, नष्ट कर दूँगा। हे सुग्रीव! तुम अपने भ्रातृरूपी वैरी को मुझे दिखला भर दो ॥११॥

वाली विनिहतो यावद्वने पांसुषु चेष्टते ।
यदि दृष्टिपथं प्राप्तो जीवन् स विनिवर्तते ॥१२॥

वालि आज मेरे बाण से घायल हो कर, वन में धूल के ऊपर गिर कर छटपटावेगा। यदि वह मेरे सामने आ कर जीता लौट जाय ॥१२॥

ततो दोषेण मा गच्छेत्सद्यो गर्हेच्च मा भवान् ।
प्रत्यक्षं सप्त ते साला मया बाणेन दारिताः ॥१३॥

तो आप मुझे दोष देना और फिर मेरे पास मत आना तथा मुझे धिक्कारना। यह तो आप देख ही चुके हैं कि, मैंने एक ही बाण से सातों ताल वृक्षों का भेदन कर दिया था ॥१३॥

तेनावेहि बलेनाद्य वालिनं निहतं मया ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे वीर कृच्छ्रेऽपि तिष्ठता ॥१४॥

इससे आप को विश्वास हो जाना चाहिये कि, मैं वालि को मार सकता हूँ। अतः आज आप वालि को मरा हुआ ही समझें। हे वीर! बड़ी बड़ी कठिनाइयों के पड़ने पर भी, मैं झूठ कभी नहीं बोला ॥१४॥

धर्मलोभपरीतेन[1] न च वक्ष्ये कथञ्चन ।
सफलां च करिष्यामि प्रतिज्ञां जहि संभ्रमम् ॥१५॥
प्रसूतं कलमं क्षेत्रे वर्षेणेव शतक्रतुः ।
तदाह्वाननिमित्तं त्वं वालिनो हेममालिनः ॥१६॥

और न कभी बोलूंगा। इस समय मुझे धर्म का लोभ लगा हुआ है। तुम अपने मन से अपना सन्देह निकाल डालो। मैं अपनी प्रतिज्ञा इसी प्रकार सफल करूंगा, जिस प्रकार इन्द्र जल बरसा

1 धर्मलोभपरीतेन—धर्मलंघनभीतेनेत्यर्थः। (गो०)

आकाश को विदीर्ण करते हुए भयङ्कर नाद करने लगे। इस नाद से डर कर गायें सहम गईं और वैसे ही भाग खड़ी हुईं जैसे अराजकता फैलने पर परपुरुष द्वारा सिर के केश खैंचे जाने पर कुलीन स्त्रियाँ सहम जाती और भाग खड़ी होती हैं ॥२०॥

द्रवन्ति च मृगाः शीघ्र भग्ना इव रणे हयाः ।
पतन्ति च खगा भूमौ क्षीणपुण्या इव ग्रहाः ॥२१॥

लड़ाई के मैदान में चाबुक से पीटे हुए घोड़ों की तरह मृगगण इधर उधर दौड़ने लगे। उड़ते हुए पक्षी, क्षीण-पुण्य ग्रहों की तरह पृथिवी पर गिरने लगे ॥२१॥

ततः स जीमूतगणप्रणादो
नादं व्यमुञ्चत्त्वरया प्रतीतः ।
सूर्यात्मजः शौर्यविवृद्धतेजाः
सरित्पतिर्वानिलचञ्चलोर्मिः ॥२२॥

॥ इति चतुर्दशः सर्गः ॥

सूर्यपुत्र सुग्रीव, जिसका तेज, शौर्य और बल बहुत बढ़ गया था, श्रीरामचन्द्र जी के वचनों पर विश्वास कर, मेघ की तरह इस प्रकार नाद कर रहा था, जिस प्रकार वायु से प्रेरित चञ्चल तरङ्गों वाला समुद्र गरजता है ॥२२॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

पञ्चदशः सर्गः

—:०:—

अथ तस्य निनादं तु सुग्रीवस्य महात्मनः ।
शुश्रावान्तःपुरगतो वाली भ्रातुरमर्षणः ॥१॥

अन्तःपुर में स्त्रियों के बीच बैठे हुए वालि से सुग्रीव का सिंह-नाद सुन कर न रहा गया ॥१॥

श्रुत्वा तु तस्य निनदं सर्वभूतप्रकम्पनम् ।
मदश्चैकपदे नष्टः क्रोधश्चापतितो महान् ॥२॥

सब प्राणियों को कंपायमान करने वाले उस सिंहनाद को सुन कर, वालि का सारा नशा सहसा उतर गया और वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥२॥

स तु रोषपरीताङ्गो वाली सन्ध्यातपप्रभः ।
उपरक्त[1] इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥३॥

सुवर्ण के समान दीप्तिमान् वालि क्रुद्ध हो राहुग्रस्त सूर्य की तरह तत्काल ही प्रभाहीन जान पड़ने लगा ॥३॥

वाली दंष्ट्राकरालस्तु क्रोधाद्दीप्ताग्निसन्निभः ।
भात्युत्पतितपद्माभः समृणाल इव ह्रदः ॥४॥

मारे क्रोध के वालि अपने कराल दाँत पीसने लगा, उसकी दोनों आँखें दहकते हुए अंगारे की तरह लाल हो गई। उस समय वह पुष्पहीन कमलदण्डों से युक्त जलाशय की तरह दिखलाई पड़ता था ॥४॥

शब्दं दुर्मर्षणं श्रुत्वा निष्पपात ततो हरिः ।
वेगेनचरणन्यासैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥५॥

सुग्रीव के न सहने योग्य सिंहनाद को सुन, वालि जमीन पर पैर पटकता बड़े वेग से निकला। उसके पैर पटकने से ऐसा जान पड़ता था, मानो वह जमीन को विदीर्ण कर डालेगा ॥५॥

---

[1] उपरक्तो—राहुग्रस्तो। (गो०)

तं तु तारा परिष्वज्य स्नेहाद्दर्शितसौहृदा ।
उवाच त्रस्तासम्भ्रान्ता हितोदर्कमिदं वचः ॥६॥

यह देख तारा भयभीत हो बहुत घबड़ाई और प्रेम सहित वालि को आलिङ्गन कर यह हित की बात बोली ॥६॥

साधु क्रोधमिमं वीर नदीवेगमिवागतम् ।
शयनादुत्थितः काल्यं त्यज भुक्तामिव स्रजम् ॥७॥

हे वीर ! नदी के वेग की तरह उमड़े हुए इस क्रोध को तुम इसी तरह त्याग दो, जिस तरह शय्या से सो कर उठा हुआ पुरुष, रात की पहिनी हुई फूलमाला को त्याग देता है ॥७॥

काल्यमेतेन संग्रामं करिष्यसि हरीश्वर ।
वीर ते शत्रुबाहुल्यं फल्गुता वा न विद्यते ॥८॥

हे कपिराज ! कल जा कर तुम सुग्रीव के साथ लड़ लेना। हे वीर ! यद्यपि न तो तुम्हारा शत्रु तुमसे बल में अधिक है और न तुमसे किसी बात में तुम कम हो ॥८॥

सहसा तव निष्क्रामो मम तावन्न रोचते ।
श्रूयतां चाभिधास्यामि यन्निमित्तं निवार्यसे ॥९॥

तथापि इस समय तुम्हारा घर से बाहर निकलना मुझे पसंद नहीं। मैं जिस लिए तुम्हें रोकती हूँ, उसका कारण भी बतलाती हूँ। सुनिए ॥९॥

पूर्वमापतितः क्रोधात्स त्वामाह्वयते युधि ।
निष्पत्य च निरस्तस्ते हन्यमानो दिशो गतः ॥१०॥

पहले जब सुग्रीव ने महाक्रोध कर, तुम्हें युद्ध के लिए ललकारा था, तब तुम गए और उसे मार कर भगा दिया था ॥१०॥

त्वया तस्य निरस्तस्य पीडितस्य विशेषतः ।
इहैत्य पुनराह्वानं शङ्कां जनयतीव मे ॥११॥

हाल ही में तुम्हारे हाथ से पिट कर और भगाया जा कर भी वह फिर तुम्हें ललकार रहा है—इससे मेरे मन में बड़ा सन्देह उत्पन्न होता है ॥११॥

दर्पश्च व्यवसायश्च यादृशस्तस्य नर्दतः ।
निनादस्य च संरम्भो नैतदल्पं हि कारणम् ॥१२॥

क्योंकि इस समय उसका अहङ्कार, उद्योग, और नाद का ढग जैसा है, उस पर ध्यान देने से कहना पड़ता है कि, यह कोई साधारण बात नहीं है अथवा इसका कारण साधारण नहीं है ॥१२॥

नासहायमहं मन्ये सुग्रीवं तमिहागतम् ।
अवष्टब्धसहायश्च यमाश्रित्यैष गर्जति ॥१३॥

मैं तो समझती हूँ कि बिना सहायता पाए सुग्रीव यहाँ आने वाला नहीं। उसे अवश्य कोई सहायक मिल गया है, जिसके बल बूते पर यह ऐसा गर्ज रहा है ॥१३॥

प्रकृत्या निपुणश्चैव बुद्धिमांश्चैव वानरः ।
अपरीक्षितवीर्येण सुग्रीवः सह नैष्यति ॥१४॥

सुग्रीव स्वभाव ही से चतुर और बुद्धिमान वानर है। उसने बिना भली भाँति बल विक्रम की जाँच किए कभी किसी से मैत्री न की होगी ॥१४॥

पूर्वमेव मया वीर श्रुतं कथयतो वचः ।
अङ्गदस्य कुमारस्य वक्ष्यामि त्वा हितं वचः ॥१५॥

हे वीर ! अंगद के मुख से पहिले मैं जो बातें सुन चुकी हूँ, वे हित कर बातें तुमसे कहती हूँ ॥१५॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं वनान्तमुपनिर्गतः ।
प्रवृत्तिस्तेन कथिता चारैराप्तैर्निवेदिता ॥१६॥

कुमार अंगद वन में घूमने गया था। वहाँ इसे विश्वस्त जासूसों से मालूम हुआ कि ॥१६॥

अयोध्याधिपतेः पुत्रौ शूरौ समरदुर्जयौ ।
इक्ष्वाकूणां कुले जातौ प्रथितौ रामलक्ष्मणौ ॥१७॥

अयोध्या के महाराज दशरथ के दो पुत्र जो बड़े शूरवीर होने के कारण, युद्ध में अजेय हैं और इक्ष्वाकुकुलोद्भव हैं तथा जिनके नाम श्रीराम और लक्ष्मण प्रसिद्ध हैं ॥१७॥

सुग्रीवप्रियकामार्थं प्राप्तौ तत्र दुरासदौ ।
तव भ्रातुर्हि विख्यातः सहायो रणकर्कशः ॥१८॥

सुग्रीव का अभीष्ट कार्य करने के लिए, वे दोनों दुर्द्धर्ष वीर कटिबद्ध हुए हैं। वे ही प्रसिद्ध रणकर्कश तुम्हारे भाई सुग्रीव के सहायक बने हैं ॥१८।

रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः ।
निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः ॥१९॥

इसमें श्रीरामचन्द्र, जो शत्रुओं का मर्दन करने के लिए प्रलयकाल के अग्नि की तरह बढ़े हैं, वे साधुओं के रक्षक, आपद-ग्रस्तों के शरण और दीन दुखियों के एकमात्र सहारे हैं ॥१९॥

आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशे निरतः पितुः ॥२०॥

धातूनामिव शैलेन्द्रो गुणानामाकरो महान् ।
तत्क्षमं न विरोधस्ते सह तेन महात्मना ॥२१॥

वे आर्त्तों के अवलम्ब, यश के पात्र, लौकिक ज्ञान और शास्त्र-जन्य ज्ञान से सम्पन्न, पितृआज्ञाकारी, धातुओं की खान, हिमालय की तरह गुणों की महाखान हैं। उन महात्मा श्रीरामचन्द्रजी से विरोध करना तुमको उचित नहीं ॥२०॥२१॥

दुर्जयेनाप्रमेयेन रामेण रणकर्मसु ।
शूर वक्ष्यामि ते किञ्चिन्न चेच्छाम्यभ्यसूयितुम् ॥२२॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र संग्राम में दुर्जेय हैं। हे शूर! मैं तुमसे जो कुछ कहती हूँ तुम उस मेरे कथन को बुरा न मानना ॥२२॥

श्रूयतां क्रियतां चैव तव वक्ष्यामि यद्धितम् ।
यौवराज्येन सुग्रीवं तूर्णं साध्वभिषेचय ॥२३॥

मैं तुम्हारे हित की जो बात कहती हूँ, उसे सुनो और तदनुसार कार्य करो। तुम अभी सुग्रीव को युवराजपद पर अभिषिक्त कर दो ॥२३॥

विग्रहं मा कृथा वीर भ्रात्रा राजन्यवीयसा* ।
अहं हि ते क्षमं मन्ये तेन रामेण सौहृदम् ॥२४॥

तुम उसके साथ झगड़ा टंटा मत करो। क्योंकि सुग्रीव तुम्हारा छोटा भाई है। मेरी यह भी इच्छा है कि, तुम्हारी, श्रीरामचन्द्र जी से प्रीति हो जाय ॥२४॥

सुग्रीवेण च संप्रीतिं वैरमुत्सृज्य दूरतः ।
लालनीयो हि ते भ्राता यवीयानेष वानरः ॥२५॥

---

* पाठान्तरे—"राजन्बलीयसा"

और तुम वैरभाव छोड़ कर सुग्रीव से भी मेल कर लो। वह तुम्हारा छोटा भाई है, तुम्हें तो उसका लालन पालन करना चाहिए ॥२५॥

तत्रस्थो वा सन्निहस्थो वा सर्वथा बन्धुरेव ते ।
न हि तेन समं बन्धुं भुवि पश्यामि कञ्चन ॥२६॥

चाहे वह तुमसे दूर रहे अथवा तुम्हारे समीप, पर है तो तुम्हारा भाई ही। मुझे तो सारे संसार में उस जैसा भाई कोई नहीं देख पड़ता ॥२६॥

दानमानादिसत्कारैः कुरुष्व प्रत्यनन्तरम् ।
वैरमेतत्समुत्सृज्य तव पार्श्वे स तिष्ठतु ॥२७॥

अब दान मानादि से उसका सत्कार कर, उसे अपना लो। फिर तो वह स्वयं ही वैर छोड़ तुम्हारे पास रहने लगेगा ॥२७॥

सुग्रीवो विपुलग्रीवस्तव बन्धुः सदा मतः ।
भ्रातृसौहृदमालम्ब नान्या गतिरिहास्ति ते ॥२८॥

मोटी गरदन वाला सुग्रीव तुम्हारा सदा का प्यारा बन्धु है। अब तुम उसके साथ सौहार्द स्थापन कर लो। इसको छोड़ तुम्हारे कल्याण का और कोई उपाय नहीं है ॥२८॥

यदि ते मत्प्रियं कार्यं यदि चावैषि मां हिताम् ।
याच्यमानः प्रयत्नेन साधु वाक्यं कुरुष्व मे ॥२९॥

यदि तुम मेरी प्रसन्नता के लिए कोई काम करना चाहते हो और मुझे अपनी हितैषिणी मानते हो, तो मैं जो यह प्रार्थना करती हूँ, उसे मान के [illegible] हितकर बात, तदनुसार मेरे वचन के माफिक कार्य करो ॥२९॥

प्रसीद पथ्यं शृणु जल्पितं हि मे
न रोषमेवानुविधातुमर्हसि ।
क्षमो हि ते कोशलराजसूनुना
न विग्रहः शक्रसमानतेजसा ॥३०॥

तुम मेरे हितकर वचनों को सुन कर, क्रुद्ध न होना। इन्द्र-तुल्य तेजस्वी उन कोशलराजपुत्र के साथ तुम्हारा विरोध करना अच्छा नहीं ॥३०॥

तदा हि तारा हितमेव वाक्यं
त वालिनं पथ्यमिदं बभाषे ।
न रोचते तद्वचनं हि तस्य
कालाभिपन्नस्य विनाशकाले ॥३१॥

॥ इति पञ्चदशः सर्गः ॥

तारा गिड़गिड़ा कर, इस प्रकार पथ्यरूप हितकर वचन कह रही थी, किन्तु वालि को वे वचन अच्छे नहीं लगते थे; क्योंकि उसके सिर पर तो काल खेल रहा था ॥३१॥

किष्किन्धाकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ

—*—

षोडशः सर्गः

—*—

तामेवं ब्रुवतीं तारां ताराधिपनिभाननाम् ।
वाली निर्भर्त्सयामास वचनं चेदमब्रवीत् ॥१॥

जब चन्द्रमुखी तारा ने वालि से इस प्रकार कहा तब वह तारा को धिक्कारता हुआ यह वचन बोला ॥१॥

गर्जतोऽस्य च संरम्भं भ्रातुः शत्रोर्विशेषतः ।
मर्षयिष्याम्यहं केन कारणेन वरानने ॥२॥

हे वरानने (श्रेष्ठमुखवाली)! मेरा वह भाई तो मेरा बड़ा शत्रु है। फिर वह जब इस प्रकार गर्वसहित गरज रहा है, तब भला मैं उसके इस गर्जन तर्जन को कैसे सह सकता हूँ ॥२॥

अधर्षितानां शूराणां समरेष्वनिवर्त्तिनाम् ।
धर्षणामर्षणं भीरु मरणादतिरिच्यते ॥३॥

हे भीरु! देख, जो शूर कभी किसी से पराजित नहीं हुए और जिन्होंने रणक्षेत्र में शत्रु को कभी पीठ नहीं दिखाई, उनके लिए इस प्रकार का तिरस्कार सहना मरने से भी गया बीता है ॥३॥

सोढुं न च समर्थोऽहं युद्धकामस्य संयुगे ।
सुग्रीवस्य च संरम्भं हीनग्रीवस्य गर्जतः ॥४॥

रणक्षेत्र में युद्धाभिलाषी हीनग्रीव सुग्रीव का अभिमानसहित गर्जना, मैं किसी तरह भी नहीं सह सकता ॥४॥

न च कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति ॥५॥

श्रीरामचन्द्र जी का विचार कर, तू मेरे लिए दुःखी मत हो। क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी धर्मज्ञ और कृतज्ञ हैं। वे ऐसा पाप कर्म क्योंकर करने ॥५॥

निवर्तस्व सह स्त्रीभिः कथं भूयोऽनुगच्छसि ।
सौहृदं दर्शितं तारे मयि भक्तिः कृता त्वया ॥६॥

तू स्त्रियों के साथ लौट जा। तू क्यों फिर मेरे पीछे चली आती है। हे तारे! तुमको मेरे प्रति जितनी हितैषिता और प्रीति दिखलानी चाहिए थी, उतनी तू दिखला चुकी ॥६॥

प्रतियोत्स्याम्यहं गत्वा सुग्रीवं जहि संभ्रमम्।
दर्पमात्रं विनेष्यामि न च प्राणैर्विमोक्ष्यते ॥७॥

मैं तो सुग्रीव से युद्ध कर, उसका दर्प चूर्ण करूँगा, किन्तु उसकी जान न लूँगा। अतः तू विकल न हो ॥७॥

अहं ह्याजिस्थितस्यास्य करिष्यामि यथेप्सितम्।
वृक्षैर्मुष्टिप्रहारैश्च पीडितः प्रतियास्यति ॥८॥

युद्ध के लिए खड़े सुग्रीव का जैसा कि तू कहती है, मैं वध न करूँगा। अत मैं केवल वृक्षो और घूँसों के प्रहार से उसे पीड़ित करूँगा, जिससे वह अपनी गुफा में लौट कर, चला जाय ॥८॥

न मे गर्वितमायस्तं सहिष्यति दुरात्मवान्।
कृतं तारे सहायत्वं[१] सौहृदं दर्शितं मयि ॥९॥

हे तारे! वह दुरात्मा मेरी गर्वभरी चोट न सह सकेगा। तूने परामर्श दे अपना सौहार्द प्रकट किया है ॥९॥

शपितासि मम प्राणैर्निवर्तस्व जनेन च।
अहं जित्वा निवर्तिष्ये तमहं भ्रातरं रणे ॥१०॥

तुझे मेरे प्राणों की शपथ (मेरी जान की कसम) है। तू अब इन सब स्त्रियों के साथ लौट जा। मैं युद्ध में भाई को केवल हरा कर ही लौट आऊँगा ॥१०॥

(१ सहायत्व— बुद्धिसाहाय्य। (गो०)

तं तु तारा परिष्वज्य वालिनं प्रियवादिनी ।
चकार रुदती मन्दं दक्षिणा[१] सा प्रदक्षिणम् ॥११॥

प्रियवादिनी और अत्यन्त चतुरा तारा, वालि के शरीर से लिपट कर धीरे धीरे (मन्द स्वर से) रोई और फिर उसने वालि की परिक्रमा की ॥११॥

ततःस्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रवद्विजयैषिणी ।
अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता ॥१२॥

फिर वालि के विजय के लिए मन्त्रयुक्त मङ्गलाचार कर, शोकाकुल हो, अन्य स्त्रियोंसहित वह रनवास में चली गई ॥१२॥

प्रविष्टायां तु तारायां सह स्त्रीभिः स्वमालयम् ।
नगरान्निर्ययौ क्रुद्धो महासर्प इव श्वसन् ॥१३॥

स्त्रियों सहित तारा के अन्तःपुर में चले जाने पर, वालि क्रुद्ध सर्प की तरह फुंसकारता हुआ, किष्किन्धा से बाहिर निकला ॥१३॥

स निःश्वस्य महातेजा वाली परमरोषणः ।
सर्वतश्चारयन् दृष्टिं शत्रुदर्शनकाङ्क्षया ॥१४॥

महाधर्मा वालि ने बाहिर निकल और रोष से भर, शत्रु को खोजने की आकांक्षा से, चारों ओर देखा ॥१४॥

स ददर्श ततः श्रीमान सुग्रीवं हेमपिङ्गलम् ।
सुसंवीतमवष्टब्धं दीप्यमानमिवानलम् ॥१५॥

---

[१] दक्षिणा—अभिमतकर्मणि कुशला (गो०)।

तदनन्तर सोने की तरह पीले नेत्रवाले सुग्रीव को, कमर कसे और युद्ध के लिये तैयार देखा। उस समय सुग्रीव दहकती हुई आग की तरह जान पड़ते थे ॥१५॥

स तं दृष्ट्वा महावीर्यं सुग्रीवं पर्यवस्थितम् ।
गाढं परिदधे वासो वाली परमरोषणः ॥१६॥

इस प्रकार लड़ने के लिए तैयार सुग्रीव को देख, वालि ने भी अत्यन्त क्रुद्ध हो, कपड़े से अपनी कमर कस कर बाँधी ॥१६॥

स वाली गाढसंवीतो मुष्टिमुद्यम्य वीर्यवान् ।
सुग्रीवमेवाभिमुखो ययौ योद्धुं कृतक्षणः[1] ॥१७॥

पराक्रमी वालि कमर कस और घूँसा तान, सुग्रीव से लड़ने के लिए अवसर खोजता हुआ चला ॥१७॥

श्लिष्टमुष्टिं समुद्यम्य संरब्धतरमागतः ।
सुग्रीवोऽपि तमुद्दिश्य वालिनं हेममालिनम् ॥१८॥

सुग्रीव भी मूका तान और अत्यन्त क्रुद्ध हो सोने का हार धारण किए हुए वालि के समीप गए ॥१८॥

तं वाली क्रोधताम्राक्षः सुग्रीवं रणपण्डितम् ।
आपतन्तं महावेगमिदं वचनमब्रवीत् ॥१९॥

तब वालि, क्रोध के मारे रक्तनयन और रणविशारद सुग्रीव को महावेग से अपनी ओर आते देख, यह बोला ॥१९॥

एष मुष्टिर्मया बद्धो गाढः सन्निहिताङ्गुलिः ।
मया वेगविमुक्तस्ते प्राणानादाय यास्यति ॥२०॥

---

1 कृतक्षणः—लब्धावसरो। (गो०)

देख, सब उँगलियों को मोड़ कर, मैंने जो यह घूँसा बाँधा है, सो जब मैं ज़ोर से इसे तेरे मारूँगा, तब इसके लगने से तेरे प्राण निकल जायँगे ॥२०॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः क्रुद्धो वालिनमब्रवीत् ।
तव चैव हरन् प्राणान् मुष्टिः पततु मूर्धनि ॥२१॥

वालि के यह कहने पर सुग्रीव ने क्रुद्ध हो वालि से, कहा—हमारा घूँसा भी तेरे सिर पर लगने से तेरे प्राण हर लेगा ॥२१॥

ताडितस्तेन संक्रुद्धस्समभिक्रम्य वेगितः ।
अभवच्छोणितोद्गारी सोत्पीड इव पर्वतः ॥२२॥

तब वालि ने अत्यन्त क्रुद्ध हो कर, बड़े ज़ोर से सुग्रीव को ऐसा मारा। उस घूँसे के लगने से सुग्रीव, उसी प्रकार मुख से खून फेंकने लगा, जिस प्रकार पर्वत से झरने का जल निकलता है ॥२२॥

सुग्रीवेण तु निःसङ्गं सालमुत्पाट्य तेजसा ।
गात्रेष्वभिहतो वाली वज्रेणेव महागिरिः ॥२३॥

तब सुग्रीव ने साखू का एक पेड़ उखाड़, वालि के ऐसे मारा जैसे इन्द्र ने पर्वतराज के वज्र मारा था ॥२३॥

स तु वाली प्रचलितः सालताडनविह्वलः ।
गुरुभारसमाक्रान्तो नौसार्थ इव सागरे ॥२४॥

उस पेड़ के लगने से विकल हो वालि उसी तरह डगमगाया, जिस प्रकार बहुत बोझ से लदी हुई नाव, समुद्र के बीच डगमगाती है ॥२४॥

तौ भीमबलविक्रान्तौ सुपर्णसमवेगिनौ ।
प्रवृद्धौ घोरवपुषौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥२५॥

इस तरह भयङ्कर बल-विक्रम-शाली तथा गरुड़ के समान वेगवान और विशालकाय वालि और सुग्रीव ऐसे लड़ने लगे, मानों आकाश मे चन्द्र और सूर्य लड़ रहे हों ॥२५॥

परस्परममित्रघ्नौ छिद्रान्वेषणतत्परौ ।
ततोऽवर्धत वाली तु बलवीर्यसमन्वितः ॥२६॥

सूर्यपुत्रो महावीर्यः सुग्रीवः परिहीयते ।
वालिना भग्नदर्पस्तु सुग्रीवो मन्दविक्रमः ॥२७॥

वे दोनों आपस मे एक दूसरे की घात देख रहे थे । इस बीच वालि का बल एव पराक्रम बढ़ रहा था और सुग्रीव का घटता जाता था । सुग्रीव वालि द्वारा गर्वहीन और क्षीणपराक्रम हो गए ॥२६॥२७॥

वालिनं प्रति सामर्षो दर्शयामास राघवम् ।
वृक्षैः सशाखैः सशिखैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः ॥२८॥

मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः ।
तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥२९॥

परन्तु सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी को दिखाने के लिए, वालि के ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हो, जड व शाखासहित पेड़ों, शिलाओं और वज्रसम धारवाले नखों से, घूँसों से, लातों से, जाँघों से और बाहुओं से बराबर लड़ने लगे । उन दोनों का युद्ध वैसा ही घोर हुआ, जैसा कि वृत्रासुर के साथ इन्द्र का हुआ था ॥२८॥२९॥

मेघाविव महाशब्दैस्तर्जयानौ* परस्परम् ॥३०॥

वे दोनों वनचर बंदर युद्ध करते हुए रुधिर से तरबर हो और मेघ की तरह घोर शब्द कर, परस्पर तर्जन गर्जन करने लगे ॥३०॥

हीयमानमथोऽपश्यत्सुग्रीवं वानरेश्वरम् ।
प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः ॥३१॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, सुग्रीव का पराक्रम घट जाने के कारण वह बारंबार इधर उधर ताक रहा है ॥३१॥

ततो रामो महातेजा आर्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम् ।
शरं च वीक्षते वीरो वालिनो वधकारणात् ॥३२॥

तब महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव को आर्त्त देख, वालि का वध करने की इच्छा से, बाण की ओर देखने लगे ॥३२॥

ततो धनुषि सन्धाय शरमाशीविषोपमम् ।
पूरयामास तच्चापं कालचक्रमिवान्तकः ॥३३॥

फिर उन्होंने विषधर सर्प की तरह एक बाण धनुष पर रख यमराज के कालचक्र की तरह, अपने धनुष के रोदे को खींचा ॥३३॥

तस्य ज्यातलघोषेण त्रस्ताः पत्ररथेश्वराः[1] ।
प्रदुद्रुवुर्मृगाश्चैव युगान्त इव मोहिताः ॥३४॥

---

[1] पत्ररथेश्वराः—पक्षिश्रेष्ठाः। (गो०) *पाठान्तरे—"तर्जमानौ"

तौ भीमबलविक्रान्तौ सुपर्णसमवेगिनौ ।
प्रवृद्धौ घोरवपुषौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥२५॥

इस तरह भयङ्कर बल-विक्रम-शाली तथा गरुड़ के समान वेगवान और विशालकाय वालि और सुग्रीव ऐसे लड़ने लगे, मानों आकाश में चन्द्र और सूर्य लड़ रहे हों ॥२५॥

परस्परममित्रघ्नौ छिद्रान्वेषणतत्परौ ।
ततोऽवर्धत वाली तु बलवीर्यसमन्वितः ॥२६॥
सूर्यपुत्रो महावीर्यः सुग्रीवः परिहीयते ।
वालिना भग्नदर्पस्तु सुग्रीवो मन्दविक्रमः ॥२७॥

वे दोनों आपस मे एक दूसरे की घात देख रहे थे। इस बीच वालि का बल एव पराक्रम बढ रहा था और सुग्रीव का घटता जाता था। सुग्रीव वालि द्वारा गर्वहीन और क्षीणपराक्रम हो गए ॥२६॥२७॥

वालिनं प्रति सामर्षो दर्शयामास राघवम् ।
वृक्षैः सशाखैः सशिखैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः ॥२८॥
मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः ।
तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥२९॥

परन्तु सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी को दिखाने के लिए, वालि के ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हो, जड व शाखासहित पेड़ों, शिलाओं और वज्रसम धारवाले नखों से, घूँसों से, लातों से, जाँघों से और बाहुओं से बराबर लड़ने लगे। उन दोनों का युद्ध वैसा ही घोर हुआ, जैसा कि वृत्रासुर के साथ इन्द्र का हुआ था ॥२८॥२९॥

तौ शोणिताक्तौ युध्येतां वानरौ वनचारिणौ ।
मेघाविव महाशब्दैस्तर्जयानौ* परस्परम् ॥३०॥

ये दोनों वनचर बंदर युद्ध करते हुए रुधिर से तरबतर हो और मेघ की तरह घोर शब्द कर, परस्पर तर्जन गर्जन करने लगे ॥३०॥

हीयमानमथोऽपश्यत्सुग्रीवं वानरेश्वरम् ।
प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः ॥३१॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, सुग्रीव का पराक्रम घट जाने के कारण वह बारंबार इधर उधर ताक रहा है ॥३१॥

ततो रामो महातेजा आर्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम् ।
शरं च वीक्षते वीरो वालिनो वधकारणात् ॥३२॥

तब महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव को आर्त्त देख, वालि का वध करने की इच्छा से, बाण की ओर देखने लगे ॥३२॥

ततो धनुषि सन्धाय शरमाशीविषोपमम् ।
पूरयामास तच्चापं कालचक्रमिवान्तकः ॥३३॥

फिर उन्होंने विषधर सर्प की तरह एक बाण धनुष पर रख यमराज के कालचक्र की तरह, अपने धनुष के रोदे को खींचा ॥३३॥

तस्य ज्यातलघोषेण त्रस्ताः पत्ररथेश्वराः[1] ।
प्रदुद्रुवुर्मृगाश्चैव युगान्त इव मोहिताः ॥३४॥

---

१ पत्ररथेश्वरा—पक्षिश्रेष्ठः । (गो०) *पाठान्तरे—"तर्जनानौ"

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष की टंकार से बड़े बड़े पक्षी और मृग भयभीत हुए और प्रलयकाल उपस्थित हुआ समझ, मोहित हो भागने लगे ॥३४॥

मुक्तस्तु वज्रनिर्घोषः प्रदीप्ताशनिसन्निभः ।
राघवेण महाबाणो वालिवक्षसि पातितः ॥३५॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने, प्रदीप्त अग्नि के समान और वज्र जैसा शब्द करता महाबाण छोड़ा। वह बड़े वेग से जा कर, वालि की छाती मे लगा ॥३५॥

ततस्तेन महातेजा वीर्योत्सिक्तः कपीश्वरः ।
वेगेनाभिहतो वाली निपपात महीतले ॥३६॥

बाण के लगते ही महातेजस्वी और पराक्रमी वालि घायल हो जमीन पर गिर पड़ा ॥३६॥

इन्द्रध्वज इवोद्धूतः पौर्णमास्यां महीतले ।
आश्वयुक्समये मासि गतश्रीको विचेतनः ॥३७॥

जैसे आश्विन की पूर्णिमा के अन्त में इन्द्रध्वज गिर पड़ता है वैसे ही वालि गिरा और गिर कर श्रीहीन और अचेत हो गया ॥३७॥

नरोत्तमः कालयुगान्तकोपमं
शरोत्तमं काञ्चनरूप्यभूषितम् ।
ससर्ज दीप्तं तममित्रमर्दनं
सधूममग्निं मुखतो यथा हरः ॥३८॥

पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने कालरूपी, शत्रुनाशकारी एवं सुनहला और रुपहला कामदार बाण, उसी प्रकार छोड़ा, जिस प्रकार शिव जी अपने मुख से धूमसहित आग छोड़ते हैं ॥३८॥

अथोक्षितः शोणिततोयविस्रवैः
सुपुष्पिताशोक इवानिलोद्धतः ।
विचेतनो वासवसूनुराहवे
विभ्रंशितेन्द्रध्वजवत्क्षितिं गतः ॥३९॥

इति षोडशः सर्गः ॥

उस बाण के लगने से वालि का पर्वताकार शरीर रक्त के छींटों से रंग गया और वह पुष्पित अशोक वृक्ष की तरह देख पड़ने लगा। इन्द्रसुत वालि, मूर्छित हो पवन के झोंके से टूटे हुए इन्द्रध्वज की तरह भूमि पर गिर पड़ा ॥३९॥

किष्किन्धाकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तदशः सर्गः

—※—

ततः शरेणाभिहतो रामेण रणकर्कशः ।
पपात सहसा वाली निकृत्त इव पादपः ॥१॥

रणकर्कश वालि, श्रीरामचन्द्र जी के बाण से घायल हो, कटे हुए वृक्ष की तरह सहसा पृथिवी पर गिर पड़ा ॥१॥

स भूमौ न्यस्तसर्वाङ्गस्तप्तकाञ्चनभूषणः ।
अपतद्देवराजस्य मुक्तरश्मिरिव ध्वजः ॥२॥

तपाए हुए सोने के आभूषण पहिने हुए वालि, ज़मीन पर पड़ी हुई डोरी वाली इन्द्रध्वजा की तरह गिर कर, पृथिवी पर लोट गया ॥२॥

तस्मिन्निपतते भूमौ वानराणां गणेश्वरे ।
नष्टचन्द्रमिव व्योम न व्यराजत भूतलम् ॥३॥

वानरराज वालि के भूमि पर गिरते ही उसके राज्य की भूमि उसी प्रकार शोभारहित हो गई, जिस प्रकार चन्द्रमाहीन आकाश शोभारहित हो जाता है ॥३॥

भूमौ निपतितस्यापि तस्य देहं महात्मनः ।
न श्रीर्जहाति न प्राणो न तेजो न पराक्रमः ॥४॥

यद्यपि वालि ज़मीन पर गिर पड़ा, तथापि उस महात्मा के शरीर की शोभा, प्राण, तेज और पराक्रम नष्ट न हुए ॥४॥

शक्रदत्ता वर माला काञ्चनी वज्रभूषिता ।
दधार हरिमुख्यस्य प्राणांस्तेजः श्रियं च सा ॥५॥

क्योंकि इन्द्रप्रदत्त, हीरे की जड़ाऊ, सुवर्ण की उत्तम, माला ने वानरराज वालि के प्राणों को, तेज को, और शोभा को रोक रखा था ॥५॥

स तया मालया वीरो हैमया हरियूथपः ।
सन्ध्यानुरक्तपर्यन्तः पयोधर इवाभवत् ॥६॥

वानरराज वीर वालि, उस सुवर्ण की माला को धारण करने से सन्ध्याकालीन मेघ की तरह शोभायमान हो रहा था ॥६॥

तस्य माला च देहश्च मर्मघाती च यः शरः ।
त्रिधेव रचिता लक्ष्मीः पतितस्यापि शोभते ॥७॥

यद्यपि वालि गिर पड़ा था, तथापि उस समय भी उस सुवर्ण की माला, रक्तरञ्जित देह और मर्मघाती तीर से वालि सुशोभित देख पड़ता था ॥७॥

तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम् ।
रामबाणासनात्क्षिप्तमावहत्परमां गतिम् ॥८॥

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष से छूटा हुआ और स्वर्ग का मार्ग दिखाने वाला (साधक) वह बाण वीर वालि को परमगति का देने वाला हुआ ॥८॥

तं तदा पतितं संख्ये गतार्चिषमिवानलम् ।
बहुमान्यं च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव ॥९॥
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात्परिच्युतम् ।
आदित्यमिव कालेन युगान्ते भुवि पातितम् ॥१०॥
महेन्द्रमिव दुर्धर्षं महेन्द्रमिव दुःसहम् ।
महेन्द्रपुत्रं पतितं वालिनं हेममालिनम् ॥११॥
सिंहोरस्कं महाबाहुं दीप्तास्यं हरिलोचनम् ।
लक्ष्मणानुगतो रामो ददर्शोपससर्प च ॥१२॥

इस प्रकार संग्राम में घायल हो गिरे हुए, ज्वाला रहित अग्नि की तरह अथवा पुण्यक्षीण होने पर स्वर्गच्युत ययाति की तरह अथवा प्रलय काल में पृथिवी पर गिरे हुए सूर्य की तरह और इन्द्र की तरह दुर्धर्ष, तथा विष्णु की तरह दुस्सह, ऊंची छाती वाले बड़ी भुजा वाले, प्रदीप्त मुख और पीले नेत्रों वाले इन्द्रपुत्र वालि को देख, बहुसम्मान पुरस्सर दोनों भाई उनके समीप चले गए ॥९॥१०॥११॥१२॥

तं दृष्ट्वा राघवं वाली लक्ष्मणं च महाबलम् ।
अब्रवीत्प्रश्रितं[1] वाक्यं परुषं धर्मसंहितम् ॥१३॥

---

१ प्रश्रितं—विनयान्वितं । (गो०)

महाबली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को देख, वह (वालि) नम्रतायुक्त और धर्मयुक्त कठोर वचन बोला ॥१३॥

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रथितः प्रियदर्शनः ।
कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ॥१४॥

तुम एक राजा के पुत्र, जगत् प्रसिद्ध, देखने में सुन्दर, कुलीन बलावन्, तेजस्वी और व्रतधारी कहवाते हो ॥१४॥

पराङ्मुखवधं[1] कृत्वा को नु प्राप्तस्त्वया गुणः[2] ।
यदहं युद्धसंरब्धः शरेणोरसि ताडितः ॥१५॥

हे राम ! दूसरे से युद्ध करते हुए का वध कर, तुमने कौनसा बड़प्पन पाया । जिस समय मैं सुग्रीव के साथ युद्ध में फँसा हुआ था उस समय तुमने मेरे तीर मारा ॥१५॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।
रामः करुणवेदी च प्रजानां च हिते रतः ॥१६॥

हे राम ! तुम कुलीन, पराक्रमी, तेजस्वी, सदाचारी, करुणा के स्वरूप को जानने वाले और प्रजा के हित में तत्पर रहने वाले हो ॥१६॥

सानुक्रोशो महोत्साहः समयज्ञो[3] दृढव्रतः ।
इति ते सर्वभूतानि कथयन्ति यशो भुवि ॥१७॥

आप दयावान्, बड़े उत्साही, आचार के जानने वाले और दृढ़व्रतधारी हैं । पृथिवी के सब जन इस प्रकार तुमको प्रसिद्ध कर तुम्हारे यश का बखान किया करते हैं ॥१६॥

---

[1] पराङ्मुखवध—परयुद्धासक्तवधं । (गो०) [2] गुणः—उत्कर्षः । (गो०)
[3] समयज्ञ.— आचारज्ञः । (गो०)

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः ।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपराधिषु ॥१८॥

दम, शम, क्षमा, धर्म, धैर्य, सत्य, पराक्रम और अपराधियों को दण्ड देना—ये राजाओं के गुण हैं ॥१८॥

तान् गुणान् सम्प्रधार्याहमग्र्यं चाभिजनं तव ।
तारया प्रतिषिद्धोऽपि सुग्रीवेण समागतः ॥१९॥

मैं सुना करता था कि, तुम में ये सब राजोचित गुण हैं, अतः तुमको श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुआ जान, तारा के मना करने पर भी, मैं सुग्रीव से युद्ध करने को तैयार हुआ था ॥१९॥

न मामन्येन संरब्धं प्रमत्तं योद्धुमर्हति ।
इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादर्शने तव ॥२०॥

दूसरे के साथ युद्ध में प्रवृत्त, दूसरी ओर ध्यान देने वाले मुझ पर तुम तीर न छोड़ोगे—यह मेरा विचार तब था, जब मैंने तुमको देखा भी न था ॥२०॥

न त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम्
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥२१॥

परन्तु अब मैंने अच्छी तरह जान लिया कि, तुम कोरी धर्म की ध्वजा उड़ाने वाले, तृणों से ढके हुए कूप की तरह, अधर्मी और पापाचारी हो ॥२१॥

सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम् ।
नाहं त्वामभिजानामि धर्मच्छद्माभिसंवृतम् ॥२२॥

तुम्हारा वेशमात्र सज्जनों जैसा है, किन्तु छिपी हुई आग की तरह, तुम कपटी धर्मानुष्ठानी हो ॥२२॥

विषये वा पुरे वा ते यदा नापकरोम्यहम् ।
न च त्वामवजाने च कस्मात्त्वं हंस्यकिल्बिषम् ॥२३॥

हे राम! मैंने तुम्हारे देश या नगर में कोई बुरा काम नहीं किया। इस लिए मेरी समझ में नहीं आता कि, तुमने क्यों मुझे मारा है ॥२३॥

फलमूलाशनं नित्यं वानरं वनगोचरम् ।
मामिहाप्रतियुध्यन्तमन्येन च समागतम् ॥२४॥

देखो, मैं तो सदा फल मूल खाया करता हूँ और वन में रहने वाला वदर हूँ। फिर मैं तो दूसरे के साथ युद्ध में फँसा हुआ था ॥२४॥

लिङ्गमप्यस्ति ते राजन् दृश्यते धर्मसंहितम् ।
कः क्षत्रियकुले जातः श्रुतवा[1]न्नष्टसंशयः[2] ॥२५॥
धर्मलिङ्गप्रतिच्छन्नः क्रूरं कर्म समाचरेत् ।
राम राजकुले जातो धर्मवानिति विश्रुतः ॥२६॥

हे राजन्! तुम धर्मधारियों जैसे चिह्न भी धारण किए हुए हो। फिर भला बतलाओ तो, कौन ऐसा क्षत्रियकुलोत्पन्न, शास्त्रों को सुन कर, धर्माधर्म के सम्बन्ध मे संशयहीन हो तथा धर्मधारियों जैसे चिह्न धारण कर, तुम्हारी तरह ऐसा कठोर कर्म करेगा? हे रामचन्द्र! तुम महाराज रघु के कुल मे उत्पन्न हुए हो और धर्मात्मा कहलाते हो ॥२५॥२६॥

अभव्यो भव्यरूपेण किमर्थं परिधावसि ।
साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ ॥२७॥

---

१ श्रुतवान्—शास्त्रश्रवणसम्पन्नः अतएव २ नष्टसंशयः—धर्माधर्मविषयकसंशयरहितः। (शि०)

फिर तुम सौम्य होकर भी, सुग्रीव जैसे क्रूर जन के साथ क्यों फिरते हो। अथवा शुभरूप धारण करके तुम अधर्म कर्म क्यों करते हो, अथवा जब कि तुम इस प्रकार के पापाचारी हो, तब तुम अपने को धर्म के वेष में क्यों छिपाये रहते हो? हे राजन्! क्षमा, दान, धर्म, सत्य, धैर्य, पराक्रम ॥२७॥

पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपराधिषु ।
वयं वनचरा राम मृगा मूलफलाशनाः ॥२८॥

और अपराधियों को दण्ड देना ये राजाओं के गुण हैं। हे राम! हम लोग तो फल मूल खाने वाले, वनचारी शाखामृग (बंदर) हैं ॥२८॥

एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुषस्त्वं[1] नरेश्वरः ।
भूमिर्हिरण्यं रूप्यं च विग्रहे कारणानि च ॥२९॥
अत्र कस्ते वने लोभो मदीयेषु फलेषु वा ।
नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि ॥३०॥
राजवृत्तिरसङ्कीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः ।
त्वं तु कामप्रधानश्च कोपनश्चानवस्थितः ॥३१॥
राजवृत्तेश्च सङ्कीर्णः शरासनपरायणः ।
न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता ॥३२॥

हम लोगों का तो यह स्वभाव है। (अर्थात् यदि हम लोगों की बुद्धि पशुओं जैसी हो तो आश्चर्य नहीं) किन्तु तुम केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि नरेश्वर अर्थात् राजा हो। (तुम में तो पशु-बुद्धि कभी न आनी चाहिए) मनुष्यों में वर्तमान और धन दौलत

---

१ पुरुष—मनुष्य। (गो०)

तदतिक्रम्य मोहेन कालस्य वशमागतः ।
त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुन्धरा ॥४०॥
प्रमदा शीलसम्पन्ना धूर्तेन पतिना यथा ।
शठो नैकृतिकः क्षुद्रो मिथ्याप्रश्रितमानसः ॥४१॥

किन्तु मैं अज्ञानवश उसका कहना न मान, कालकवलित हुआ। हे काकुत्स्थ! जिस प्रकार धूर्त पति को पाकर सुशील स्त्री सनाथा नहीं होती, उसी प्रकार तुम जैसे नाथ को पाकर, पृथिवी सनाथ नहीं हुई। क्योंकि तुम तो धूर्त, अपकारी, ओछे और बनावटी शान्ति को धारण करने वाले हो ॥४०॥४१॥

कथं दशरथेन त्वं जातः पापो महात्मना ।
छिन्नचारित्रकक्ष्येण सतां धर्मातिवर्तिना ॥४२॥

दशरथ जैसे महात्मा के तुम जैसे पापात्मा कैसे उत्पन्न हुए? जिसने चारित्र रूप बन्धन को तोड़ डाला और सज्जनों के धर्म-मार्ग को उल्लङ्घन किया ॥४२॥

त्यक्तधर्माङ्कुशेनाहं निहतो रामहस्तिना ।
अशुभं चाप्ययुक्तं च सतां चैव विगर्हितम् ॥४३॥

और जिसने धर्म रूपी अंकुश का भय त्याग दिया है, उस राम रूपी हाथी से मैं मारा गया हूँ। अशुभ, अयुक्त और सज्जनों से निन्दित ॥४३॥

वक्ष्यसे चेदृशं कृत्वा सद्भिः सह समागतः ।
उदासीनेषु योऽस्मासु विक्रमस्ते प्रकाशितः ॥४४॥
अपकारिषु तं राजन् नहि पश्यामि विक्रमम् ।
दृश्यमानस्तु युध्येथा मया यदि नृपात्मज ॥४५॥

कर्म कर, तुम सज्जनों के सामने क्या जवाब दोगे? मुझ
दासीनों पर तुमने जैसा यह पराक्रम दिखलाया है, वैसा अप-
राधियों पर प्रकट करते तुम मुझे नहीं देख पड़ते। हे राजकुमार!
दि तुम मेरे सम्मुख होकर मुझसे लड़ते ॥४४॥४५॥

अद्य वैवस्वतं देवं पश्येस्त्वं निहतो मया।
त्वयाऽदृश्येन तु रणे निहतोऽहं दुरासदः ॥४६॥
प्रसुप्तः पन्नगेनेव नरः पापवशं गतः।

तो तुम मेरे हाथ से मारे जाकर, अवश्य यमराज का दर्शन
करते। परन्तु क्या कहूँ? तुमने तो छिप कर, मुझे वैसे मारा
है जैसे पापात्मा लोग सोते हुए सर्प को मार डालते हैं ॥४६॥

सुग्रीवप्रियकामेन यदहं निहतस्त्वया ॥४७॥
मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः।
मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान भवेत् ॥४८॥

हे राम! यदि तुमने सुग्रीव को प्रसन्न करने के लिए मुझे
मारा है और यदि तुम मुझे अपना यह प्रयोजन बतला देते, तो
मैं एक ही दिन में सीता को ला देता ॥४७॥४८॥

कण्ठे बद्ध्वा प्रदद्यां ते निहतं रावणं रणे।
न्यस्तां सागरतोये वा पाताले वापि मैथिलीम् ॥४९॥
आनयेयं तवादेशाच्छ्वेतामश्वतरीमिव।
युक्तं यत्प्राप्नुयाद्राज्यं सुग्रीवः स्वर्गते मयि ॥५०॥

यही नहीं, बल्कि उस रावण को संग्राम में मार और उसका
गला बाँध, तुम्हारे पास ले आता। तुम्हारी सीता चाहे समुद्र जल

के भीतर होती अथवा पाताल ही में क्यों न होती, किन्तु तुम्हारी आज्ञा के अनुसार उसी प्रकार सीता को ला देता, जिस प्रकार हयग्रीव भगवान् मधु और कैटभ नाम दैत्यों से पाताल में अवरुद्ध श्वेताश्वतरी रूपी श्रुति को ले आए थे। मेरे स्वर्गवासी होने पर सुग्रीव को राज्य मिलना तो ठीक ही है ॥४९॥५०॥

अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाऽहं निहतो रणे।
काममेवंविधो लोकः कालेन विनियुज्यते।
क्षमं चेद्भवता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम् ॥५१॥

किन्तु तुम्हारे हाथ से अधर्मपूर्वक मेरा मारा जाना अनुचित है। जो जन्मता है वह एक दिन अवश्य मरेगा ही। सो मुझे अपने मरने का तो कुछ भी विषाद नहीं है। किन्तु विषाद तो मुझे इस बात का है कि, तुम अपने अनुचित कृत्य का उत्तर लोगों को क्या दोगे? सो तुम (आप) इसका ठीक ठीक उत्तर सोच लो ॥५१॥

इत्येवमुक्त्वा परिशुष्कवक्त्रः
शराभिघाताद्व्यथितो महात्मा।
समीक्ष्य रामं रविसन्निकाशं
तूष्णीं बभूवामरराजसूनुः ॥५२॥

इति सप्तदशः सर्गः॥

यह कहते कहते महाबलवान वालि का मुख सूख गया और तीर के घाव से वह व्यथित हो गया। फिर सूर्य के समान प्रकाशमान श्रीरामचन्द्र जी को सामने देख, इन्द्रपुत्र वालि चुप हो गया ॥५२॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

अष्टादशः सर्गः

—※—

इत्युक्तः प्रश्रितं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
परुषं वालिना रामो निहतेन विचेतसा ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा घायल और अचेतन वालि, श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार विनयान्वित धर्म-अर्थ-युक्त तथा हितकर, किन्तु कठोर, वचन बोला ॥१॥

तं निष्प्रभमिवादित्यं मुक्ततोयमिवाम्बुदम्।
उक्तवाक्यं हरिश्रेष्ठमुपशान्तमिवानलम् ॥२॥
धर्मार्थगुणसम्पन्नं हरीश्वरमनुत्तमम्।
अधिक्षिप्तस्तदा रामः पश्चाद्वालिनमब्रवीत् ॥३॥

आभाहीन सूर्य, अथवा जलरहित मेघ, अथवा बुझी हुई आग के समान, धर्मार्थ-गुण-युक्त वचनों से, उत्तम वानरनाथ वालि द्वारा आक्षेप किए जाने पर, श्रीरामचन्द्र जी वालि से बोले ॥२॥३॥

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम्।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे ॥४॥

धर्म, अर्थ, काम और लौकिकाचार को जाने बिना ही, तुम बालक की तरह, मेरी निन्दा क्यों करते हो? ॥४॥

अपृष्ट्वा बुद्धिसम्पन्नान् वृद्धानाचार्यसम्मतान्।
सौम्य वानर चापल्यात्किं मां वक्तुमिहेच्छसि ॥५॥

हे सौम्य ! मान्य आचार्यों और बुद्धिमान् बड़े बूढ़ों से वि
पूँछे, वानर-स्वभाव-सुलभ चपलतावश, क्या तुम मुझसे ६
विषय में कुछ कह सकते हो ?-॥५॥

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना ।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहप्रग्रहावपि ॥६॥

(क्या तुम नहीं जानते कि,) पर्वतों और वनों सहित यह सम
भूमण्डल इक्ष्वाकुवंश वालों का है। इस अखिल भूमण्डल
जितने पशु पक्षी मनुष्य रहते हैं, उन सब को दण्ड देने अथ
उन पर अनुग्रह करने का इक्ष्वाकुवंशवालों को अधिकार है॥

तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवागृजुः ।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः ॥७॥

भरतजी, जो सत्यवादी, सीधे, धर्म, काम और अर्थ के तत्व
ज्ञाता तथा अपराधियों को दण्ड देने और साधुओं पर अनु
करने में तत्पर हैं, इस समय इस भूमण्डल का शासन कर
हैं ॥७॥

नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन् सत्यं च सुस्थितम् ।
विक्रमश्च यथादृष्टः स राजा देशकालवित् ॥८॥

भरतजी नीतिवान और शिक्षित राजा हैं। वे सत्याचरण
निरत हैं और पराक्रमी होने के साथ साथ यथोचित देश काल
जानने वाले हैं ॥८॥

तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः ।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिच्छवः[१] ॥९॥

---

१ धर्मसन्तान—धर्मवृद्धि । (गो०)

उन्हीं के धर्माज्ञापालक हम तथा अन्य राजा लोग धर्मवृद्धि की कामना से, सारी पृथिवी पर घूमा फिरा करते हैं ॥९॥

तस्मिन्नृपतिशार्दूले भरते धर्मवत्सले ।
पालयत्यखिलां भूमिं कश्चरेद्धर्मनिग्रहम् ॥१०॥

उन राजसिंह और धर्मवत्सल राजा भरत के राज्यकाल में किस पुरुष में सामर्थ्य है, जो धर्मविरुद्ध कोई कर्म कर सके? ॥१०॥

ते वयं धर्मविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः ।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य निगृह्णीमो यथाविधि ॥११॥

हम लोग भरत जी की आज्ञा के अनुसार तथा अपने उत्कृष्ट धर्ममार्ग पर आरूढ़ हो अधर्मयुक्त पुरुषों का यथाविधि निग्रह किया करते हैं ॥११॥

त्वं तु संक्लिष्टधर्मा च कर्मणा च विगर्हितः ।
कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि ॥१२॥

तुम धर्म को नसाने वाले, कुकर्म में रत, केवल काम के दास बन कर, राजधर्म की उपेक्षा कर रहे हो ॥१२॥

ज्येष्ठो भ्राता पिता चैव यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे पथि हि वर्तिनः ॥१३॥

धर्ममार्ग पर चलने वाले जनों के मतानुसार जेठा भाई, पिता और विद्यादाता गुरु ये तीनों ही जन्मदाता पिता के बराबर हैं ॥१३॥

यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः ।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम् ॥१४॥

धर्म की व्यवस्था के अनुसार छोटा भाई, पुत्र और शिष्य; ये तीनों पुत्र के बराबर हैं ॥१४॥

सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवङ्गम ।
हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम् ॥१५॥

हे वानर! सज्जनों का धर्म ऐसा सूक्ष्म है कि, सहज में उसे कोई जान नहीं सकता। परन्तु वह धर्म प्रत्येक प्राणी के हृदय में वर्त्तमान है। इसीसे अन्तरात्मा द्वारा ही शुभाशुभ का ज्ञान हुआ करता है ॥१५॥

चपलश्चपलैः सार्धं वानरैरकृतात्मभिः ।
जात्यन्ध इव जात्यन्धैर्मन्त्रयन्द्रक्ष्यसे नु किम् ॥१६॥

तुम बन्दर की जाति के और चञ्चल स्वभाव के हो! तुम अपने जैसे अशिक्षित बुद्धिवाले बदरों के साथ परामर्श कर धर्म की सूक्ष्मगति को कैसे जान सकते हो! क्योंकि जो मनुष्य जन्मान्ध होता है वह यदि किसी दूसरे जन्मान्ध के साथ परामर्श कर, मार्ग जानना चाहे तो क्या उसे मार्ग मिल सकता है? ॥१६॥

अहं तु व्यक्ततामस्य वचनस्य ब्रवीमि ते ।
न हि मां केवलं रोषात्त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥१७॥

अब मैं अपने इस कथन को स्पष्ट किए देता हूँ। तुम केवल रोष में भर मुझे दोषी नहीं ठहरा सकते ॥१७॥

तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः ।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥१८॥

जिस लिए मैंने तुमको मारा है, पहिले उसका कारण जान लो। तुमने सनातन धर्म को छोड़, अपने छोटे भाई की भार्या को अपनी भार्या बना लिया है ॥१८॥

अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
रुमायां वर्तसे कामात्स्नुषायां पापकर्मकृत् ॥१९॥

इन महात्मा सुग्रीव के जीवित रहते, इनकी भार्या रुमा के साथ जो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है, तुम कामासक्त हो, पापकर्म करते हो ॥१९॥

[टिप्पणी—वानर अनार्य जाति के लोग थे। वे भी एक पति के जीवित रहते उसकी पत्नी को अपनी पत्नी बनाने के विरुद्ध थे। यही बात भी राम ने-धरमाणस्य कह कर बतलाई है। इससे आगे चल कर सुग्रीव का बालि पत्नी तारा को पत्नी बनाने का समर्थन होता है।]

तद्व्यतीतस्य ते धर्मात्कामवृत्तस्य वानर ।
भ्रातृभार्याविमर्शेऽस्मिन् दण्डोऽयं प्रतिपादितः ॥२०॥

तुमने कामासक्त हो धर्ममार्ग का उल्लंघन किया है। भाई की स्त्री के साथ बुरा काम करने के लिए मैंने यह दण्ड तुमको दिया है ॥२०॥

न हि धर्मविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः ।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप ॥२१॥

हे हरियूथप! धर्म की मर्यादा को उल्लङ्घन करने वाले और लोक-व्यवहार की मर्यादा के विरुद्ध चलने वाले को मारने के सिवाय मुझे और कोई दण्ड नहीं देख पड़ता ॥२१॥

न हि ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्भवः ।
औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः ॥२२॥

मेरा जन्म श्रेष्ठ क्षत्रिय कुल में हुआ है, अतः मैं पाप अर्थात् पापी को इस तरह नहीं देख सकता। जो कोई सहोदरा भगिनी अथवा अपने छोटे भाई की स्त्री ॥२२॥

प्रचरेत नरः कामात्तस्य दण्डो वधः स्मृतः ।
भरतस्तु महीपालो वयं चादेशवर्तिनः ॥२३॥

के साथ कामव्यवहार (बुरा काम) करता है, उसके लिए वध ही उचित दण्ड बतलाया गया है। हम तो महाराज भरत के आज्ञापालक हैं ॥२३॥

त्वं तु धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम् ।
गुरुर्धर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन् ॥२४॥

अत हम, तुम जैसे धर्मत्याग करने वाले की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं, क्योंकि जो बुद्धिमान धर्म (ईमानदारी) से प्रजा का पालन करते हैं, वे महाअधर्मियों का निग्रह किए बिना कैसे रह सकते हैं ? ॥२४॥

भरतः कामवृत्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः ।
वय तु भरतादेशं विधिं कृत्वा हरीश्वर ॥२५॥

भरत जी ने कामाधीन और स्वेच्छाचारियों को दण्ड देने की व्यवस्था की है। सो हे हरीश्वर ! हम लोग भरत के निर्देशानुसार शास्त्र को विधि का पालन करने में तत्पर रहते हैं ॥२५॥

त्वद्विधान् भिन्नमर्यादान्नियन्तुं पर्यवस्थिताः ।
सुग्रीवेण च मे सख्य लक्ष्मणेन यथा तथा ॥२६॥

और तुम जैसे धर्म की मर्यादा तोड़ने वालों का नियन्त्रण करने को तैयार रहते हैं। फिर सुग्रीव मेरा मित्र है। मेरे लिए जैसे लक्ष्मण हैं वैसे ही सुग्रीव भी है ॥२६॥

दारराज्यनिमित्तं च निःश्रेयसि रतः स मे ।
प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसन्निधौ ॥२७॥

यह मित्रता स्त्री और राज्य के लिए हुई है, इसके लिए वानरों के सामने मैं सुग्रीव को वचन भी दे चुका हूँ ॥२७॥

प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम् ।
तदेभिः कारणैः सर्वैर्महद्भिर्धर्मसंहितैः ॥२८॥
शासनं तव यद्युक्तं तद्भवाननुमन्यताम् ।
सर्वथा धर्म इत्येव द्रष्टव्यस्तव निग्रहः ॥२९॥

सो भला मुझ जैसा पुरुष अपनी प्रतिज्ञा को कैसे तोड़ सकता है। इन्हीं सब धर्मविषयक बड़े बड़े कारणों से तुम्हें मैंने जो उचित दण्ड दिया है, उसे तुम भी मान लो। तुम्हें जो दण्ड दिया गया है, वह सब प्रकार से धर्मानुसार है ॥२८॥२९॥

वयस्यस्यापि कर्तव्यं धर्ममेवानुपश्यतः ।
शक्यं त्वयापि तत्कार्यं धर्ममेवानुपश्यता ॥३०॥

मित्र के कर्त्तव्य की ओर दृष्टि रखते हुए, मुझे मित्र का उपकार करना उचित ही था और धर्म की ओर दृष्टि करके तुमको भी यह उचित था कि, तुम प्रार्थनापूर्वक यह दण्ड माना करते ॥३०॥

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ[1] ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तत्तथा चरितं हरे ॥३१॥

हे वानर ! इस विषय में मनु जी के शुभाचरण प्रतिपादक दो श्लोक सुने जाते हैं। इनको धर्मज्ञ पुरुषों ने भी माना है और मैं भी मानता हूँ ॥३१॥

१ चारित्रवत्सलौ—शुभाचरणप्रतिपादकौ। (शि०)

राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥३२॥

इन श्लोकों का अभिप्राय यह है कि, जो मनुष्य पाप करने पर राजा द्वारा दण्डित किए जाते हैं वे पाप से मुक्त हो, पुण्यात्मा सत्पुरुषों की तरह, स्वर्गवासी होते हैं ॥३२॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।
राजा त्वशासन्पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥३३॥

जो चोर अथवा पापी स्वयं जा कर राजा से अपना पापकर्म कह देता है और दण्ड चाहता है, उसे राजा चाहे तो दण्ड दे चाहे दण्ड न देकर क्षमा कर दे। दोनों दशाओं में वह पापी तो पाप से छूट जाता है, किन्तु राजा पापी को पाप का दण्ड न देने से स्वयं पाप का भागी हो जाता है ॥३३॥

आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम् ।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतम् त्वया ॥३४॥

जैसा पाप तुमने किया है वैसा ही किसी श्रमण (बौद्ध संन्यासी) ने भी किया था और जब वह दण्डित होने के लिये महाराज मान्धाता के पास गया, तब उन्होंने उसे दण्ड न दे कर क्षमा कर दिया। इसके लिए महाराज मान्धाता को घोर कष्ट सहना पड़ा था ॥३४॥

[टिप्पणी—इस श्लोक में "श्रमण" शब्द देख, कहना पड़ेगा कि बौद्धमत के आचार और सिद्धान्त राजा मान्धाता के समय में भी प्रचलित थे। श्रमण का अर्थ टीकाकार ने ' क्षपणक" किया है। क्षपणक का अर्थ आपटे साहब ने अपने कोश में, A Baudha or Jaina mendicant, लिखा है।]

अन्यैरपि कृतं पापं प्रमत्तैर्वसुधाधिपैः ।
प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रजः ॥३५॥

इसी तरह अन्य लोग जो प्रमादवश पाप कर, राजाओं द्वारा दण्ड ग्रहण कर, प्रायश्चित्त कर डालते हैं, इनसे उनका पाप दूर हो जाता है ॥३५॥

तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः ।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः ॥३६॥

हे वानरशार्दूल ! अब तुम्हारा पछताना व्यर्थ है। क्योंकि यह तुम्हारा वध धर्मानुसार ही किया गया है और मैं धर्मशास्त्र के वश में हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूं ॥३६॥

शृणु चाप्यपरं भूयः कारणं हरिपुङ्गव ।
यच्छ्रुत्वा हेतुमद्वीर न मन्युं कर्तुमर्हसि ॥३७॥

हे हरिपुङ्गव ! इस विषय के और भी कारण हैं, मैं उन्हें भी तुम्हें बतलाता हूँ। उनको सुनकर तुम अपने मन का क्रोध त्याग दो ॥३७॥

न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरियूथप ।
वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविधैर्नराः ॥३८॥
प्रतिच्छन्नाश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून् मृगान् ।
प्रधावितान्वा वित्रस्तान् विस्रब्धांश्चापि निष्ठितान् ॥३९॥

हे हरियूथप ! मैंने तुमको जो छिप कर मारा है, सो इसके लिए न तो मुझे सन्ताप है और न दुःख ही। क्योंकि अनेक शिकारी लोग जाल, फंदा और कपट व्यवहार से, छिपकर या

प्रकट होकर, भागते हुए, निर्भय बैठे हुए अनेक मृग पकड़ा ही करते हैं ॥३८॥३९॥

प्रमत्तानप्रमत्तान्वा नरा मांसार्थिनो भृशम् ।
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते ॥४०॥

मांसाहारी लोग सावधान या असावधान मृगों को पीठ पीछे से मारा ही करते हैं। इसमें कुछ भी दोष नहीं है ॥४०॥

यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः ।
तस्मात्त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर ॥४१॥

धर्म के तत्व को जानने वाले बड़े बड़े राजर्षि शिकार खेला ही करते हैं। हे वानर! इसीसे मैंने भी छिप कर, तुम्हें युद्ध में बाण से मारा है ॥४१॥

अयुध्यन्प्रतियुध्यन्वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि ।
दुर्लभस्य च धर्मस्य जीवितस्य शुभस्य च ॥४२॥
राजानो वानरश्रेष्ठ प्रदातारो न संशयः ।
तान्न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत् ॥४३॥

चाहें तुम्हारे साथ युद्ध कर अथवा युद्ध न कर, मैंने तुम्हें मारा, तो इसमे दोष क्या है? क्योंकि तुम वानर तो हो ही। देखो, दुर्लभ धर्म, जीवन और कल्याण के देने वाले राजा ही होते हैं। अतः उनको न तो मारना चाहिए न उन पर क्रोध करना चाहिए, न उन पर आक्षेप करना चाहिए और न उनसे कटुवचन कहने चाहिए ॥४२॥४३॥

देवा मनुष्यरूपेण चरन्त्येते महीतले ।
त्वं तु धर्ममविज्ञाय केवलं रोषमास्थितः ॥४४॥

प्रदूषयसि मां धर्मे पितृपैतामहे स्थितम् ।
एवमुक्तस्तु रामेण वाली प्रव्यथितो भृशम् ॥४५॥

क्योंकि वे साधारण मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत वे मनुष्यरूपी देवता पृथिवी पर घूमा करते हैं। तुम तो धर्म का तिरस्कार कर, केवल क्रोध के वशवर्ती हो मुझको जो बाप दादों के धर्म पर आरूढ़ है, दोष लगाते हो। श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कहने पर, वालि को बड़ा पश्चात्ताप हुआ ॥४४॥४५॥

न दोषं राघवे दध्यौ धर्मेऽधिगतनिश्चयः ।
प्रत्युवाच ततो रामं प्राञ्जलिर्वानरेश्वरः ॥४६॥

वह धर्म की दृष्टि से सोचने लगा और भली भाँति विचार कर, उसने श्रीरामचन्द्र जी को निर्दोष पाया। तब कपिराज वालि ने हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥४६॥

यत्त्वमात्थ नरश्रेष्ठ तदेवं नात्र संशयः ।
प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि* नापकृष्टस्तु शक्नुयात्† ॥४७॥

हे पुरुषोत्तम ! तुम जो कहते हो सो निस्सन्देह ठीक है। भला क्षुद्र जन की क्या सामर्थ्य है जो उत्कृष्ट जनों के साथ उत्तर प्रत्युत्तर कर सके ॥४७॥

तदयुक्तं मया पूर्वं प्रमादाद्वाक्यमप्रियम् ।
तत्रापि खलु मे दोषं कर्तुं नार्हसि राघव ॥४८॥

पहले मैंने भूल से जो कठोर वचन कहे, हे राघव ! उनके लिए मुझे तुम दोषी मत ठहराओ ॥४८॥

---

* पाठान्तरे—"प्रकृष्टेऽर्थे" । † पाठान्तरे—"शक्नुवान्" ।

त्वं हि दृष्टार्थतत्त्वज्ञः[१] प्रजानां च हिते रतः।
कार्यकारणसिद्धौ[२] ते प्रसन्ना बुद्धिरव्यया ॥४६॥

क्योंकि तुम तो हम लोगों के मन की बातों को जानने वाले अथवा सब पदार्थों के तत्व को जानने वाले और प्रजाजनों के हित में तत्पर हो। तुम दण्डविधान करने और दण्ड का कारण निश्चित करने में निपुण हो ॥४६॥

मामप्यगतधर्माणं व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम्।
धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय ॥५०॥

हे धर्मज्ञ! मैं धर्म उल्लघन करने वालों में अग्रणी हूँ। तुम धर्मयुक्त वचनों (के उपदेश) से मुझको उत्तम लोक दे कर, मेरा प्रतिपालन करो ॥५०॥

न त्वात्मानमहं शोचे न तारां न च बान्धवान्।
यथा पुत्रं गुणश्रेष्ठमङ्गदं कनकाङ्गदम् ॥५१॥

मुझे न तो अपनी, न तारा की और न भाई बन्दों की कुछ चिन्ता है। किन्तु मुझे इस समय जो कुछ चिन्ता है, वह सोने के बाजू पहिने हुए, अपने गुणी पुत्र अङ्गद की है ॥५१॥

स ममादर्शनाद्दीनो बाल्यात्प्रभृति लालितः।
तटाक इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति ॥५२॥

---

१ दृष्टार्थतत्वज्ञः—अस्मदादिज्ञानविषयीभूतार्थयाथार्थ्यविज्ञाता। (शि०) २ कार्यकारणसिद्धौ—कार्यं दण्डनं कारणं तद्धेतुभूतं पापं तयोः सिद्धौ परिज्ञाने। (गो०)

क्योंकि लड़कपन से बड़े दुलार के साथ पाला पोसा हुआ मेरा यह पुत्र, मुझे न देख कर, सूखे हुए तालाब की तरह सूख जायगा ॥५२॥

बालश्चाकृतबुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रियः ।
तारेयो राम भवता रक्षणीयो महाबलः ॥५३॥

हे राम ! तारा के गर्भ से उत्पन्न मेरे एक मात्र प्यारे पुत्र अङ्गद की, जो अभी कच्ची बुद्धि का है, किन्तु है महाबली, तुम रक्षा करो ॥५३॥

सुग्रीवे चाङ्गदे चैव विधत्स्व मतिमुत्तमाम् ।
त्वं हि शास्ता च गोप्ता च कार्याकार्यविधौ स्थितः ॥५४॥

सुग्रीव और अङ्गद के विषय में आप उत्तम बुद्धि रखें, क्योंकि आप ही इनके रक्षक और शासनकर्ता हैं और करने अकरने कामों के बारे में आप ही इनके शिक्षक हैं ॥५४॥

या ते नरपते वृत्तिर्[1]भरते लक्ष्मणे च या ।
सुग्रीवे चाङ्गदे राजंस्तां त्वमाधातुमर्हसि ॥५५॥

हे राजन ! आपकी जैसी प्रीति भरत और लक्ष्मण में है, वैसी ही प्रीति आप सुग्रीव और अङ्गद में भी रखें ॥५५॥

मद्दोषकृतदोषां तां यथा तारां तपस्विनीम् ।
सुग्रीवो नावमन्येत तथावस्थातुमर्हसि ॥५६॥

मेरे अपराधों को स्मरण कर सुग्रीव तपस्विनी तारा को तंग न करें या तिरस्कार न दे; और ऐसी व्यवस्था कर दीजियेगा ॥५६॥

---

१ पा.—वृत्ति । भ०

त्वया ह्यनुगृहीतेन राज्यं शक्यमुपासितुम् ।
त्वद्वशे वर्तमानेन तव चित्तानुवर्तिना ॥५७॥
शक्यं दिवं चार्जयितुं वसुधां चापि शासितुम् ।
त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन्वार्यमाणोऽपि तारया ॥५८॥
सुग्रीवेण सह भ्रात्रा द्वन्द्वयुद्धमुपागतः ।
इत्युक्त्वा सन्नतो रामं विरराम हरीश्वरः ॥५९॥

आपके वश में रह कर, आपकी इच्छानुसार चल कर और आपका कृपापात्र बन कर ही वह वानर सुग्रीव अपने राज्य का केवल शासन ही नहीं कर सकता, बल्कि स्वर्ग की प्राप्ति भी सहज में कर सकता है। हे श्रीरामचन्द्र ! मैं तुम्हारे हाथ से मारे जाने की इच्छा ही से तारा की बात न मान कर, सुग्रीव से लड़ने आया था। वानरराज वालि श्रीरामचन्द्र जी से यह कह कर, चुप हो गया ॥५७॥५८॥५९॥

स तमाश्वासयद्रामो वालिनं व्यक्तदर्शनम्[1] ।
सामसम्पन्नया वाचा धर्मतत्त्वार्थयुक्तया ॥६०॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी धर्मार्थयुक्त एवं साधुसम्मत वचनों से बड़े ज्ञानवान् वालि को समझाने लगे ॥६०॥

न सन्तापस्त्वया कार्य एतदर्थं प्लवङ्गम ।
न वयं भवता चिन्त्या नाप्यात्मा हरिसत्तम ॥६१॥
वयं भवद्विशेषेण धर्मतः कृतनिश्चयाः ।
दण्ड्ये यः पातयेद्दण्डं दण्ड्यो यश्चापि दण्ड्यते ॥६२॥

---

१ व्यक्तदर्शन—विशदज्ञान । गो०

कार्यकारणसिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदतः ।
तद्भवान् दण्डसंयोगादस्माद्विगतकिल्बिषः ॥६३॥
गतः स्वां प्रकृतिं धर्म्यां धर्मदिष्टेन वर्त्मना ।
त्यज शोकं च मोहं च भयं च हृदये स्थितम् ॥
त्वया विधानं हर्यग्र्य न शक्यमतिवर्तितुम् ॥६४॥

हे वानर! तुम मेरे लिए और अपने लिए जरा भी सन्तप्त न होना। क्योंकि मैंने धर्मशास्त्र द्वारा भली भाँति विचार कर देखा है कि, दण्ड देने योग्य को जो दण्ड देता है और जो दण्ड पाता है, उनकी कार्य-सिद्धि और कारण-सिद्धि कभी नष्ट नहीं होती। अतः दण्ड पा कर, तुम पाप से छूट गए और दण्ड ही द्वारा तुम अपनी धर्मयुक्त प्रकृति को प्राप्त कर सके। अतः अब तुम शोक और मोह को त्याग, अपने मन का खटका दूर कर दो, क्योंकि तुम पूर्वकृत कर्मों के फल को उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥६१॥६२॥६३॥६४॥

[टिप्पणी—इन श्लोकों में बालि के लिए कहीं भवान् कहीं 'त्व' शब्दों का प्रयोग पाया जाता है—अनु. हमने सर्वत्र ही 'त्व' ही लिखा है।]

यथा त्वय्यङ्गदो नित्यं वर्तते वानरेश्वर ।
तथा वर्तेत सुग्रीवे मयि चापि न संशयः ॥६५॥

हे कपिराज! अङ्गद जिस प्रकार तुम्हारे साथ बर्ताव करता था वैसा ही व्यवहार वह मेरे और सुग्रीव के साथ भी निस्सन्देह करेगा ॥६५॥

स तस्य वाक्यं मधुरं महात्मनः
समाहितं धर्मपथानुवर्तिनः ।

निशम्य रामस्य रणावमर्दिनो
वचः सुयुक्तं निजगाद वानरः ॥६६॥

महात्मा एवं रणजयी श्रीरामचन्द्र जी के धर्मयुक्त और समाधानकारक वचनों को सुन, फिर वालि ने युक्तियुक्त वचन कहे ॥६६॥

शराभितप्तेन विचेतसा मया
प्रदूषितस्त्वं यदजानता प्रभो ।
इदं महेन्द्रोपम भीमविक्रमं
प्रसादितस्त्वं क्षम मे नरेश्वर ॥६७॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

हे इन्द्र के समान भीमविक्रमसम्पन्न ! मैंने तीर की चोट से विकल हो, निर्बुद्धियों जैसी जो कटु बातें कही हैं, उनके लिए आप मुझे क्षमा करें और मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥६७॥

किष्किन्धाकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

एकोनविंशः सर्गः

—❀—

स वानरमहाराजः शयानः शरविक्षतः ।
प्रत्युक्तो हेतुमद्वाक्यैर्नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥१॥

वह कपिराज वालि, जो तीर से घायल हो, ज़मीन पर पड़ा हुआ था और जिसे युक्तियुक्त वचनों से श्रीरामचन्द्र जी ने समझाया था, फिर कुछ न बोल सका ॥१॥

अश्मभिः परिभिन्नाङ्गः पादपैराहतो भृशम् ।
रामबाणेन च क्रान्तो जीवितान्ते मुमोह सः ॥२॥

क्योंकि एक तो उसके अङ्ग पत्थरों से चुटीले हो ही रहे थे, दूसरे पेड़ों का आघात भी उसने सहा था, तिस पर श्रीरामचन्द्र के तीर के घाव से तो वह अच तव हो रहा था, अर्थात मरने ही वाला था। मरने के पूर्व वालि मूर्छित हो गया ॥२॥

तं भार्या बाणमोक्षेण रामदत्तेन संयुगे ।
हतं प्लवगशार्दूलं तारा शुश्राव वालिनम् ॥३॥

इतने में तारा ने सुना कि, वानरश्रेष्ठ वालि युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी के शराघात से मारा गया ॥३॥

सा सपुत्राप्रियं* श्रुत्वा वधं भर्तुः सुदारुणम् ।
निष्पपात भृशं त्रस्ता मृगीव गिरिगह्वरात् ॥४॥

पति के मारे जाने की अत्यन्त दारुण खबर पा कर, पुत्र को लिए हुए तारा, त्रस्त हो, गिरिकन्दरा से उसी प्रकार दौड़ कर बाहिर निकली, जिस प्रकार डरी हुई हिरनी दौड़ कर भागती है ॥४॥

ये त्वङ्गदपरीवारा वानरा भीमविक्रमाः ।
ते सकार्मुकमालोक्य रामं त्रस्ताः प्रदुद्रुवुः ॥५॥

जो वानर अङ्गद के साथ रहा करते थे और बड़े बलवान कहलाते थे, वे श्रीरामचन्द्र को धनुष लिए हुए देख, मारे डर के भाग गये हुए ॥५॥

सा ददर्श ततस्त्रस्तान् हरीनापततो द्रुतम् ।
यूथादिव परिभ्रष्टान् मृगान्निहतयूथपान् ॥६॥

तारा ने देखा कि, मुखिया के मारे जाने पर और झुंड से बिछुड़े हुए हिरनों की तरह, बन्दर डर कर, भाग रहे हैं ।६॥

* पाठान्तरे—"प्रियम्"

निशम्य रामस्य रणावमर्दिनो
वचः सुयुक्तं निजगाद वानरः ॥६६॥

महात्मा एवं रणजयी श्रीरामचन्द्र जी के धर्मयुक्त और समाधानकारक वचनों को सुन, फिर वालि ने युक्तियुक्त वचन कहे ॥६६॥

शराभितप्तेन विचेतसा मया
प्रदूषितस्त्वं यदजानता प्रभो ।
इदं महेन्द्रोपम भीमविक्रमं
प्रसादितस्त्वं क्षम मे नरेश्वर ॥६७॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

हे इन्द्र के समान भीमविक्रमसम्पन्न! मैंने तीर की चोट से विकल हो, निर्बुद्धियों जैसी जो कटु बातें कही हैं, उनके लिए आप मुझे क्षमा करें और मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥६७॥

किष्किन्धाकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

एकोनविंशः सर्गः

—❀—

स वानरमहाराजः शयानः शरविक्षतः ।
प्रत्युक्तो हेतुमद्वाक्यैर्नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥१॥

वह कपिराज वालि, जो तीर से घायल हो, ज़मीन पर पड़ा हुआ था और जिसे युक्तियुक्त वचनों से श्रीरामचन्द्र जी ने समझाया था, फिर कुछ न बोल सका ॥१॥

अश्मभिः परिभिन्नाङ्गः पादपैराहतो भृशम् ।
रामबाणेन च क्रान्तो जीवितान्ते मुमोह सः ॥२॥

क्योंकि एक तो उसके अङ्ग पत्थरों से चुटीले हो ही रहे थे, दूसरे पेड़ों का आघात भी उसने सहा था, तिस पर श्रीरामचन्द्र के तीर के घाव से तो वह अन तत्र हो रहा था, अर्थात् मरने ही वाला था। मरने के पूर्व वालि मूर्छित हो गया ॥२॥

तं भार्या बाणमोक्षेण रामदत्तेन संयुगे।
हतं प्लवगशार्दूलं तारा शुश्राव वालिनम् ॥३॥

इतने में तारा ने सुना कि, वानरश्रेष्ठ वालि युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी के शराघात से मारा गया ॥३॥

सा सपुत्राप्रियं श्रुत्वा वधं भर्तुः सुदारुणम्।
निष्पपात भृशं त्रस्ता मृगीव गिरिगह्वरात् ॥४॥

पति के मारे जाने की अत्यन्त दारुण खबर पा कर, पुत्र को लिए हुए तारा, त्रस्त हो, गिरिकन्दरा से उसी प्रकार दौड़ कर बाहिर निकली, जिस प्रकार डरी हुई हिरनी दौड़ कर भागती है ॥४॥

ये त्वङ्गदपरीवारा वानरा भीमविक्रमाः
ते सकार्मुकमालोक्य रामं त्रस्ताः प्रदुद्रुवुः ॥५॥

जो वानर अङ्गद के साथ सदा रहते थे और बड़े बलवान कहलाते थे, वे श्रीरामचन्द्र को धनुष लिए हुए देख, मारे डर के भाग रहे हुए ॥५॥

सा ददर्श ततस्त्रस्तान् हरीनापततो द्रुतम्*।
यूथादिव परिभ्रष्टान् मृगान्निहतयूथपान् ॥६॥

तारा ने देखा कि, मुखिया के मारे जाने पर और झुंड से बिछुड़े हुए हिरनों की तरह, बन्दर डर कर, भाग रहे हैं ॥६॥

---

* पाठान्तरे—"द्रुतम्"

तानुवाच समासाद्य दुःखितान् दुःखिता सती ।
रामवित्रासितान् सर्वाननुबद्धानिवेषुभिः ॥७॥

तब तो दुखिनी तारा ने, उन वानरों के समीप जा, जो श्रीरामचन्द्र जी को देख, ऐसे भाग गए थे, मानों वे स्वयं बाणों से घायल हो गए हो, दुखित हो, कहा ॥७॥

वानरा राजसिंहस्य यस्य यूयं पुरःसराः ।
तं विहाय सुसन्त्रस्ताः कस्माद्द्रवथ दुर्गताः ॥८॥

हे वानरों! जिस राजसिंह के तुम लोग आगे आगे चला करते थे, उसे छोड़, तुम लोग क्यों इस प्रकार त्रस्त हो कर भागते हो? ॥८॥

राज्यहेतोः स चेद्भ्राता भ्रात्रा रौद्रेण पातितः ।
रामेण प्रहितै रौद्रैर्मार्गणैर्दूरपातिभिः ॥९॥

अगर राज्य पाने के लिए वानरराज को उसके क्रूर भाई सुग्रीव ने, श्रीराम के दूरगामी बाणों से, दूर खड़े श्रीरामचन्द्र द्वारा मरवा डाला, तो इसके लिए तुम क्यों डर कर, भाग रहे हो? ॥९॥

कपिपत्न्या वचः श्रुत्वा कपयः कामरूपिणः ।
प्राप्तकालमविक्लिष्टमूचुर्वचनमङ्गनाम् ॥१०॥

तारा के वचन सुन कर, कामरूपी वानर समयानुकूल और युक्तियुक्त उससे यह वचन बोले ॥१०॥

जीवपुत्रे निवर्तस्व पुत्रं रक्षस्व चाङ्गदम् ।
अन्तको रामरूपेण हत्वा नयति वालिनम् ॥११॥

हे जीवपुत्रे (वह स्त्री जिसका पुत्र जीवित है) तुम घर को लौट जाओ और अपने पुत्र अंगद की रक्षा करो। क्योंकि श्रीराम रूपी काल, वालि को मार कर लिये जाता है ॥११॥

क्षिप्तान् वृक्षान् समाविध्य विपुलाश्च शिलास्तथा ।
वाली वज्रसमैर्बाणै रामेण विनिपातितः ॥१२॥

देखो न, वालि के फेंके हुए अनेक वृक्षों और शिलाओं को व्यर्थ कर श्रीरामचन्द्र ने अपने वज्र तुल्य बाण से वालि को अन्त में मार ही डाला ॥१२॥

अभिद्रुतमिदं सर्वं विद्रुतं प्रसृतं बलम् ।
अस्मिन् प्लवगशार्दूले हते शक्रसमप्रभे ॥१३॥

इन्द्रतुल्य पराक्रमसम्पन्न कपिराज को मरा हुआ देख, यह समस्त कपिसेना भयभीत हो भागी जाती है ॥१३॥

रक्ष्यतां नगरं शूरैरङ्गदश्चाभिषिच्यताम् ।
पदस्थं वालिनः पुत्रं भजिष्यन्ति प्लवङ्गमाः ॥१४॥

इस समय नगर की रक्षा का प्रबन्ध कर, अंगद को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर दीजिए। जब अंगद राजसिंहासन पर बैठ जाँयगे, तब सब वानर उनकी सेवा करेंगे ॥१४॥

अथवा रुचितं स्थानमिह ते रुचिरानने ।
आविशन्ति हि दुर्गाणि क्षिप्रमन्यानि वानराः ॥१५॥

अथवा हे रुचिरानने! सुन्दरमुख वाली यदि तुम्हें यहाँ ठहरना अच्छा लगता हो तो, ये सब वानर इस पुरी के दुर्गम स्थानों में तुरन्त चले जाँयगे ॥१५॥

* पाठान्तरे—"[illegible]।"

अभार्याश्च सभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिणः ।
लुब्धेभ्यो विप्रयुक्तेभ्यस्तेभ्यो नस्तुमुलं भयम् ॥१६॥

क्योंकि उनमें अनेक तो ऐसे हैं, जिनके स्त्री नहीं है और बहुत स्त्री वाले भी हैं। ये सब सुग्रीवादि वानर राज्य के लालची और पहले के हमारे शत्रु हैं। इसीसे इन लोगों से हमें बड़ा डर लगता है ॥१६॥

अल्पान्तरगतानां तु श्रुत्वा वचनमङ्गना ।
आत्मनः प्रतिरूपं सा बभाषे चारुहासिनी ॥१७॥

चारुहासिनी तारा थोड़ी दूर खड़े हुए वानरों के ऐसे वचन सुन, उनसे अपनी पदमर्यादा के अनुकूल वचन बोली ॥१७॥

पुत्रेण मम किं कार्यं किं राज्येन किमात्मना ।
कपिसिंहे महाभागे तस्मिन् भर्तरि नश्यति ॥१८॥

जब मेरे वे (ये) महाभाग कपिश्रेष्ठ पति ही न रहे—मारे गए, तब मुझे पुत्र, राज्य अथवा अपने जीवन ही का क्या करना है ॥१८॥

पादमूलं गमिष्यामि तस्यैवाहं महात्मनः ।
योऽसौ रामप्रयुक्तेन शरेण विनिपातितः ॥१९॥

जो मेरे पति श्रीरामचन्द्रजी के छोड़े हुए तीर से मारे गए हैं, मैं तो उन्हीं महात्मा के चरणों के समीप जाऊँगी ॥१९॥

एवमुक्त्वा प्रदुद्राव रुदन्ती शोककर्शिता ।
शिरश्चोरश्च बाहुभ्यां दुःखेन समभिघ्नती ॥२०॥

यह कह कर, शोक से विकल हुई तारा रोती हुई उस ओर दौड़ी और मारे दु.ख के अपने हाथों से अपना सिर और छाती पीटने लगी ॥२०॥

आव्रजन्ती ददर्शाथ पतिं निपतितं भुवि ।
हन्तारं दानवेन्द्राणां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥२१॥

क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां वज्राणामिव वासवम् ।
महावातसमाविष्टं महामेघौघनिःस्वनम् ॥२२॥

शक्रतुल्यपराक्रान्तं वृष्ट्वेवोपरतं घनम् ।
नर्दन्तं नर्दतां भीमं शूरं शूरेण पातितम् ॥२३॥

शार्दूलेनामिषस्यार्थे मृगराज यथा हतम् ।
अर्चितं सर्वलोकस्य सपताक सवेदिकम् ॥२४॥

नागहेतोः सुपर्णेन चैत्यमुन्मथितं यथा ।
अवष्टभ्य च तिष्ठन्तं ददर्श धनुरुत्तमम् ॥२५॥

रामं रामानुजं चैव भर्तुश्चैवानुजं शुभा ।
तानतीत्य समासाद्य भर्तारं निहतं रणे ॥२६॥

वहाँ जाकर उसने अपने पति को जमीन पर पड़ा हुआ देखा। जो वालि समर में पीठ न दिखाने वाला, दानवेन्द्रों का मारने वाला था, जो वज्र चलाने वाले इन्द्र की तरह बड़े बड़े पर्वतों का फेंकने वाला था, जो प्रचण्ड पवन से युक्त मेघों की तरह गर्जने वाला था, इन्द्र जैसा पराक्रमी और बरसे हुए मेघ की तरह था और वानरों में श्रेष्ठ था उस वीर को, शूर श्रीरामचन्द्र जी ने मार कर वैसे ही गिरा दिया है, जैसे शार्दूल माँस के लिए सिंह को मार डालता है। अथवा जिस प्रकार सर्वपूज्य पताका और वेदी सहित वृक्ष को, साँप पकड़ने के लिए, गरुड़ गिरा देता है। उस समय तारा ने धनुषधारी श्रीरामचन्द्र को तथा उनके छोटे

अभार्याश्च सभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिणः ।
लुब्धेभ्यो विप्रयुक्तेभ्यस्तेभ्यो नस्तुमुलं भयम् ॥१६॥

क्योंकि उनमें अनेक तो ऐसे हैं, जिनके स्त्री नहीं हैं और बहुत स्त्री वाले भी हैं। ये सब सुग्रीवादि वानर राज्य के लालची और पहले के हमारे शत्रु हैं। इसीसे इन लोगों से हमें बड़ा डर लगता है ॥१६॥

अल्पान्तरगतानां तु श्रुत्वा वचनमङ्गना ।
आत्मनः प्रतिरूपं सा बभाषे चारुहासिनी ॥१७॥

चारुहासिनी तारा थोड़ी दूर खड़े हुए वानरों के ऐसे वचन सुन, उनसे अपनी पदमर्यादा के अनुकूल वचन बोली ॥१७॥

पुत्रेण मम किं कार्यं किं राज्येन किमात्मना ।
कपिसिंहे महाभागे तस्मिन् भर्तरि नश्यति ॥१८॥

जब मेरे वे (ये) महाभाग कपिश्रेष्ठ पति ही न रहे—मारे गए, तब मुझे पुत्र, राज्य अथवा अपने जीवन ही का क्या करना है ॥१८॥

पादमूलं गमिष्यामि तस्यैवाहं महात्मनः ।
योऽसौ रामप्रयुक्तेन शरेण विनिपातितः ॥१९॥

जो मेरे पति श्रीरामचन्द्रजी के छोड़े हुए तीर से मारे गए हैं, मैं तो उन्हीं महात्मा के चरणों के समीप जाऊँगी ॥१९॥

एवमुक्त्वा प्रदुद्राव रुदन्ती शोककर्शिता ।
शिरश्चोरश्च बाहुभ्यां दुःखेन समभिघ्नती ॥२०॥

यह कह कर, शोक से विकल हुई तारा रोती हुई उस ओर दौड़ी और मारे दु.ख के अपने हाथों से अपना सिर और छाती पीटने लगी ॥२०॥

आव्रजन्ती ददर्शाथ पतिं निपतितं भुवि ।
हन्तारं दानवेन्द्राणां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥२१॥

क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां वज्राणामिव वासवम् ।
महावातसमाविष्टं महामेघौघनिःस्वनम् ॥२२॥

शक्रतुल्यपराक्रान्तं वृष्ट्वेवोपरतं घनम् ।
नर्दन्तं नर्दतां भीमं शूरं शूरेण पातितम् ॥२३॥

शार्दूलेनामिषस्यार्थे मृगराजं यथा हतम् ।
अर्चितं सर्वलोकस्य सपताकं सवेदिकम् ॥२४॥

नागहेतोः सुपर्णेन चैत्यमुन्मथितं यथा ।
अवष्टभ्य च तिष्ठन्तं ददर्श धनुरुत्तमम् ॥२५॥

रामं रामानुजं चैव भर्तुश्चैवानुजं शुभा ।
तानतीत्य समासाद्य भर्तारं निहतं रणे ॥२६॥

वहाँ जाकर उसने अपने पति को ज़मीन पर पड़ा हुआ देखा। जो वालि समर में पीठ न दिखाने वाला, दानवेन्द्रों का मारने वाला था, जो वज्र चलाने वाले इन्द्र की तरह बड़े बड़े पर्वतों को फेंकने वाला था, जो प्रचण्ड पवन से युक्त मेघों की तरह गर्जने वाला था, इन्द्र जैसा पराक्रमी और बरसे हुए मेघ की तरह था और वानरों में श्रेष्ठ था उस वीर को, शूर श्रीरामचन्द्र जी ने मार कर वैसे ही गिरा दिया है, जैसे शार्दूल मांस के लिए सिंह को मार डालता है। अथवा जिस प्रकार सर्वपूज्य पताका और वेदी सहित वृक्ष को, साँप पकड़ने के लिए, गरुड़ गिरा देता है। उस समय तारा ने धनुषधारी श्रीरामचन्द्र को तथा उनके छोटे

भाई लक्ष्मण को तथा सुग्रीव को खड़े देखा, तथा आगे बढ़ युद्ध में मारे गए अपने पति को ॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥

समीक्ष्य व्यथिता भूमौ सम्भ्रान्ता निपपात ह ।
सुप्त्वेवै* पुनरुत्थाय आर्यपुत्रेति क्रोशती† ॥
रुरोद सा पतिं दृष्ट्वा सन्दितं मृत्युदामभिः ॥२७॥

देख, विकल और उद्विग्न हो तारा भूमि पर गिर पड़ी । थोड़ी देर बाद तारा सोती हुई के समान उठ कर, हा आर्यपुत्र ! कह और कालकवलित पति को देख, रोने लगी ॥२७॥

तामवेक्ष्य तु सुग्रीवः क्रोशन्तीं कुररीमिव ।
विषादमगमत्कष्टं दृष्ट्वा चाङ्गदमागतम् ॥२८॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

उस समय सुग्रीव, कुररी की तरह रोती हुई तारा को और अंगद को वहाँ खड़े देख, बहुत दुखी हुए ॥२८॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

विंशः सर्गः

—❀—

रामचापविसृष्टेन शरेणान्तकरेण तम् ।
दृष्ट्वा विनिहतं भूमौ तारा ताराधिपानना ॥१॥

चन्द्रमुखी तारा श्रीरामचन्द्र जी के धनुष से छूटे हुए प्राण-नाशक बाण से अपने पति को मरा हुआ देख, ॥१॥

* पाठान्तरे "सुप्त्वेव" । † पाठान्तरे—"शोचती" ।

सा समासाद्य भर्तारं पर्यष्वजत भामिनी।
इषुणाभिहतं दृष्ट्वा वालिनं कुञ्जरोपमम् ॥२॥

वह बाण से मारे गए और हाथी की तरह गिरे हुए वालि के निकट जा, उससे लिपट गई ॥२॥

वानरेन्द्रं महेन्द्राभं शोकसन्तप्तमानसा।
तारा तरुमिवोन्मूलं पर्यदेवयदातुरा ॥३॥

फिर पर्वतेन्द्र के समान वानरेन्द्र वालि को उखड़े हुए वृक्ष की तरह पड़ा देख, वह विलाप कर करने लगी ॥३॥

रणे दारुण विक्रान्त प्रवीर प्लवतांवर।
किं दीनमनुरक्तां* मामद्य त्वं नाभिभाषसे ॥४॥

युद्ध में दारुण विक्रम दिखाने वाले, महाबलवीर और वानरश्रेष्ठ! तुम इस समय इस दीना और तुममें अनुराग रखने वाली से क्यों नहीं बोलते? ॥४॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल भजस्व शयनोत्तमम्।
नैवंविधाः शेरते हि भूमौ नृपतिसत्तमाः ॥५॥

हे वानरश्रेष्ठ! तुम उठो और उत्तम पलंग पर शयन करो। क्योंकि नृपश्रेष्ठ इस प्रकार ज़मीन पर नहीं लेटा करते ॥५॥

अतीव खलु ते कान्ता वसुधा वसुधाधिप।
गतासुरपि यां गात्रैर्मां विहाय निषेवसे ॥६॥

हे वसुधानाथ! मैं जान गई कि, यह पृथिवी तुमको अतीव प्रिय है। क्योंकि तुम प्राणहीन होकर भी, मुझे छोड़ अपने शरीर से पृथिवी को लिपटाए हुए हो ॥६॥

* पाठान्तरे—"अपुरोभागाम्"।

व्यक्तमन्या त्वया वीर धर्मतः सम्प्रवर्तिता।
किष्किन्धेव पुरी रम्या स्वर्गमार्गे विनिर्मिता ॥७॥

हे वीर! मैं जान गई। तुमने आज अपने धर्मबल से किष्किन्धा की तरह स्वर्ग के मार्ग में कोई और रमणीकपुरी बनाई है ॥७॥

यान्यस्माभिस्त्वया सार्धं वनेषु मधुगन्धिषु।
विहृतानि त्वया काले तेषामुपरमः कृतः ॥८॥

तुम्हारे साथ वसन्त ऋतु में हम लोगों ने, जो विहार सुगन्धि-युक्त वनों में किए हैं, वे सब आज तुम्हारे साथ ही समाप्त हो गए ॥८॥

निरानन्दा निराशाहं निमग्ना शोकसागरे।
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने महायूथपयूथपे ॥९॥

हे महायूथपतियो के यूथपति! तुम्हारे मरते ही मेरा सारा आनन्द और सारी आशाएँ मिट्टी में मिल गई और मैं शोकसागर में डूब गई ॥९॥

हृदयं सुस्थिरं मह्यं दृष्ट्वा विनिहतं पतिम्।
यन्न शोकाभिसन्तप्तं स्फुटतेऽद्य सहस्रधा ॥१०॥

हाय! मेरा यह हृदय कैसा कठोर है, जो तुमको भूमि पर गिरा देख, शोक से सन्तप्त हो, टुकड़े टुकड़े नहीं हो जाता ॥१०॥

सुग्रीवस्य त्वया भार्या हृता स च विवासितः।
यत्तु तस्य त्वया व्युष्टिः[१] प्राप्तेयं प्लवगाधिप ॥११॥

---

१ व्युष्टिः—फल। गो०

तुमने सुग्रीव की भार्या को छीन कर, सुग्रीव को वन में निकाल दिया, सो हे वानरराज ! आज यह उसी कर्म का फल प्राप्त हुआ है ॥११॥

निःश्रेयसपरा मोहात्त्वया चाहं विगर्हिता ।
यैषाब्रुवं हितं वाक्यं वानरेन्द्र हितैषिणी ॥१२॥

हे वानरेन्द्र ! मैं सदा से तुम्हारा कल्याण चाहने वाली और हितैषिणी हूँ। किन्तु तुमने तो मोहवश, हित की बातें कहने पर भी मुझको दुत्कार दिया ॥१२॥

रूपयौवनदृप्तानां दक्षिणानां च मानद ।
नूनमप्सरसामार्य चित्तानि प्रमथिष्यसि ॥१३॥

हे मानद ! मुझे निश्चय है कि, अब तुम स्वर्ग में जा वहाँ पर अपने रूप यौवन से गर्वित हो, परम चतुर अप्सराओं के मन को लुभाया करोगे ॥१३॥

कालो निःसंशयो नूनं जीवितान्तकरस्तव ।
बलाद्येनावपन्नोऽसि सुग्रीवस्यावशो वशम् ॥१४॥

मैंने निश्चय कर के जान लिया है कि, जीवन का अन्त करने वाले काल ने जबरदस्ती तुमको ला कर सुग्रीव के वश में कर दिया है ॥१४॥

वैधव्यं शोकसन्तापं कृपणं कृपणा सती ।
अदुःखोपचिता पूर्वं वर्तयिष्याम्यनाथवत् ॥१५॥

हाय ! जो मैं अभी तक कभी दीन नहीं हुई थी, सो आज दीन हुई और सदा सुख से पली हुई रहने पर भी, अब विधवापन का शोक और सन्ताप भोगना पड़ेगा ॥१५॥

लालितश्चाङ्गदो वीरः सुकुमारः सुखोचितः ।
वत्स्यते कामवस्थां मे पितृव्ये क्रोधमूर्छिते ॥१६॥

हाय ! अब मेरे इस दुलारे और सुख भोगने योग्य वीर सुकुमार अङ्गद की क्या दशा होगी। क्योंकि सुग्रीव क्रोधी स्वभाव का ठहरा। उससे अङ्गद से कैसे पटेगी ? ॥१६॥

कुरुष्व पितरं पुत्र सुदृष्टं धर्मवत्सलम् ।
दुर्लभं दर्शनं वत्स तव तस्य भविष्यति ॥१७॥

बेटा ! अपने धर्मवत्सल पिता का अन्तिम बार दर्शन कर लो, क्योंकि फिर इनका दर्शन तुमको दुर्लभ हो जायगा ॥१७॥

समाश्वासय पुत्रं त्वं सन्देशं सन्दिशस्व च ।
मूर्ध्नि चैनं समाघ्राय प्रवासं प्रस्थितो ह्यसि ॥१८॥

हे नाथ ! अपने इस पुत्र को ढाढस बधाओ और मुझसे जो कुछ कहना हो सो कह दो। पुत्र का मस्तक सूंघ लो, क्योंकि अब तो तुम सदा के लिए परदेश जा ही रहे हो॥१८॥

रामेण हि महत्कर्म कृतं त्वामभिनिघ्नता ।
आनृण्यं च गतं तस्य सुग्रीवस्य प्रतिश्रवे ॥१९॥

तुम्हें मार कर, श्रीराम ने बड़ा काम किया है। वे यह कार्य कर अपनी उस प्रतिज्ञा से उऋण हो चुके, जो उन्होंने सुग्रीव से की थी ॥१९॥

सकामो भव सुग्रीव रुमां त्वं प्रतिपत्स्यसे ।
भुङ्क्ष्व राज्यमनुद्विग्नः शस्तो भ्राता रिपुस्तव ॥२०॥

हे सुग्रीव ! तुम्हारा वैरी भाई मारा गया। अब तुम सफल मनोरथ हो रुमा को लो और बेखटके राज्य करो ॥२०॥

किं मामेवं विलपतीं प्रेम्णा त्वं नाभिभाषसे ।
इमाः पश्य वरा बह्वीर्भार्यास्ते वानरेश्वर ॥२१॥

हे वानरेश्वर! मैं आपकी प्यारी स्त्री आपके सामने खड़ी रो रही हूँ, सो तुम मुझसे बोलते क्यों नहीं। यह देखो, तुम्हारी अन्य स्त्रियाँ भी तुमको घेरे खड़ी हुई विलाप कर रही हैं ॥२१॥

तस्या विलपितं श्रुत्वा वानर्यः सर्वतश्च ताः ।
परिगृह्याङ्गदं दीनं दुःखार्ताः परिचुक्रुशुः ॥२२॥

इस प्रकार का तारा का विलाप सुन, वे सब वानरियाँ अङ्गद को पकड़ दुःख से विकल हो चिल्ला कर कहने लगीं ॥२२॥

किमङ्गदं साङ्गदवीरबाहो ।
विहाय यास्यद्य चिरप्रवासम् ।
न युक्तमेवं गुणसन्निकृष्टं
विहाय पुत्रं प्रियपुत्र गन्तुम् ॥२३॥

हे वीरवर! तुम इस प्रियदर्शन अङ्गद को छोड़ अनन्त काल के लिए क्यों यात्रा करते हो? अपने समान गुणवान और सुन्दर एवं मनोहर रूप वाले पुत्र का त्याग कर जाना तुमको उचित नहीं ॥२३॥

किमप्रियं ते प्रियचारुवेष
मया कृतं नाथ सुतेन वा ते ।
सहाङ्गदां मां न विहाय वीर
यत्संस्थितो दीर्घमितः प्रयाणम् ॥२४॥

तू अपने इस कुमार पुत्र अंगद की ओर देख और अपने वालि के पारलौकिक हित के लिए जो आगे करना है, सोच ॥४॥

जानास्यनियतामेवं भूतानामागतिं गतिम् ।
तस्माच्छुभं[1] हि कर्तव्यं पण्डिते नैहलौकिकम्[2] ॥५॥

प्राणियों की सद्गति अथवा दुर्गति का कुछ निश्चय नहीं, इसलिए समझदार लोग प्राणियों की हितकामना के लिए और्ध्वदैहिक क्रिया कर्म और रोदनादि किया करते हैं ॥५॥

यस्मिन् हरिसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
वर्तयन्ति कृतांशानि सोऽयं दिष्टान्तमागतः ॥६॥

जिन वालि के जीवनकाल में हजारों लाखों वानर अपना भाग बाँटे हुए रहा करते थे, आज वे ही वालि अपने भाग्य में लिखा हुआ फल भोग रहे हैं ॥६॥

यदयं न्यायदृष्टार्थः सामदानक्षमापरः ।
गतो धर्मजितां भूमिं नैनं शोचितुमर्हसि ॥७॥

वालि राज्य का शासन नीति से करते थे और साम, दान और क्षमा में तत्पर रहते थे—अतः ये उस लोक को गए हैं, जिसमें धर्माचरण करने वाले पुरुष जाया करते हैं। अतः तू इनके लिए दुःखी मत हो ॥७॥

सर्वे हि हरिशार्दूलाः पुत्रश्चायं तवाङ्गदः ।
इदं हर्यृक्षराज्यं च त्वत्सनाथमनिन्दिते ॥८॥

हे अनिन्दिते ! ये बड़े बड़े वानर, तेरा पुत्र अंगद और वालि का छोड़ा हुआ राज्य, ये सब तेरे ही अधीन हैं ॥८॥

---

१ शुभं—और्ध्वदैहिकं । (गो०) २ ऐहलौकिकं—रोदनादिकं । (गो०)

तदिमं शोकसन्तापं शनैः¹ प्रेष्य² भामिनि ।
त्वया परिगृहीतोऽयमङ्गदः शास्तु मेदिनीम् ॥९॥

अब हे भामिनि! तू शोक और सन्ताप को धीरे धीरे त्याग दे। अङ्गद तेरे आज्ञानुसार इस पृथिवी का शासन करे॥९॥

सन्ततिश्च यथा दृष्टा कृत्यं यच्चापि साम्प्रतम् ।
राज्ञस्तत्क्रियतां तावदेष कालस्य निश्चयः ॥१०॥

धर्मशास्त्र में सन्तान जिस प्रयोजन के लिए बतलाया गया है, उस प्रयोजन का समय आ पहुँचा है। वालि के लिए जो उत्तर-कालीन कर्म करने चाहिये, वे अब किये जाँय। क्योंकि ऐसे समय ऐसा ही करने का विधान बतलाया गया है॥१०॥

संस्कार्यो हरिराजश्च अङ्गदश्चाभिषिच्यताम् ।
सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ती शान्तिमेष्यसि ॥११॥

कपिराज वालि का अग्निसंस्कार कर, अंगद का राज्याभिषेक कर। क्योंकि अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठा हुआ देख कर, तेरे चित्त का शोक दूर होगा और तुझे शान्ति मिलेगी॥११॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा भर्तृव्यसनपीडिता ।
अब्रवीदुत्तरं तारा हनुमन्तमवस्थितम् ॥१२॥

पति के दुःख से दुःखी तारा हनुमान जी के ये वचन सुन कर, वहाँ पर खड़े हनुमान जी से कहने लगी॥१२॥

---

१ शनैः—मन्दम्। (गो०) २ प्रेष्य—निरस्य। (गो०)

अङ्गदप्रतिरूपाणां पुत्राणामेकतः शतम् ।
हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम् ॥१३॥

मेरे लिए, अंगद जैसे सौ पुत्रों की अपेक्षा, इस मरे हुए वीर के शरीर का आलिङ्गन ही श्रेष्ठ है ॥१३॥

न चाहं हरिराजस्य प्रभवाम्यङ्गदस्य वा ।
पितृव्यस्तस्य सुग्रीवः सर्वकार्येष्वनन्तरः ॥१४॥

न तो मैं अपने पति का अग्निसंस्कार ही कर सकती हूँ और न अंगद को राजसिंहासन पर ही बैठा सकती हूँ। अब तो अंगद के चचा सुग्रीव ही सब कार्य करेंगे ॥१४॥

न ह्येषा बुद्धिरास्थेया हनुमन्नङ्गदं प्रति ।
पिता हि बन्धुः पुत्रस्य न माता हरिसत्तम ॥१५॥

हे हनुमान! अंगद को राजसिंहासन पर बैठाने की बात मुख से मत निकालो। (क्योंकि इससे चचा भतीजे में विद्वेष होगा।) क्योंकि पुत्र का बन्धु पिता है (अर्थात् पिता के अभाव में पिता का भाई)। माता बन्धु नहीं हो सकती ॥१५॥

न हि मम हरिराजसंश्रया-
त्क्षमतरमस्ति परत्र चेह वा ।
अभिमुखहतवीरसेवितं
शयनमिदं मम सेवितुं क्षमम् ॥१६॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

मेरे लिए तो इस लोक में क्या और परलोक में क्या—इस कपिराज के आश्रय को छोड़ और कुछ भी हितकारक नहीं है

युद्ध में शत्रु के सम्मुख रहके और मारे गए पति की शय्या की सेवा करना ही मेरे लिए ठीक है। (अर्थात् मुझे राज्य आदि से प्रयोजन नहीं है।) ॥२६॥

किष्किन्धाकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

द्वाविंशः सर्गः

—*—

वीक्षमाणस्तु मन्दासुः सर्वतो मन्दमुच्छ्वसन् ।
आदावेव तु सुग्रीवं ददर्श त्वात्मजं ततः* ॥१॥

वालि ने जिसकी साँस धीरे धीरे चल रही थी, चारों ओर देख, पहले सुग्रीव की ओर और फिर अङ्गद की ओर देखा ॥१॥

तं प्राप्तविजयं वाली सुग्रीवं प्लवगेश्वरः ।
आभाष्य व्यक्तया वाचा सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥२॥

वालि ने विजयी एवं वानरराज सुग्रीव से स्नेहयुक्त यह स्पष्ट वचन कहे ॥२॥

सुग्रीव दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्बिषात् ।
कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां बलात् ॥३॥

हे सुग्रीव! मुझे तुम (अपने मन में) दोषी मत ठहराना; क्योंकि मैंने जो कुछ तुम्हारे प्रति अनुचित व्यवहार किया, वह मुझे भावी (होनी) के वश हो और भ्रम में पड़ कर, बरजोरी करना पड़ा था ॥३॥

* पाठान्तरे—" अङ्गदं हरिः "।

युगपद्विहितं तात न मन्ये सुखमावयोः ।
सौहार्दं भ्रातृयुक्तं हि तदिदं तात नान्यथा ॥४॥

हे तात ! मेरी समझ में तो एक ही काल में हम दोनों का सुखपूर्वक रहना हम लोगों के भाग्य में नहीं लिखा था। क्योंकि भाई के साथ रहने से तो भ्रातृप्रेम होना चाहिए था, सो न हो कर उल्टा आपस में बैर हुआ ॥४॥

प्रतिपद्य त्वमद्यैव राज्यमेषां वनौकसाम् ।
मामप्यद्यैव गच्छन्तं विद्धि वैवस्वतक्षयम् ॥५॥

अब तुम इस वानरों के राज्य को लो और मुझे तुम इसी समय से मरा हुआ समझो ॥५॥

जीवितं च हि राज्यं च श्रियं च विपुलामिमाम् ।
प्रजहाम्येष वै तूर्णं महच्चागर्हितं यशः ॥६॥

मैं इस समय अपना जीवन ही नहीं त्यागता, बल्कि अपना राज्य और विपुल धन सम्पत्ति को तथा अनिन्दित यश को भी त्यागता हूँ ॥६॥

अस्यां त्वहमवस्थानां वीर वक्ष्यामि यद्वचः ।
यद्यप्यसुकरं राजन् कर्तुमेव तदर्हसि ॥७॥

हे वीर ! इस अवस्था मे जो कुछ मैं कहता हूँ, सो यद्यपि उसका करना कठिन है, तथापि हे राजन् ! तुम उसे अवश्य करना ॥७॥

सुखार्हं सुखसंवृद्धं बालमेनमबालिशम् ।
बाष्पपूर्णमुखं पश्य भूमौ पतितमङ्गदम् ॥८॥

ज़मीन पर पड़े और रोते हुए इस अंगद की ओर देखो। यह सुख भोगने योग्य है और बड़े लाड़ प्यार से पाल पोस कर, इतना बड़ा हुआ है। यह बालक होने पर भी मूर्ख नहीं है ॥८॥

मम प्राणैः प्रियतरं पुत्रं पुत्रमिवौरसम् ।
मया हीनमहीनार्थं सर्वतः परिपालय ॥९॥

तुम प्राणों से भी बढ़ कर मेरे प्यारे इस बालक का अपने औरस पुत्र की तरह सब प्रकार से पालन करना; जिससे यह मेरे न रहने पर किसी प्रकार का दुःख न पावे ॥९॥

त्वमेवास्य हि दाता च परित्राता च सर्वतः ।
भयेष्वभयदश्चैव यथाऽहं प्लवगेश्वर ॥१०॥

अब तुम ही मेरी तरह इसके वस्त्राभरण के देने वाले और सब प्रकार से रक्षक हो और भय उपस्थित होने पर इसे अभय देने वाले हो ॥१०॥

एष तारात्मजः श्रीमांस्त्वया तुल्यपराक्रमः ।
रक्षसां तु वधे तेषामग्रतस्ते भविष्यति ॥११॥

यह तारा का पुत्र तुम्हारे ही तुल्य पराक्रमी है और राक्षसों के संहार में तुमसे आगे बढ़ कर लड़ेगा ॥११॥

अनुरूपाणि कर्माणि विक्रम्य बलवान् रणे ।
करिष्यत्येष तारेयस्तरस्वी तरुणोऽङ्गदः ॥१२॥

यह बलवान् अपने पराक्रम से सब कामों को यथाशक्ति सम्पादन करेगा। क्योंकि यह कुमार केवल तरुण ही नहीं, बल्कि तेजस्वी भी है ॥१२॥

सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये ।
औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता ॥१३॥

सुषेण की बेटी यह तारा सूक्ष्म अर्थ के विचार करने में और विविध उत्पातों से उत्पन्न हुए भयों का निर्णय करने में बड़ी निपुण है ॥१३॥

यदेषा साध्विति ब्रूयात्कार्यं तन्मुक्तसंशयम् ।
न हि तारामतं किञ्चिदन्यथा परिवर्तते ॥१४॥

अतः यह जो कुछ कहे, उसे तुम निस्संशय हो करना। क्योंकि तारा का किया हुआ कोई विचार उल्टा नहीं पड़ता ॥१४॥

राघवस्य च ते कार्यं कर्तव्यमविशङ्कया ।
स्यादधर्मो ह्यकरणे त्वां च हिंस्याद्विमानितः ॥१५॥

श्रीरामचन्द्र जी का कार्य करने में भी किसी प्रकार न हिचकिचाना। यदि न करोगे तो तुमको अधर्म होगा और श्रीरामचन्द्र जी इससे अपना अपमान समझ, तुमको मार डालेंगे ॥१५॥

इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम् ।
उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां संप्रजह्यान्मृते मयि ॥१६॥

हे सुग्रीव ! इस सोने की दिव्य माला को मेरे गले से निकाल कर, अपने गले मे डाल लो। इस माला में अति उत्तम विजयश्री का वास है। यदि मैं इसे पहिने हुए मर गया, तो फिर इसमें यह बात न रहेगी ॥१६॥

इत्येवमुक्तः सुग्रीवो वालिना भ्रातृसौहृदात् ।
हर्षं त्यक्त्वा पुनर्दीनो ग्रहग्रस्त इवोडुराट् ॥१७॥

जब वालि ने भाइपन के वश हो, ऐसे स्नेहयुक्त वचन कहे, तब सुग्रीव हर्ष परित्याग कर, राहु से ग्रस्त चन्द्रमा की तरह, उदास हो गए ॥१७॥

तद्वालिवचनाच्छान्तः कुर्वन्युक्तमतन्द्रितः ।
जग्राह सोऽभ्यनुज्ञातो मालां तां चैव काञ्चनीम् ॥१८॥

सुग्रीव ने स्वस्थचित्त हो वालि के कथनानुसार कार्य कर, अर्थात् उसकी आज्ञा से वह सोने की माला स्वयं पहिन ली ॥१८॥

तां मालां काञ्चनीं दत्त्वा वाली दृष्ट्वाऽऽत्मजं स्थितम् ।
संसिद्धः प्रेत्यभावाय स्नेहादङ्गदमब्रवीत् ॥१९॥

मृत्यु के समीप पहुँचा हुआ वालि, उस सोने की माला को सुग्रीव को दे और अपने पुत्र को पास खड़ा हुआ देख, स्नेह से बोला ॥१९॥

देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये ।
सुखदुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव ॥२०॥

तुम प्रिय अप्रिय वचनों को सहते, देश काल के अनुसार सुख दुःख भोगते हुए, सुग्रीव के अधीन रहना ॥२०॥

यथा हि त्वं महाबाहो लालितः सततं मया ।
न तथा वर्तमानं त्वां सुग्रीवो बहु मंस्यते ॥२१॥

हे महाबाहो! तुम्हारे बरताव करने पर से मैं जैसा सदा तुम्हारा लालन पालन करता था, यदि वैसा ही तुम करोगे, तो सुग्रीव तुमको अधिक प्यार न करेंगे ॥२१॥

मास्यामित्रैर्गतं गच्छेर्मा शत्रुभिररिन्दम ।
भर्तुरर्थपरो दान्तः सुग्रीववशगो भव ॥२२॥

हे अरिन्दम! तुम इनके मित्रों अथवा शत्रुओं से न मिलना और इनको अपना भरण-पोषण-कर्त्ता मान, शान्त हो, इनके वश में रहना ॥२२॥

न चातिप्रणयः कार्यः कर्तव्योऽप्रणयश्च ते ।
उभयं हि महान् दोषस्तस्मादन्तरदृग्भव ॥२३॥

तुम किसी से न तो अत्यन्त प्रेम करना और न किसी से बिगाड़ करना। क्योंकि ये दोनों ही खटके के मार्ग हैं। अत. तुम मध्यभाव से बर्ताव करना ॥२३॥

इत्युक्त्वाऽथ विवृत्ताक्षः शरसंपीडितो भृशम् ।
विवृतैर्दशनैर्भीमैर्बभूवोत्क्रान्तजीवितः ॥२४॥

इस प्रकार कहते कहते वालि ने बाण की पीड़ा से व्यथित हो, दोनों नेत्रों और दाँतों को फैला कर, प्राण त्याग दिए ॥२४॥

ततो विचुक्रुशुस्तत्र वानरा हरियूथपाः ।
परिदेवयमानास्ते सर्वे प्लवगपुङ्गवाः ॥२५॥

तब तो सब बंदर और यूथप बड़ी जोर से रो रो कर कहने लगे ॥२५॥

किष्किन्धा ह्यद्य शून्यासीत्स्वर्गते वानराधिपे ।
उद्यानानि च शून्यानि पर्वताः काननानि च ॥२६॥

हाय! वानरराज के स्वर्ग सिधारने से आज किष्किन्धा नगरी और यहाँ के सब बाग़ बग़ीचे व पर्वत व जंगल सूने हो गए ॥२६॥

हते प्लवगशार्दूले निष्प्रभा वानराः कृताः ।
येन दत्तं महद्युद्धं गन्धर्वस्य महात्मनः ॥२७॥

जिस वालि ने गन्धर्व के साथ बड़ा भारी युद्ध किया था, उस वानरराज के मारे जाने से वानरगण प्रभाहीन हो गए ॥२७॥

गोलभस्य महाबाहोर्दश वर्षाणि पञ्च च ।
नैव रात्रौ न दिवसे तद्युद्धमुपशाम्यति ॥२८॥

वालि ने गोलभ नामक महाबली गन्धर्व के साथ पन्द्रह वर्ष लों द्वन्द्व युद्ध किया था। वह युद्ध न तो दिन में और न रात मे ही कभी बंद होता था ॥२८॥

ततस्तु षोडशे वर्षे गोलभो विनिपातितः ।
हत्वा तं दुर्विनीतं तु वाली दंष्ट्राकरालवान् ॥२९॥

अन्त में वालि ने सोलहवें वर्ष मे गोलभ को पटक दिया। कराल डाढ़ो वाले वालि ने उस दुर्विनीत गन्धर्व को मार कर ॥२९॥

सर्वाभयकरोऽस्माकं कथमेष निपातितः ॥ ३० ॥

हम सब लोगों को अभय किया था। ऐसा यह वालि आज किस प्रकार मारा गया ॥३०॥

हते तु वीरे प्लवगाधिपे तदा
प्लवङ्गमास्तत्र न शर्म लेभिरे ।

किसी किसी संस्करण में २७ वें श्लोक के बाद यह एक श्लोक और भी दिया हुआ है।

यस्य वेगेन महता काननानि वनानि च ।
पुष्पौघेणानुबध्यन्ते करिष्यति तदद्य कः ॥

वनेचराः सिंहयुते महावने
यथा हि गावो निहते गवांपतौ ॥३१॥

वानरराज वालि के मारे जाने से सब वानर उसी प्रकार दुःखी हुए, जिस प्रकार सिंहयुक्त महावन में गौओं के स्वामी के मरने से गौएँ दुखी होती हैं ॥३१॥

ततस्तु तारा व्यसनार्णवाप्लुता
मृतस्य भर्तुर्वदनं समीक्ष्य सा।
जगाम भूमिं परिरभ्य वालिनं
महाद्रुमं छिन्नमिवाश्रिता लता ॥३२॥

इति द्वाविंशः सर्गः ॥

तारा महादुःख सागर मे डूब और पति का पृथिवी पर मृत अवस्था में पड़ा देख, कटे हुए वृक्ष से लपटी हुई लता की तरह, वालि से लिपट, पृथिवी पर गिर पड़ी ॥३२॥

किष्किन्धाकाण्ड का बाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

त्रयोविंशः सर्गः

—❀—

ततः समुपजिघ्रन्ती कपिराजस्य तन्मुखम्।
पतिं लोकच्च्युतं[1] तारा मृतं वचनमब्रवीत् ॥१॥

अपने स्वर्गगत मृतपति कपिराज वालि का मुख चुम्बन कर, तारा ने कहा ॥१॥

---

१ लोकाच्च्युत—स्वर्गतमित्यर्थ। (गो०)

शेषे त्वं विषमे दुःखमनुक्त्वा वचनं मम ।
उपलोपचिते वीर सुदुःखे वसुधातले ॥२॥

हे वीर! मेरा कहना न मान कर, तुम उस ऊबड़ खाबड़ पथरीली कष्टदायी जमीन पर सो रहे हो ॥२॥

मत्तः प्रियतरा नूनं वानरेन्द्र मही तव ।
शेषे हि तां परिष्वज्य मां च न प्रतिभाषसे ॥३॥

हे वानरनाथ! मैं जान गई निश्चय ही यह पृथिवी तुमको मुझ से अधिक प्रिय है। क्योंकि तुम उसका अलिङ्गन कर, मुझसे बोलते भी नहीं ॥३॥

सुग्रीवस्य वशं प्राप्तो विधिरेष भवत्यहो ।
सुग्रीव एव विक्रान्तो वीर साहसिकप्रिय ॥४॥

हे साहसप्रिय! बड़े आश्चर्य की बात है कि, यह राम रूप दैव सुग्रीव के वश मे हो गए। अतः वही बड़ा विक्रमशाली सिद्ध हुआ ॥४॥

ऋक्षवानरमुख्यास्त्वां बलिनः पर्युपासते ।
एषां विलपितं कृच्छ्रमङ्गदस्य च शोचतः ॥५॥
मम चेमां गिरं श्रुत्वा किं त्वं न प्रतिबुध्यसे ।
इदं तद्वीरशयनं यत्र शेषे हतो युधि ॥६॥
शायिता निहता यत्र त्वयैव रिपवः पुरा ।
विशुद्धसत्त्वाभिजन प्रिययुद्ध मम प्रिय ॥७॥

ये मुख्य मुख्य रीछ और बंदर तुम्हारी सेवा शुश्रूषा कर रहे हैं। इन लोगों के और अत्यन्त शोकग्रस्त हो, विलाप करते हुए

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के छोड़े हुए एक ही बाण से सुग्रीव का भय दूर हो गया है। हृदय में चुभे हुए बाण की रोक के कारण ही मैं भली भाँति तुम्हारा आलिङ्गन नहीं कर सकती और तुम्हारे मरने पर भी मैं केवल तम्हें देख रही हूँ। उस समय नील नामक वानर ने उस बाण को वैसे ही खींच लिआ ॥१६॥१७॥

गिरिगह्वरसंलीन दीप्तमाशीविष यथा।
तस्य निष्कृष्यमाणस्य बाणस्य च बभौ द्युतिः ॥१८॥
अस्तमस्तकसंरुद्धो रश्मिर्दिनकरादिव।
पेतुः क्षतजधारास्तु व्रणेभ्यस्तस्य सर्वशः ॥१९॥

जैसे पर्वत की कन्दरा से जहरीला साँप निकले। उस समय वह खींचा हुआ बाण, वैसा ही दीप्तिमान जान पड़ा, जैसा कि, अस्ताचल पर्वत पर पहुँचे हुए सूर्य की किरणें दीप्तिमान जान पड़ती हैं। बाण के बाहिर खींचने पर वालि के शरीर के सब घावों से खून की धारें बह चलीं ॥१८॥१९॥

ताम्रगैरिकसंपृक्ता धारा इव धराधरात्।
अवकीर्णं विमार्जन्ती भर्तारं रणरेणुना ॥२०॥

मानों पर्वत से लाल गेरू की धारें बहती हों। तारा ने वालि के शरीर की धूल पोंछी और ॥२०॥

अास्रैर्नयनजैः शूरं सिषेचास्त्र[1] समाहतम्।
रुधिरोक्षितसर्वाङ्गं दृष्ट्वा विनिहतं पतिम् ॥२१॥

आँखों मे आँसू भरे हुए वालि के शरीर को अपने अश्रुजल से धोया। मृतपति के सारे शरीर में रक्त लगा देख, ॥२१॥

---

[1] अस्त्रसमाहतवमश्रुव्यासम्। (शि०)

उवाच तारा पिङ्गाक्षं पुत्रमङ्गदमङ्गना ।
अवस्थां पश्चिमां पश्य पितुः पुत्र सुदारुणाम् ॥२२॥
संप्रसक्तस्य वैरस्य गतोऽन्तः पापकर्मणा ।
बालसूर्योदयतनुं प्रयात यमसादनम् ॥२३॥

तारा ने पीले नेत्रों वाले निज पुत्र अंगद से कहा, हे पुत्र ! अपने पिता की इस अन्तकाल की दारुण दशा को देखो । जो शत्रुता इन्होंने वरजोरी की यह उसीका फल है । हे बेटा ! प्रातः-कालीन सूर्य की तरह चमचमाते शरीर वाले और यमालय को जाते हुए अपने पिता को देख लो ॥२२॥२३॥

अभिवादय राजानं पितरं पुत्र मानदम् ।
एवमुक्तः समुत्थाय जग्राह चरणौ पितुः ॥२४॥
भुजाभ्यां पीनवृत्ताभ्यामङ्गदोऽहमिति ब्रुवन् ।
अभिवादयमानं त्वामङ्गद त्वं यथा पुरा ॥२५॥
दीर्घायुर्भव पुत्रेति किमर्थं नाभिभाषसे ।
अहं पुत्रसहाया त्वामुपासे गतचेतनम्* ॥२६॥

हे बेटा ! तुम मान देने वाले अपने पिता राजा को प्रणाम करो । तारा के इस प्रकार कहने पर अगद ने उठ कर अपनी मोटी मोटी भुजाओं से पिता के चरण पकड़ कर कहा—मैं अगद हूँ । इस पर तारा ने वालि से कहा कि, जिस प्रकार पहले प्रणाम करने पर तुम अंगद को आशीर्वाद दे कर कहा करते थे कि, दीर्घायु हो—सो अब क्यों आशीर्वाद नहीं देते । देखो, मैं इस समय पुत्र सहित, तुम्हारे पास वैसे ही बैठी हूँ ॥२४॥२५॥२६॥

---

* पाठान्तरे—" गतचेतसम् ।

सिंहेन निहतं सद्यो गौः सवत्सेव गोवृषम् ।
इष्ट्वा संग्रामयज्ञेन रामप्रहरणाम्भसि ॥२७॥
अस्मिन्नवभृथे स्नातः कथं पत्न्या मया विना ।
या दत्ता देवराजेन तव तुष्टेन संयुगे ॥२८॥

जैसे सिंह द्वारा मारे गए साँड़ की गाय, अपने बछड़े सहित उसके पास खड़ी रहती है। तुम्हारा संग्राम रूपी यज्ञ पूर्ण हो चुका है। अब पत्नी के बिना, श्रीरामचन्द्र के अस्त्र रूपी जल से तुम्हारा अवभृथ अर्थात् यज्ञान्तस्नान किस प्रकार पूरा होगा? देवराज इन्द्र ने संग्राम में सन्तुष्ट हो, जो सुवर्ण की माला तुमको दी थी, वह माला इस समय मुझे तुम्हारे कण्ठ में नहीं देख पड़ती, इसका क्या कारण है ॥२७॥२८॥

शातकुम्भमयीं मालां तां ते पश्यामि नेह किम् ।
राजश्रीर्न जहाति त्वां गतासुमपि मानद ।
सूर्यस्यावर्तमानस्य शैलराजमिव प्रभा ॥२९॥

हे मानद! प्राण निकल जाने पर भी यह राज्यश्री तुमको वैसे ही नहीं त्यागती, जैसे सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य को प्रभा नहीं छोड़ती ॥२९॥

न मे वचः पथ्यमिदं त्वया कृतं
न चास्मि शक्ता विनिवारणे तव ।
हता सपुत्राऽस्मि हतेन संयुगे
सह त्वया श्रीर्विजहाति मामिह ॥३०॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

हाय मैंने, जो हितकर वचन तुमसे कहे थे, उन पर तुमने कुछ भी ध्यान न दिआ। मुझमें वह शक्ति न थी कि, मैं तुमको रोक लेती! इसका परिणाम यह हुआ कि, युद्ध में तुम्हारे मारे जाने से मैं पुत्रवती विनाश को प्राप्त हुई। हाय जिस प्रकार राज्यश्री ने तुम्हारा परित्याग किआ, वैसे ही मेरा भी परित्याग किआ है ॥३०॥

किष्किन्धाकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

चतुर्विंशः सर्गः

—:o—

तां त्वश्रुवेगेन दुरासदेन
त्वभिप्लुतां शोकमहार्णवेन।
पश्यंस्तदा वाल्यनुजस्तरस्वी
भ्रातुर्वधेनाप्रतिमेन तेपे ॥१॥

अत्यन्त वेगवान्, अत्यन्त कठिनाई से पार होने योग्य शोक रूपी महासागर में डूबती हुई तारा को देख, वालि के छोटे भाई सुग्रीव भाई के मारे जाने से बहुत दुःखी हुए ॥१॥

स वाष्पपूर्णेन मुखेन वीक्ष्य
क्षणेन निर्विण्णमना मनस्वी।
जगाम रामस्य शनैः समीपं
भृत्यैर्वृतः सम्परिदूयमानः ॥२॥

तारा को रोती हुई देख, मनस्वी सुग्रीव बहुत दुःखी हुए और अपने अनुचरों को साथ ले, धीरे-धीरे श्रीरामचन्द्र जी के समीप गए ॥२॥

स तं समासाद्य गृहीतचाप-
मुदात्तमाशीविषतुल्यबाणम् ।
यशस्विनं लक्षणलक्षिताङ्ग-
मवस्थितं राघवमित्युवाच ॥३॥

उस समय शास्त्रों में कथित उत्तम लक्षणों से युक्त श्रीरामचन्द्र जी हाथ में धनुष लिये और उस पर बड़े पैने बाण चढ़ाए, लक्ष्मण सहित खड़े थे। उनके पास जाकर सुग्रीव कहने लगे ॥३॥

यथाप्रतिज्ञातमिदं नरेन्द्र
कृतं त्वया दृष्टफलं च कर्म ।
ममाद्य भोगेषु नरेन्द्रपुत्र
मनो निवृत्तं सह जीवितेन ॥४॥

हे नरेन्द्र! आपने जो प्रतिज्ञा की थी उसको तो आपने पूरा कर दिया और मैंने भी उस काम को पूरा हुआ देख लिया किन्तु हे राजकुमार! अब मेरा मन राज्य भोग से फिर गया है और अब मैं अपने इस निन्द्य जीवन से कोई भी सुख पाने की इच्छा नहीं करता ॥४॥

अस्यां महिष्यां तु भृशं रुदन्त्यां
पुरे च विक्रोशति दुःखतप्ते ।
हतेऽग्रजे संशयितेऽङ्गदे च
न राम राज्ये रमते मनो मे ॥५॥

राम! मेरे भाई वालि के मारे जाने से उनकी पटरानी तारा बहुत रो रही है और पुरवासी भी दुःख से सन्तप्त हो,

हाहाकार कर रहे हैं। बड़े भाई के मारे जाने से अब अंगद के जीने में भी सन्देह है। इसलिए राज्य करने को मेरा जी नहीं चाहता ॥५॥

क्रोधादमर्षादतिविप्रधर्षाद्
भ्रातुर्वधो मेऽनुमतः पुरस्तात्।
हते त्विदानीं हरियूथपेऽस्मिन्
सुतीव्रमिक्ष्वाकुकुमार तप्स्ये ॥६॥

हे इक्ष्वाकुकुमार! क्रोध से अथवा डाह से या मेरा अत्यन्त अपमान होने के कारण पहले तो मैं चाहता था कि, भाई मारा जाय; किन्तु अब उसके मारे जाने पर मुझे बड़ा दुःख है ॥६॥

श्रेयोऽद्य मन्ये मम शैलमुख्ये
तस्मिन्निवासश्चिरमृष्यमूके।
यथा तथा वर्तयतः स्ववृत्त्या
नेमं निहत्य त्रिदिवस्य लाभः ॥७॥

उस पर्वतश्रेष्ठ ऋष्यमूक पर चिरकाल तक रह कर, अन्य किसी प्रकार अपनी आजीविका का प्रबन्ध करना, मुझे अपने लिए कल्याणकारक जान पड़ता है, परन्तु भाई को मार कर, स्वर्ग का मिलना भी मुझे पसंद नहीं ॥७॥

न त्वां जिघांसामि चरेति यन्मा-
मयं महात्मा मतिमानुवाच।
तस्यैव तद्राम वचोऽनुरूप-
मिदं पुनः कर्म च मेऽनुरूपम् ॥८॥

उस बुद्धिमान् महात्मा ने मुझसे कहा था कि, मैं तुझे मारना नहीं चाहता—तू जहाँ चाहे वहाँ चला जा । हे राम ! ये वचन उसीके योग्य थे । साथ ही मेरे वचन और तदनुसार मेरा यह कर्म, मेरे अर्थात् मुझ नीच के अनुरूप ही हैं ॥८॥

भ्राता कथं नाम महागुणस्य
भ्रातुर्वधं राघव रोचयेत ।
राज्यस्य दुःखस्य च वीर सारं
न चिन्तयन् कामपुरस्कृतः सन् ॥९॥

हे रामचन्द्र ! भाई कैसा भी क्यों न हो, क्या कोई भाई अपने बड़े गुणवान् भाई का बध कभी पसद करेगा ? कामासक्त होने के कारण हाय मैंने राज्यसुख और भ्रातृसुख में कौन उत्कृष्ट है—यह न जाना ॥९॥

वधो हि मे मतो नासीत्स्वमाहात्म्याव्यतिक्रमात् ।
ममासीद्बुद्धिदौरात्म्यात्प्राणहारी व्यतिक्रमः ॥१०॥

हे राम ! मैं भाई का वध नहीं चाहता था; किन्तु अपना अपमान होने पर मेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो गई, जिसके कारण ऐसा प्राणहिंसक कर्म मुझसे बन पड़ा ॥१०॥

द्रुमशाखावभग्नोऽहं मुहूर्तं परिनिष्टनन् ।
सान्त्वयित्वा त्वनेनोक्तो न पुनः कर्तुमर्हसि ॥११॥

देखो, जब मैं वहाँ पहुँच कर मुहूर्त भर गरजा, तब उसने वृक्ष की डाली से मुझे मारा, किन्तु साथ ही मुझे आश्वासन देकर यह कहा कि, खबरदार फिर ऐसी धृष्टता मत करना ॥११॥

भ्रातृत्वमार्यभावश्च धर्मश्चानेन रक्षितः ।
मया क्रोधश्च कामश्च कपित्वं च प्रदर्शितम् ॥१२॥

हे राघव ! वालि ने भ्रातृभाव, बड़प्पन और धर्म की रक्षा की, किन्तु मैंने निस्सन्देह क्रोध, काम और बंदरपन दिखलाया ॥१२॥

अचिन्तनीयं परिवर्जनीय-
मनीप्सनीयं स्वनवेक्षणीयम् ।
प्राप्तोऽस्मि पाप्मानमिमं नरेन्द्र
भ्रातुर्वधात्त्वाष्ट्रवधादिवेन्द्रः ॥१३॥

हे मित्र ! देवराज इन्द्र ने विश्वकर्मा के पुत्र विश्वरूप को वध कर के जिस प्रकार हत्या बटोरी थी, वैसे ही मैंने भी भाई का वध कर, यह अचिन्त्य, साधुओं द्वारा त्याग योग्य, अवाञ्छित और गर्हित कर्म कर डाला है ॥१३॥

पाप्मानमिन्द्रस्य मही जलं च
वृक्षाश्च कामं जगृहुः स्त्रियश्च ।
को नाम पाप्मानमिमं क्षमेत
शाखामृगस्य प्रतिपत्तुमिच्छन् ॥१४॥

इन्द्र के उस पाप को पृथिवी, जल, वृक्ष और स्त्रियों ने आपस में बाँट लिया था ; किन्तु मुझ वानर का पाप बाँटने को कौन राजी होगा ? ॥१४॥

नार्हामि सम्मानमिमं प्रजानां
न यौवराज्यं कुत एव राज्यम् ।

अधर्मयुक्तं कुलनाशयुक्त-
मेवंविधं राघव कर्म कृत्वा ॥१५॥

हे श्रीरामचन्द्र ! इस प्रकार का अधार्मिक और कुल का नाश करने वाला पाप कर, मैं कैसे आशा रखूँ कि, प्रजाजन मेरा आदर भी करें। मैं तो अपने को युवराजपद पाने के योग्य भी नहीं समझता, फिर भला राज्यप्राप्ति की तो बात ही निराली है ॥१५॥

पापस्य कर्तास्मि विगर्हितस्य
क्षुद्रस्य लोकापकृतस्य चैव ।
शोको महान् मामभिवर्ततेऽयं
वृष्टेर्यथा निम्नमिवाम्बुवेगः ॥१६॥

हे श्रीरामचन्द्र ! मैं इस निन्दित, ओछे और लोकोपकारी पाप का कर्त्ता हूँ। इस बात का मुझे जो महान शोक हो रहा है, वह मुझे उसी प्रकार बाधा दे रहा है, जिस प्रकार बरसाती जल का वेग नीची भूमि को बाधा देता है ॥१६॥

सोदर्यघाताऽपरगात्रवालः
सन्तापहस्ताक्षिशिरोविषाणः ।
एनोमयो मामभिहन्ति हस्ती
दृप्तो नदी कूलमिव प्रवृद्धः ॥१७॥

देखिए ! यह पाप रूपी मतवाला हाथी, जो भाई की हत्या रूपी अङ्ग और बालों से युक्त है, तथा भाई के नाश से उत्पन्न हुआ सन्ताप जिसकी सूँड, नेत्र, सिर और दाँत हैं, मुझे वैसे ही मारे डालता है, जैसे जंगली हाथी नदी के तट को तोड़ता है ॥१७॥

अहो बतेदं नृवराविपह्य
निवर्तते मे हृदि साधु वृत्तम् ।
विवर्णमग्नौ परितप्यमानं
किट्टं यथा राघव जातरूपम् ॥१८॥

हे पुरुषोत्तम ! यह बड़े ही दु:ख और अचरज की बात है कि, इस पाप से मेरे मन का साधुभाव वैसे ही नष्ट हो रहा है, जैसे अग्नि मे तपाने से खोटे सोने का मैल उस सोने को नष्ट कर देता है ॥१८॥

महाबलानां हरियूथपाना-
मिदं कुलं राघव मन्निमित्तम् ।
अस्याङ्गदस्यापि च शोकतापा-
दर्धस्थितप्राणमितीव मन्ये ॥१९॥

हे राम ! मैं तो यह समझता हूँ कि, महाबली वानरसेनापतियों का कुल मेरे कारण तथा अंगद के शोक सन्ताप से अधमरा सा हो गया है ॥१९॥

सुतः सुलभ्यः सुजनः सुवश्यः
कुतः सुपुत्रः सदृशोऽङ्गदेन ।
न चापि विद्येत स वीर देशो
यस्मिन् भवेत्सोदरसन्निकर्षः ॥२०॥

हे राम ! पुत्र की प्राप्ति सहज है और अपने सब सुजन भी सहज में अपने वश मे किए जा सकते हैं, किन्तु अंगद जैसा गुणवान् पुत्र कहाँ मिल सकता है ? फिर हे वीर ! वैसा कोई देश भी नहीं देख पड़ता, जहाँ फिर सहोदर भाई से भेंट हो सके ॥२०॥

यद्यङ्गदो वीरवरार्ह जीवे-
ज्जीवेच्च माता परिपालनार्थम् ।
विना तु पुत्रं परितापदीना
तारा न जीवेदिति निश्चितं मे ॥२१॥

देखिए, प्रथम तो पिता के वियोगजनित शोक से अंगद जीवित रहने ही में सन्देह है। कदाचित् वह माता का पा करने को जीवित रहे, किन्तु यदि वह जीवित न रहा, तो निश्चय है कि, उसकी माता तारा कभी जीती न रहेगी ॥२१॥

सोऽहं प्रवेक्ष्याम्यतिदीप्तमग्निं
भ्रात्रा च पुत्रेण च सख्यमिच्छन् ।
इमे विचेष्यन्ति हरिप्रवीराः
सीतां निदेशे तव वर्तमानाः ॥२२॥

मैं अपने और उसके पुत्र के साथ मैत्री करने की इच्छा से यदि दहकती हुई आग में गिर पड़ूँ, तो भी ये समस्त वानर आपकी आज्ञा में रह कर, सीता जी को ढूढ देंगे ॥२२॥

कृत्स्नं तु ते सेत्स्यति कार्यमेत-
न्मय्यप्रतीते मनुजेन्द्रपुत्र ।
कुलस्य हन्तारमजीवनार्हं
रामानुजानीहि कृतागसं माम् ॥२३॥

हे नरेन्द्रकुमार! मेरी अनुपस्थिति में भी ये वानरगण आप समस्त काम करेंगे। मैं कुल का नाशक अब अधिक जीने योग्य नहीं हूँ। अतः आप अब मुझे आज्ञा दीजिए ॥२३॥

इत्येवमार्तस्य रघुप्रवीरः
श्रुत्वा वचो वाल्यनुजस्य तस्य
सञ्जातबाष्पः परवीरहन्ता
रामो मुहूर्तं विमना बभूव ॥२४॥

वालि के छोटे भाई सुग्रीव ने अत्यन्त आर्त्त हो कर, जब इस प्रकार के वचन कहे, तब शत्रुओं को तपाने वाले श्रीरामचन्द्र जी के नेत्रों में आँसू भर आए और एक मुहूर्त्त तक उदास हो गए ॥२४॥

तस्मिन् क्षणेऽभीक्ष्णमवेक्ष्यमाणः
क्षितिक्षमावान् भुवनस्य गोप्ता ।
रामो रुदन्तीं व्यसने निमग्नां
समुत्सुकः सोऽथ ददर्श ताराम् ॥२५॥

पृथिवी की तरह क्षमावान् और भुवनरक्षक श्रीरामचन्द्र जी रोती हुई और दुःख मे डूबी हुई तारा को उत्सुकता पूर्वक देखने लगे ॥२५॥

तां चारुनेत्रां कपिसिंहनाथं
पतिं समाश्लिष्य तदा शयानाम् ।
उत्थापयामासुरदीनसत्त्वां
मन्त्रिप्रधानाः कपिवीरपत्नीम् ॥ २६ ॥

इसी बीच में प्रधान मंत्रियों ने सुन्दर नेत्रों वाली तारा को, जो पति के शरीर से लिपटी हुई भूमि पर पड़ी थी, उठा कर पति से अलग किया ॥२६॥

सा विस्फुरन्ती परिरभ्यमाणा
भर्तुः सकाशादपनीयमाना ।
ददर्श रामं शरचापपाणिं
स्वतेजसा सूर्यमिव ज्वलन्तम् ॥ २७ ॥

पति से हटाने के समय तारा बहुत छटपटानी। फिर जब मन्त्री उसे श्रीरामचन्द्र जी के पास ले गए, तब उसने धनुष बाण लिये अपने तेज से दीप्तमान सूर्य के सदृश श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥२७॥

सुसंवृतं पार्थिवलक्षणैश्च
तं चारुनेत्रं मृगशावनेत्रा ।
अदृष्टपूर्वं पुरुषप्रधान-
मयं स काकुत्स्थ इति प्रजज्ञे ॥ २८ ॥

सुन्दर नेत्रों वाली अथवा मृगशावकनयनी तारा ने कभी पहले श्रीराम को नहीं देखा था, किन्तु सर्व लक्षण-सम्पन्न पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी को देखते ही, वह जान गई कि, यही श्रीरामचन्द्र हैं ॥२८॥

तस्येन्द्रकल्पस्य दुरासदस्य
महानुभावस्य समीपमार्या ।
आर्ताऽतितूर्णं व्यसनाभिपन्ना
जगाम तारा परिविह्वलन्ती ॥ २९ ॥

उस समय वह तारा इन्द्रसदृश दुर्धर्ष और महा-प्रभाववान् श्रीरामचन्द्र जी को देख, अत्यन्त विकल होकर, तुरन्त श्रीराम चन्द्र जी के पास गई ॥२९॥

सा तं समासाद्य विशुद्धसत्त्वा
शोकेन सम्भ्रान्तशरीरभावा ।
मनस्विनी वाक्यमुवाच तारा
रामं रणोत्कर्षणलब्धलक्षम् ॥ ३० ॥

शोक के मारे क्रुद्ध और पति के मारने वाले को दुर्वाक्य कहने के लिए उद्यत, किन्तु श्रीराम की सन्निधि के कारण पापनिर्मुक्त तारा, रणस्थल में उत्कृष्ट कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के पास जा कर, बोली ॥३०॥

त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च
जितेन्द्रियश्चोत्तमधार्मिकश्च ।
अक्षय्यकीर्त्तिश्च विचक्षणश्च
क्षितिक्षमावान्क्षतजोपमाक्षः ॥ ३१ ॥

हे राघव ! आपका भेद वेद भी नहीं पा सकते हैं। आप दुराधर्ष जितेन्द्रिय उत्तम धर्माचरण-सम्पन्न पूर्ण कीर्तिमान्, चतुर पृथिवी की तरह क्षमावान और कमल के फूल जैसे लाल रंग के नेत्रों वाले हैं ॥३१॥

त्वमात्तबाणासनबाणपाणि-
र्महाबलः संहननोपपन्नः ।
मनुष्यदेहाभ्युदयं विहाय
दिव्येन देहाभ्युदयेन युक्तः ॥ ३२ ॥

आप धनुष बाण धारण किए हुए, महाबली और दृढ़ शरीर वाले हैं। आप मनुष्य शरीर के अभ्युदय को त्याग कर, दिव्य शरीर की सम्पत्ति से युक्त हुए हैं ॥३२॥

येनैकबाणेन हतः प्रियो मे
तेनैव मां त्वं जहि सायकेन ।
हता गमिष्यामि समीपमस्य
न मामृते राम रमेत वाली ॥ ३३ ॥

हे वीर ! जिस तीर से आपने वालि को मारा है, उसी बाण से आप मुझे भी मार डालिए, जिससे मैं मर कर, उसके समीप पहुँच जाऊँ। क्योंकि मेरे बिना वालि वहाँ प्रसन्न नहीं रह सकेगा ॥३३॥

स्वर्गेऽपि पद्मामलपत्रनेत्रः
समेत्य संप्रेक्ष्य च मामपश्यन् ।
न ह्येष उच्चावचताम्रचूडा
विचित्रवेषाप्सरसोऽभजिष्यत् ॥ ३४ ॥

हे कमलनेत्र! स्वर्गीय पुरुषों से वालि की जब भेंट होगी और वहाँ जब वह मुझे न देखेगा, तब वहाँ की विचित्र वेष धरने वाली और भाँति भाँति के लाल रंग के फूलों से चोटी गूँथे हुए अप्सराओं के साथ विहार न करेगा ॥३४॥

स्वर्गेऽपि शोकं च विवर्णतां च
मया विना प्राप्स्यति वीर वाली ।
रम्ये नगेन्द्रस्य तटावकाशे
विदेहकन्यारहितो यथा त्वम् ॥ ३५ ॥

हे वीर ! स्वर्ग में भी वालि, विना मेरे शोकान्वित और उदास ही रहेगा। जैसे सीता विना आप पर्वतों पर खिन्न रहते हैं ॥३५॥

त्वं वेत्थ यावद्वनिताविहीनः
प्राप्नोति दुःखं पुरुषः कुमारः।
तत्त्वं प्रजानञ्जहि मां न वाली
दुःखं ममादर्शनजं भजेत ॥ ३६ ॥

आप यह तो जानते ही हैं कि, स्त्री के बिना कारा पुरुष दुखी रहता है। अतः आप इस बात के तत्व को विचार कर, मुझे मार डालिए। क्योंकि मुझे देखे बिना वालि स्वर्ग में न रह सकेगा ॥३६॥

यच्चापि मन्येत भवान् महात्मा
स्त्रीघातदोषो न भवेत्तु मह्यम्।
आत्मेयमस्येति च मां जहि त्वं
न स्त्रीवधः स्यान्मनुजेन्द्रपुत्र ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्! अगर आप यह समझें कि, मुझे मारने से आपको स्त्रीहत्या का पाप लगेगा, तो आप अपने मन की यह शङ्का दूर कर डालें। क्योंकि तारा और वालि की आत्मा को आप एक ही समझें। हे नरेन्द्रपुत्र! इसलिए स्त्रीहत्या का पाप आपको न लगेगा ॥३७॥

शास्त्रप्रयोगाद्विविधाच्च वेदा-
दात्मा ह्यनन्यः पुरुषस्य दारा।
दारप्रदानान्न हि दानमन्य-
त्प्रदृश्यते ज्ञानवतां हि लोके ॥ ३८ ॥

अनेक शास्त्रों और वेदों में भी यह बात लिखी है कि, स्त्री और पुरुष की आत्मा अलग अलग नहीं होती। इसीसे लोग

कहा करते हैं कि, संसार में स्त्रीदान से बढ़ कर, अन्य कोई दान नहीं है ॥३८॥

त्वं चापि मां तस्य मम प्रियस्य
प्रदास्यसे धर्ममवेक्ष्य वीर ।
अनेन दानेन न लप्स्यसे त्व-
मधर्मयोगं मम वीर घातात् ॥ ३९ ॥

हे वीर! आप धर्म को विचार कर और मुझे मार कर बालि को स्त्रीदान करने का पुण्यफल प्राप्त करेंगे। अतः इस दान के फल से आपको मेरे बध का कुछ भी पाप न लगेगा ॥३९॥

आर्तामनाथामपनीयमाना-
मेवंविधामर्हसि मां निहन्तुम् ।
अहं हि मातङ्गविलासगामिना
प्लवङ्गमानामृषभेण धीमता ॥ ४० ॥

मैं आर्त्त, अनाथ और पति से बिछुडी हुई हूँ। मैं इस दुर्दशा में हूँ। अतः अवश्य मारी जाने योग्य हूँ। क्योंकि मैं मत्त हाथी की तरह चलने वाले धीमान् वानरश्रेष्ठ ॥४०॥

विना वरार्होत्तमहेममालिना
चिरं न शक्ष्यामि नरेन्द्र जीवितुम् ।
इत्येवमुक्तस्तु विभुर्महात्मा
तारां समाश्वास्य हितं बभाषे ॥४१॥

उत्तम सुवर्ण की माला धारण करने वाले वालि के विना बहुत दिनों न जी सकूँगी। तारा के वचन सुन, तारा को समझाते हुए श्रीरामचन्द्र जी उससे हितकर वचन कहने लगे ॥४१॥

मा वीरभार्ये विमतिं कुरुष्व
लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा ।
तं चैव सर्वं सुखदुःखयोगं
लोकोऽब्रवीत्तेन कृतं विधात्रा ॥४२॥

हे वीरपत्नी ! तुम ऐसी उल्टी बातें मत कहो ! क्योंकि यह सारा विश्वप्रपञ्च विधाता का बनाया हुआ है । इतना ही नहीं, बल्कि मनुष्यों को जो संयोग और वियोग जनित सुख दु.ख प्राप्त होते हैं सो यह भी उसी विधि का विधान है । यह बात सभी लोग कहा करते हैं ॥४२॥

त्रयो हि लोका विहितं विधानं
नातिक्रमन्ते वशगा हि तस्य ।
प्रीतिं परां प्राप्स्यसि तां तथैव
पुत्रस्तु ते प्राप्स्यति यौवराज्यम् ॥४३॥

देखो तीनों लोक उस विधाता के रचे हुए विधान को नहीं मेट सकते । क्योंकि सब ही तो उसके वश में हैं । तुम पहिले की तरह सुखी होओगी और तुम्हारे पुत्र को यौवराज्यपद मिलेगा ॥४३॥

धात्रा विधानं विहितं तथैव
न शूरपत्न्यः परिदेवयन्ति ।
आश्वासिता तेन तु राघवेण
प्रभावयुक्तेन परन्तपेन ।
सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन
सुवेषरूपा विरराम तारा ॥४४॥

इति चतुर्विंशः सर्गः

क्योंकि विधाता ने ऐसी ही व्यवस्था कर रखी है। जैसा विलाप इस समय तुम कर रही हो, वैसा विलाप शूरों की स्त्रियाँ नहीं किआ करतीं। प्रभावशाली और शत्रुहन्ता महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने जब तारा को इस प्रकार समझाया, तब सुवेषधारिणी वीरपत्नी तारा ने विलाप करना बन्द किआ ॥४४॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

पञ्चविंशः सर्गः

—❀—

सुग्रीवं चैव तारां च साङ्गदां सहलक्ष्मणः।
समानशोकः काकुत्स्थः सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥१॥

अब लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्र जी ने, जो उस समय सुग्रीव, तारा और अंगद की तरह स्वयं भी दुःखी हो रहे थे, सुग्रीव, तारा और अंगद को धीरज बँधाते हुए कहा ॥१॥

न शोकपरितापेन श्रेयसा युज्यते मृतः।
यदत्रानन्तरं कार्यं तत्समाधातुमर्हथ ॥२॥

शोक और सन्ताप करने से मरे हुए प्राणी का भला नहीं होता, अतः आगे जो काम करना है, उसको तुम लोग करो ॥२॥

लोकवृत्तम्[1] अनुष्ठेयं कृतं वो बाष्पमोक्षणम्।
न कालादुत्तरं किञ्चित्कर्म शक्यमुपासितुम् ॥३॥

---

१ लोकवृत्त—लोकाचारसिद्ध। (गो०)

* पाठान्तरे—साङ्गकदम्

लोकाचारसिद्ध जो रोनाधोना था वह तो तुम कर चुकीं, अब समयोचित कर्म करो। जिस समय जो कर्म करना चाहिए उस समय वही कर्म करना उचित है। दूसरा काम करना और समय को बिता देना ठीक नहीं ॥३॥

नियतिः[1] कारण लोके नियतिः कर्मसाधनम् ।
नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह[2] कारणम् ॥४॥

ईश्वर ही समस्त लोगों की उत्पत्ति का कारण है। ईश्वर ही समस्त कर्मों का सिद्ध करने वाला है और ईश्वर ही प्राणी मात्र का प्रेरक है ॥४॥

न कर्ता कस्यचित्कश्चिन्नियोगे चापि नेश्वरः ।
स्वभावे वर्तते लोकस्तस्य कालः परायणम् ॥५॥

न तो कोई पुरुष किसी कर्म का स्वतन्त्र रूप से कर्त्ता है और न कोई किसी काम की प्रेरणा में ईश्वरत्व रखता है। किन्तु समस्त लोक स्वभावाधीन है और काल रूपी ईश्वर उस स्वभाव का प्रेरक है अर्थात् समस्त काय करता है ॥५॥

न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते ।
स्वभावं च समासाद्य न कश्चिदतिवर्तते ॥६॥

देखो वह काल रूपी ईश्वर जन्ममरणादि व्यवस्था के बाहिर कोई काम नहीं करता, किन्तु व्यवस्थानुसार ही सब कुछ करता है ॥६॥

न कालस्यास्ति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः ।
न मित्रज्ञातिसम्बन्धः कारणं नात्मनो[3] वशः[4] ॥७॥

---

१ नियति.—ईश्वर.। (गो०) २ नियोगेषु—प्रेरणेषु। (गो०) ३ आत्मनो—जीवस्य। (गो०) ४ न वशः—नपरतन्त्रः। (गो०)

कालरूपी ईश्वर न तो किसी का पक्षपाती है, न उसको वश में करने का कोई उपाय है और न उसको जीतने के लिए किसी प्रकार का पराक्रम काम दे सकता है। वह किसी से मित्र या ज्ञातिगत सम्बन्ध भी नहीं रखता। इसीसे कालरूपी ईश्वर, जीव के परतंत्र नहीं ॥७॥

किं तु कालपरीणामो द्रष्टव्यः साधु पश्यता ।
धर्मश्चार्थश्च कामश्च कालक्रमसमाहिताः ॥८॥

अतः विवेकी पुरुष का कर्त्तव्य है कि, धर्म अर्थ और काम को कालक्रम से उत्पन्न हुआ समझ, उसको कालरूपी ईश्वर ही का परिणाम जाने ॥८॥

इतः स्वां प्रकृतिं वाली गतः प्राप्तः क्रियाफलम्[१] ।
धर्मार्थकामसंयोगैः पवित्रः प्लवगेश्वरः ॥९॥

देखो मेरे बाण के लगने से उसका प्रायश्चित्त हो गया और उससे उसका शुद्ध भाव हो गया। इस लोक में समयानुसार उसने जो धर्म अर्थ काम सम्बन्धी अनुष्ठानादि किए थे, उनके प्रभाव से अथवा उनका फल स्वरूप उसको स्वर्ग की प्राप्ति हुई ॥९॥

स्वधर्मस्य च संयोगाज्जितस्तेन महात्मना ।
स्वर्गः परिगृहीतश्च प्राणानपरिरक्षता ॥१०॥

अपने विहित धर्मानुष्ठान से और शूरवीरों के अनुष्ठेय धर्मानुष्ठान से वालि ने जो स्वर्गलोक पहिले ही सम्पादन कर लिया था, वही स्वर्गलोक उसे अब प्राप्त हुआ है ॥१०॥

---

१ क्रियाफलं—स्वर्गं प्राप्त । (गो०)

एषा वै नियतिः श्रेष्ठा यां गतो हरियूथपः ।
तदलं परितापेन प्राप्तकालमुपास्यताम् ॥११॥

बालि जिस गति को प्राप्त हुआ है वह श्रेष्ठगति है। अतः सद्गतिप्राप्त प्राणी के लिए शोक करना उचित नहीं। अब तो तुमको समयानुसार कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करना चाहिए अर्थात् प्रेत कर्मानुष्ठान करना चाहिए ॥११।

वचनान्ते तु रामस्य लक्ष्मणः परवीरहा ।
अवदत्प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं गतचेतसम् ॥१२॥

जब श्रीरामचन्द्र जी यह वचन कह चुके, तब शत्रुघाती लक्ष्मण जी चेतनारहित वानरराज सुग्रीव से बोले ॥१२॥

कुरु त्वमस्य सुग्रीव प्रेतकार्यमनन्तरम् ।
ताराङ्गदाभ्यां सहितो वालिनो दहनं प्रति ॥१३॥

तुम तारा और अंगद को साथ ले, इस समय वालि का प्रेतकर्म आरम्भ कर, पहले दाहकर्म करो ॥१३॥

समाज्ञापय काष्ठानि शुष्काणि च बहूनि च ।
चन्दनादीनि दिव्यानि वालिसंस्कारकारणात् ॥१४॥

इनको जलाने के लिए नौकरों को आज्ञा दो कि, वे सूखी चन्दनादि की लकड़ियाँ ले आवें ॥१४॥

समाश्वासय चैनं त्वमङ्गदं दीनचेतसम् ।
मा भूर्वालिशबुद्धिस्त्वं त्वदधीनमिदं पुरम् ॥१५॥

इस समय तुम उदास अंगद को धीरज बधाओ। तुमको इस समय लड़कबुद्धि न दिखानी चाहिए, क्योंकि यह नगर तुम्हारे ही अधीन है ॥१५॥

वराभरणहारैश्च चित्रमाल्योपशोभिताम् ।
गुहागहनसंछन्नां रक्तचन्दनरूषिताम् ॥२५॥

वह शिविका मूल्यवान आभूषण और हारों से भूषित थी। उस पर चित्रविचित्र फूलों की सजावट हो रही थी। उसमें वन व कन्दरादि के दृश्य चित्रित किए गए थे। वह लाल चन्दन की लकडी की बनी हुई थी ॥२५॥

पुष्पौघैः समभिच्छन्नां पद्ममालाभिरेव च ।
तरुणादित्यवर्णाभिर्भ्राजमानाभिरावृताम् ॥२६॥

उसमें फूल बिछाए हुए थे और उस पर कमल के फूलों की मालाएँ पड़ी हुई थीं। वह प्रातःकालीन सूर्य की तरह चारों ओर से चमक रही थी ॥२६॥

ईदृशीं शिविकां दृष्ट्वा रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
क्षिप्रं विनीयतां वाली प्रेतकार्यं विधीयताम् ॥२७॥

इस प्रकार की शिविका देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा—वालि को शीघ्र इसमें रख लिआ जाय और प्रेतकर्म करवाया जाय ॥२७॥

ततो वालिनमुद्यम्य सुग्रीवः शिविकां तदा ।
आरोपयत विक्रोशन्नङ्गदेन सहैव तु ॥२८॥

तब सुग्रीव और अंगद दोनों ने रोते रोते वालि को उठा कर शिविका में रखा ॥२८॥

आरोप्य शिविकां चैव वालिनं गतजीवितम् ।
अलंकारैश्च विविधैर्माल्यैर्वस्त्रैश्च भूषितम् ॥२९॥

गतप्राण वालि को तरह तरह के उत्तम पुष्पहारों, वस्त्रों आभूषणों से भूषित कर, शिविका में लिटाया ॥२६॥

आज्ञापयत्तदा राजा सुग्रीवः प्लवगेश्वरः ।
औध्र्वदैहिकमार्यस्य क्रियतामनुरूपतः ॥३०॥

तदनन्तर कपिराज सुग्रीव ने यह आज्ञा दी कि, मेरे बड़े भाई का अन्तिम संस्कार विधिविधान से, उसके अनुरूप ही किया जाय ॥३०॥

विश्राणयन्तो रत्नानि विविधानि बहून्यपि ।
अग्रतः प्लवगा यान्तु शिबिकासमनन्तरम् ॥३१॥

शिविका के आगे आगे वानर अनेक प्रकार के और बहुत से रत्न लुटाते हुए चलें । उनके पीछे शिविका चली ॥३१॥

राज्ञामृद्धिविशेषा हि दृश्यन्ते भुवि यादृशाः ।
तादृशं वालिनः क्षिप्रं प्राकुर्वन्नौर्ध्वदेहिकम् ॥३२॥

जिस प्रकार पृथिवीमण्डल पर राजाओं का क्रियाकर्म ठाठ बाट से हुआ करता है, वैसा ही मेरे भाई का भी क्रियाकर्म तुरन्त धूमधाम से हो ॥३२॥

अङ्गदं परिगृह्याशु तारप्रभृतयस्तदा ।
क्रोशन्तः प्रययुः सर्वे वानरा हतबान्धवाः ॥३३॥

अपने परम बन्धु वालि की मौत से विकल तार आदि समस्त वानर, अङ्गद को आगे कर, रोते हुए चले जाते थे ॥३३॥

ततः प्रणिहिताः सर्वा वानर्योऽस्य वशानुगाः ।
चुक्रुशुर्वीर वीरेति भूयः क्रोशन्ति ताः स्त्रियः ॥३४॥

उनके पीछे वंदरियाँ जोकि वालि की अनुचरी थीं, हाय वीर! हाय वीर!! कह कर; चिल्लाती हुई चली जाती थीं ॥३४॥

ताराप्रभृतयः सर्वा वानर्यो हतयूथपाः ।
अनुजग्मुर्हि भर्तारं क्रोशन्त्यः करुणस्वनाः ॥३५॥

विधवा तारा आदि वानरराज की स्त्रियाँ अपने मृतपति की शिविका के पीछे पीछे करुणस्वर से रोती चिल्लाती चली जाती थीं ॥३५॥

तासां रुदितशब्देन वानरीणां वनान्तरे ।
वनानि गिरयः सर्वे विक्रोशन्तीव सर्वतः ॥३६॥

उस समय उन वानरपत्नियों के रोने के शब्द की गूँज (प्रतिध्वनि) से चारों ओर के वन और पर्वत भी रोते हुए से जान पड़ते थे ॥३६॥

पुलिने गिरिनद्यास्तु विविक्ते जलसंवृते ।
चितां चक्रुः सुबहवो वानराः शोककर्शिताः ॥३७॥

पर्वत की तराई मे बहती हुई नदी के तट पर और निर्जन स्थान में बहुत से शोकविह्वल वानरों ने चिता बना कर तैयार की ॥३७॥

अवरोप्य ततः स्कन्धाच्छिबिकां वहनोचिताः ।
तस्थुरेकान्तमाश्रित्य सर्वे शोकसमन्विताः ॥३८॥

शिविका ढोने वालों ने शिविका अपने कन्धों से उतार कर नीचे रख दी और वे शोकसन्तप्त हो एक ओर जा, खड़े हो गए ॥३८॥

ततस्तारा पतिं दृष्ट्वा शिबिकातलशायिनम् ।
आरोप्याङ्के शिरस्तस्य विललाप सुदुःखिता ॥३६॥

शिविका मे चढ़े हुए पति को देख, तारा ने अपने पति का सिर अपनी गोद मे रख लिआ और दु खित हो विलाप करने लगी॥३६॥

हा वानरमहाराज हा नाथ मम वत्सल ।
हा महार्ह महाबाहो हा मम प्रिय पश्य माम् ॥४०॥

हा वानर महाराज ! हा नाथ ! हा मेरे ऊपर दया करने वाले ! हा महायोग्य ! हा बड़ी भुजाओं वाले ! हा मेरे प्यारे ! मुझे देखो तो ॥४०॥

जनं न पश्यसीमं त्वं कस्माच्छोकाभिपीडितम् ।
प्रहृष्टमिव ते वक्त्रं गतासोरपि मानद ॥४१॥

तुम इस शाक से विकल जन की ओर क्यों नहीं देखते ! हे मानद ! यद्यपि तुम्हारे पाण निकल चुके हैं, तथापि तुम्हारा चेहरा प्रसन्न देख पड़ता है ॥४१॥

अस्तार्कसमवर्णं च लक्ष्यते जीवतो यथा ।
एष त्वां रामरूपेण कालः कर्षति वानर ॥४२॥

अस्ताचलगामी सूर्य की तरह तुम्हारा मुख वैसे दमक रहा है जैसा कि, जीवत काल मे दमकता था। देखो यह रामरूपी काल तुमको परलोक में ले जाने के लिए खींच रहा है ॥४२॥

येन स्म विधवाः सर्वाः कृता एकेपुणा रणे* ।
इमास्तास्तव राजेन्द्र वानर्यो वल्लभाः सदा ॥४३॥

---

* पाठान्तरे—" वने "।

पादैर्विकृष्टमध्वानमागताः किं न बुध्यसे ।
तवेष्टा ननु नामैता भार्याश्चन्द्रनिभाननाः ॥४४॥

इसने युद्ध में एक ही बाण में हम सब बंदरियों को विधवा कर डाला। हे राजेन्द्र! यह सब बंदरियाँ जिनको तुम सदा प्यार किआ करते थे, पाँव पाँव इतनी दूर चली आई हैं। इनको तुम क्यों नहीं देखते! अपनी प्यारी चन्द्रवदनी ईप्सित भार्याओं को ॥४३॥४४॥

इदानीं नेक्षसे कस्मात्सुग्रीवं प्लवगेश्वरम् ।
एते हि सचिवा राजस्तारप्रभृतयस्तव ॥४५॥
पुरवासी जनश्चायं परिवार्याऽऽसतेऽनघ ।
विसर्जयैतान् प्लवगान् यथोचितमरिन्दम ॥४६॥

और कपिराज सुग्रीव को तुम इस समय क्यों नहीं देखते। हे अनघ! तार आदि तुम्हारे मंत्रिगण, और पुरजन तुमको घेर दुःखी हो रहे हैं। हे अरिन्दम! इन सब को जैसे सदा यथोचित रूप से विदा किआ करते थे, वैसे विदा करो ॥४५॥४६॥

ततः क्रीडामहे सर्वा वनेषु मदनोत्कटाः ।
एवं विलपतीं तारां पतिशोकपरिप्लुताम् ॥४७॥

तब हम सब काम से मत्त हो कर, तुम्हारे साथ यहाँ वन में विहार करेंगी। इस प्रकार विलाप करती हुई और पतिशोक से विकल तारा को ॥४७॥

उत्थापयन्ति स्म तदा वानर्यः शोककर्शिताः ।
सुग्रीवेण ततः सार्धमङ्गदः पितरं रुदन् ॥४८॥

चितामारोपयामास शोकेनाभिहतेन्द्रियः ।
ततोऽग्निं विधिवद्दत्वा सोपसव्यं चकार ह ॥४९॥

शोकविह्वल बंदरियों ने उठाया। तब अङ्गद ने सुग्रीव के साथ रोते रोते शोकाकुल हो वालि को चिता के ऊपर रखा और विधिवत् प्रदक्षिणा कर चिता में आग दी ॥४८॥४९॥

पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः ।
संस्कृत्य वालिनं ते तु विधिपूर्वं प्लवङ्गमाः ॥५०॥

उस समय पिता को महायात्रा करते देख अङ्गद बहुत विकल हुआ। इस प्रकार उन वानरों ने विधिपूर्वक वालि का अग्निसंस्कार किया ॥५०॥

आजग्मुरुदकं कर्तुं नदीं शीतजलां शुभाम्* ।
ततस्ते सहितास्तत्र ह्यङ्गदं स्थाप्य चाग्रतः ॥५१॥

तदनन्तर वे वालि को जलाञ्जलि देने के लिए शीतल एवं निर्मल जल वाली नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ अङ्गद को आगे कर, सुग्रीव ने तार तथा अन्य वानरों सहित वालि को जलाञ्जलि दी ॥५१॥

सुग्रीवतारसहिताः सिषिचुर्वालिने जलम् ।
सुग्रीवेणैव दीनेन दीनो भूत्वा महाबलः ।
समानशोकः काकुत्स्थः प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥५२॥

महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव की तरह शोकाकुल और उदास हो, वालि का प्रेतकार्य करवाया ॥५२॥

---

* पाठान्तरे—"शिवाम्"

ततस्तु तं वालिनमग्र्यपौरुषं
प्रकाशमिक्ष्वाकुवरेषुणा हतम् ।
प्रदीप्य दीप्ताग्निसमौजसं तदा
सलक्ष्मणं राममुपेयिवान् हरिः ॥५३॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर अति बलवान् श्रीराम जी के एक ही बाण से निहत, प्रदीप्त अग्नि तुल्य तेजस्वी वालि का प्रेतकार्य कर, सुग्रीव लक्ष्मण सहित वहाँ आए जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे ॥५३॥

किष्किन्धाकाण्ड का पच्चीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

षड्विंशः सर्गः

—❀—

ततः शोकाभिसन्तप्तं सुग्रीवं क्लिन्नवाससम् ।
शाखामृगमहामात्राः परिवार्योपतस्थिरे ॥१॥

शोकरूपी अग्नि से सन्तापित और गीले वस्त्र पहिने खड़े हुए सुग्रीव को मंत्रीगण घेर कर खड़े हो गए ॥१॥

अभिगम्य महाबाहुं राममक्लिष्टकारिणम् ।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पितामहमिवर्षयः ॥२॥

समस्त वानर लंबी भुजाओं वाले और सरलता से कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के पास जा, उसी प्रकार खड़े हुए, जिस प्रकार ऋषिगण ब्रह्मा जी के पास जा और हाथ जोड़ कर खड़े होते हैं ॥२॥

ततः काञ्चनशैलाभस्तरुणार्कनिभाननः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं हनुमान्मारुतात्मजः ॥३॥

तदनन्तर तरुण सूर्य की तरह लाल मुख वाले और सुवर्ण पर्वत की तरह प्रकाशमान पवनतनय श्रीहनुमान जी हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥३॥

भवत्प्रसादात्सुग्रीवः पितृपैतामहं महत् ।
वानराणां सुदुष्प्रापं प्राप्तो राज्यमिदं प्रभो ॥४॥

हे राम ! आप की कृपा से सुग्रीव ने, बड़े बड़े दाँतों वाले और बड़े बली एवं महात्मा वानरों का अपने पिता पितामहादिकों का यह राज्य जिसका मिलना दुर्लभ था, पाया है ॥४॥

भवता समनुज्ञातः प्रविश्य नगरं शुभम् ।
संविधास्यति कार्याणि सर्वाणि ससुहृद्गणः* ॥५॥

हे प्रभो ! अब यह आपकी आज्ञा प्राप्त कर, किष्किन्धापुरी में जा, अपने सुहृदों सहित समस्त कार्य करेंगे ॥५॥

स्नातोऽयं विविधैर्गन्धैरौषधैश्च यथाविधि ।
अर्चयिष्यति रत्नैश्च माल्यैश्च त्वां विशेषतः ॥६॥

फिर यह विविध भाँति की सुगन्धियुक्त औषधियों से विधिवत् स्नान कर, रत्न मालादि से विशेष रूप से आपका पूजन करेंगे ॥६॥

इमां गिरिगुहां रम्यामभिगन्तुमितोऽर्हसि ।
कुरुष्व स्वामिसम्बन्धं[1] वानरान् सम्प्रहर्षयन् ॥७॥

---

१ वानराणां स्वामिनासम्बन्धं कुरु—सुग्रीवं वानरराजं कुरु । (गो०)

* पाठान्तरे—"ससुहृज्जनः" ।

अतः आप किष्किन्धा में पधारिए और सुग्रीव को वानरराज बना कर, प्रसन्न कीजिए ॥७॥

एवमुक्तो हनुमता राघवः परवीरहा ।
प्रत्युवाच हनूमन्तं बुद्धिमान्वाक्यकोविदः ॥८॥

शत्रुहन्ता, अतिबुद्धिमान् और वाक्यविशारद श्रीरामचन्द्र जी हनुमान जी के ये वचन सुन, उनसे बोले ॥८॥

चतुर्दश समाः सौम्य ग्रामं वा यदि वा पुरम् ।
न प्रवेक्ष्यामि हनुमन् पितुर्निर्देशपालकः ॥९॥

हे सौम्य ! मैं चौदह वर्षों तक ग्राम अथवा नगर के भीतर नहीं जा सकता। क्योंकि मुझे पिता की आज्ञा का पालन करना है ॥९॥

सुसमृद्धां गुहां रम्यां सुग्रीवो वानरर्षभः ।
प्रविष्टो विधिवद्वीरः क्षिप्रं राज्येऽभिषिच्यताम् ॥१०॥

उस समृद्धिशाली रम्य किष्किन्धापुरी में वानरश्रेष्ठ सुग्रीव जाँय और तुम सब शीघ्र ही विधिपूर्वक उनको राजसिंहासन पर अभिषिक्त करो ॥१०॥

एवमुक्त्वा हनूमन्तं रामः सुग्रीवमब्रवीत् ।
वृत्तज्ञो वृत्तसम्पन्नमुदारबलविक्रमम् ॥११॥
इममप्यङ्गदं वीर यौवराज्येऽभिषेचय ।
ज्येष्ठस्य स सुतो ज्येष्ठः सदृशो विक्रमेण ते ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र जी हनुमान जी से यह कह कर, फिर सुग्रीव से कहने लगे, हे वीर ! देखो तुम व्यवहारकुशल हो, अतः तुम इन

उदार एवं बलविक्रमशाली वीर अंगद को युवराज बनाओ। क्योंकि यह तुम्हारे बड़े भाई का ज्येष्ठपुत्र है और पराक्रम में तुम्हारे ही सदृश है ॥११॥१२॥

अङ्गदोऽयमदीनात्मा यौवराज्यस्य भाजनम् ।
पूर्वोऽयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः ॥१३॥

अंगद बड़ा उत्साही है और युवराज होने योग्य है। देखो वर्षा ऋतु का यह प्रथम मास श्रावण है ॥१३॥

प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिकाः ।
नायमुद्योगसमयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम् ॥१४॥

और चौमासे के चार मास होते हैं यह प्रसिद्ध ही है। इस समय सीता जी के खोजने का काम नहीं हो सकता। अतः तुम किष्किन्धा में जाओ ॥१४॥

अस्मिन् वत्स्याम्यहं सौम्य पर्वते सहलक्ष्मणः ।
इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ॥१५॥

और मैं लक्ष्मण सहित इस पर्वत पर निवास करूँगा। यह पर्वत की कन्दरा बड़ी रमणीक, लंबी चौड़ी और हवादार है ॥१५॥

प्रभूतसलिला सौम्य प्रभूतकमलोत्पला ।
कार्त्तिके समनुप्राप्ते त्वं रावणवधे यत ॥१६॥

इसके पास ही बहुत जलयुक्त और खिले हुए कमल के फूलों से युक्त जलाशय भी है। जब कार्तिक मास लगे, तब तुम रावण के वध के लिए यत्न करना ॥१६॥

एष नः समयः सौम्य प्रविश त्वं स्वमालयम् ।
अभिषिक्तः स्वराज्ये च सुहृदः संप्रहर्षय ॥१७॥

इस समय तुम अपने घर जा कर और अपना राज्याभिषेक करवा, अपने इष्टमित्रों को प्रसन्न करो ॥१७॥

इति रामाभ्यनुज्ञातः सुग्रीवो वानराधिपः ।
प्रविवेश पुरीं रम्यां किष्किन्धां वालिपालिताम् ॥१८॥

जब श्रीराम ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब वानरराज सुग्रीव वालि की रमणीक राजधानी किष्किन्धापुरी में गया ॥१८॥

तं वानरसहस्राणि प्रविष्टं वानरेश्वरम्* ।
अभिवाद्य प्रविष्टानि सर्वतः पर्यवारयन् ॥१९॥

जाते समय हज़ारों वानर सुग्रीव को प्रणाम कर और घेर कर नगरी में प्रविष्ट हुए ॥१९॥

ततः प्रकृतयः सर्वा दृष्ट्वा हरिगणेश्वरम् ।
प्रणम्य मूर्ध्ना पतिता वसुधायां समाहिताः ॥२०॥

वहाँ पहुँचने पर समस्त प्रजा के लोगों ने कपिराज को साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥२०॥

सुग्रीवः प्रकृतीः सर्वाः सम्भाष्योत्थाप्य वीर्यवान् ।
भ्रातुरन्तःपुरं सौम्यं प्रविवेश महाबलः ॥२१॥

तब पराक्रमी सुग्रीव ने उन सब को उठा कर, उनसे प्रीतिपूर्वक बातचीत की और फिर वे महाबली सुग्रीव अपने भाई के रनवास में गए ॥२१॥

प्रविश्य त्वभिनिष्क्रान्तं सुग्रीवं वानरर्षभम् ।
अभ्यषिञ्चन्त सुहृदः सहस्राक्षमिवामराः ॥२२॥

* पाठान्तरे—प्लवगेश्वरम्

वानरश्रेष्ठ जब रनवास से निकले, तब उनके सुहृदों ने उनका राज्याभिषेक उसी प्रकार किआ, जिस प्रकार देवता लोग इन्द्र का किआ करते हैं ॥२२॥

तस्य पाण्डुरमाजह्रुश्छत्रं हेमपरिष्कृतम् ।
शुक्ले च वालव्यजने हेमदण्डे यशस्करे ॥२३॥

सोने की डंडी का सफेद छत्र और सोने की डंडियों के दो बढ़िया चमर अभिषेक के लिए वे लोग ले आए ॥२३॥

सक्षीराणां च वृक्षाणां प्ररोहान् कुसुमानि च ॥२४॥
तथा सर्वाणि रत्नानि सर्वबीजौषधैरपि ।

और अनेक प्रकार के रत्न, सब प्रकार के बीज, सब औषधियाँ, क्षीर वाले वृक्षों के अङ्कुर और तरह तरह के फूल भी एकत्र किए गए ॥२४॥

शुक्लानि चैव वस्त्राणि श्वेतं चैवानुलेपनम् ।
सुगन्धीनि च माल्यानि स्थलजान्यम्बुजानि च ॥२५॥
चन्दनानि च दिव्यानि गन्धांश्च विविधान् बहून् ।
अक्षतं जातरूपं* च प्रियङ्गुमधुसर्पिषी ॥२६॥
दधि चर्म च वैयाघ्रं वाराही चाप्युपानहौ ।
समालम्भनमादाय रोचनां समनःशिलाम् ॥२७॥

सफेद वस्त्र, कपूरादिक सफेद उबटन, सुगन्धियुक्त पुष्पों के हार गुलाब के फूल, दिव्य चन्दन, दिव्य सुगन्धियुक्त वस्तुएँ, अक्षत, प्रियंगु, मधु, सरसों, दही, व्याघ्रचर्म, शूकर के चाम के जूते,

* पाठान्तरे—"अक्षताञ्जात" ।

समालम्भन नाम का अनुलेपन-विशेष, गोरोचन, मैनसिल आदि सामग्री अभिषेक के लिए एकत्र की गई ॥२५॥२६॥२७॥

आजग्मुस्तत्र मुदिता वराः कन्यास्तु षोडश ।
ततस्ते वानरश्रेष्ठ यथाकालं यथाविधि ॥२८॥
रत्नैर्वस्त्रैश्च भक्षैः* च तोषयित्वा द्विजर्षभान्[1] ।
ततः कुशपरिस्तीर्णं समिद्धं[2] जातवेदसम्[3] ॥२९॥
मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वा मन्त्रविदो जनाः ।
ततो हेमप्रतिष्ठाने वरास्तरणसंवृते ॥३०॥
प्रासादशिखरे रम्ये चित्रमाल्योपशोभिते ।
प्राङ्मुखं विविधैर्मन्त्रैः स्थापयित्वा वरासने ॥३१॥

फिर सुलक्षण युक्त सोलह कन्याएँ प्रसन्न होती हुई अभिषेकस्थल में आई। तदनन्तर उन वानरों ने यथाविधि अभिषेक करने के लिए रत्नों, वस्त्रों और भक्ष्य पदार्थों से (अभिषेक कृत्य कराने के लिए आए हुए) ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया। मंत्र जानने वाले ब्राह्मण, वेदी पर कुश बिछा कर और अग्नि प्रज्वलित कर, मन्त्रो से पवित्र हविष्यान्न की आहुति देने लगे। जब हवन समाप्त हुआ, तब मनोहर सुवर्ण भूषित बिछौनों से युक्त, चित्र और मालाओं से सुशोभित रमणीय भवन की अटारी पर श्रेष्ठ सिंहासन पर, मंत्रों से विधिपूर्वक, पूर्व को मुख करवा, सुग्रीव को बैठाया ॥२८॥२९॥३०॥३१॥

नदीनदेभ्यः संहृत्य तीर्थेभ्यश्च समन्ततः ।
आहृत्य च समुद्रेभ्यः सर्वेभ्यो वानरर्षभाः ॥३२॥

---

१ द्विजर्षभान्—याजनार्थमाहूतान् । (गो०) २ समिद्धं—ज्वलित । (गो०) जातवेदसम्—अग्निं । (गो०) * पाठान्तरे—"भक्ष्यै." ।

अपः कनककुम्भेषु निधाय विमलाः शुभाः ।
शुभैर्वृषभशृङ्गैश्च कलशैश्चापि काञ्चनैः ॥३३॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च ।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥३४॥

मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनुमाञ्जाम्बवान्नलः ।
अभ्यषिञ्चन्त सुग्रीवं प्रसन्नेन सुगन्धिना ॥३५॥

सलिलेन सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा ।
अभिषिक्ते तु सुग्रीवे सर्वे वानरपुङ्गवाः ॥३६॥

प्रचुक्रुशुर्महात्मानो हृष्टास्तत्र सहस्रशः ।
रामस्य तु वचः कुर्वन् सुग्रीवो हरिपुङ्गवः ॥३७॥

फिर नदियों, नदों, तीर्थों और समुद्रों से वानरोत्तम द्वारा लाए हुए विमल जलों को सोनों के घड़ों में भर दिया। फिर बैल के सींगों में तथा सोने के कलसों में उन्हें भर कर, महर्षिप्रोक्त शास्त्र की विधि से, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैंद, द्विविद हनुमान और जाम्बवान ने विमल सुगन्धियुक्त जल सुग्रीव को वैसे ही स्नान कराये, जैसे अष्टवसु इन्द्र को स्नान करवाते हैं। जब इस प्रकार सुग्रीव का अभिषेक हो गया, तब हजारों वानरपुङ्गव हर्षित हो आनन्दध्वनि करने लगे। तदनन्तर वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा के अनुसार। ३२॥३३॥३४॥३५॥३६॥३७॥

अङ्गदं सम्परिष्वज्य यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।
अङ्गदे चाभिषिक्ते तु सानुक्रोशाः प्लवङ्गमाः ॥३८॥

साधु साध्विति सुग्रीवं महात्मानोऽभ्यपूजयन् ।
रामं चैव महात्मानं लक्ष्मणं च पुनः पुनः ॥३६॥

और अंगद को गले लगा युवराजपद पर प्रतिष्ठित किया। अंगद को युवराज पद पर अभिषिक्त देख और अंगद पर दया दिखलाई, सब वानर "वाह वाह वाह" कह कर, महात्मा सुग्रीव की बड़ाई करने लगे। तदनन्तर वे सब प्रसन्न हो महात्मा श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की बार बार स्तुति करने लगे ॥३८॥३६॥

प्रीताश्च तुष्टुवुः सर्वे तादृशे तत्र वर्तिति* ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णा पताकाध्वजशोभिता ।
बभूव नगरी रम्या किष्किन्धा गिरिगह्वरे ॥४०॥

सुग्रीव और अंगद का अभिषेक देख सब वानर प्रसन्न हुए और वह किष्किन्धा नगरी हृष्ट पुष्ट जनों से भर गई तथा ध्वजा पताकाओं से सुशोभित हो अत्यन्त दर्शनीय हो गई ॥ ४०॥

निवेद्य रामाय तदा महात्मने
महाभिषेकं कपिवाहिनीपतिः ।
रुमां च भार्यां प्रतिलभ्य वीर्यवा-
नवाप राज्यं त्रिदशाधिपो यथा ॥४१॥

अभिषेक का सारा वृत्तान्त श्रीरामचन्द्र जी से निवेदन कर कपिसेनापति महापराक्रमी सुग्रीव अपनी भार्या रुमा को प्राप्त कर इन्द्र की तरह वानरराज्य पर प्रतिष्ठित हुए ॥४१॥

किष्किन्धाकाण्ड का छब्बीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

* पाठान्तरे—"वर्तिनि"।

सप्तत्रिंशः सर्गः

—❀—

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे प्रविष्टे वानरे गुहाम् ।
आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम् ॥१॥

जब सुग्रीव का अभिषेक हो चुका और वे किष्किन्धा में चले गये तब श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण को अपने साथ ले प्रस्रवण पर्वत पर चले आए ॥१॥

शार्दूलमृगसंघुष्टं सिंहैर्भीमरवैर्वृतम् ।
नानागुल्मलतागूढं बहुपादपसङ्कुलम् ॥२॥

वह प्रस्रवण पर्वत शार्दूल और मृगो से भरा हुआ था और भयङ्कर सिंह उस पर दहाड़ा करते थे। अनेक प्रकार की झाड़ियों लताओं और वृक्षों से वह भरा पूरा था ॥२॥

ऋक्षवानरगोपुच्छैर्मार्जारैश्च निषेवितम् ।
मेघराशिनिभं शैलं नित्यं शुचिजलाश्रयम् ॥३॥

उस पर रीछ बंदर गोपुच्छ वनबिलाव रहा करते थे। वह मेघाडम्बर की तरह देख पड़ता था। उस पर जो पानी के झरने थे उनका जल सदा साफ रहता था ॥३॥

तस्य शैलस्य शिखरे महतीमायतां गुहाम् ।
प्रत्यगृह्णत वासार्थं रामः सौमित्रिणा सह ॥४॥

उस शैल की चोटी पर एक बड़ी लंबी चौड़ी गुफा थी। श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मणसहित उस गुफा को रहने के लिए पसंद किया ॥४॥

कृत्वा च समय सौम्यः सुग्रीवेण सहानघः ।
कालयुक्तं महद्वाक्यमुवाच रघुनन्दनः ॥५॥
विनीत भ्रातरं भ्राता लक्ष्मण लक्ष्मिवर्धनम् ।
इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ॥६॥

अनघ श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव के साथ पर्वत पर रहने की अवधि निश्चित कर, श्री के बढ़ाने वाले एव विनीत भाई लक्ष्मण जी से समयानुकूल वचन कहे। (वे बोले) हे लक्ष्मण! यह पर्वत की कन्दरा बड़ी मनोहर, लंबी चौड़ी और हवादार है ॥५॥६॥

अस्यां वसाव सौमित्रे वर्षरात्रमरिन्दम ।
गिरिशृङ्गमिदं रम्यमुन्नतं पार्थिवात्मज ॥७॥

हे सौमित्र! हे अरिन्दम! मैं वर्षाकाल यहीं बिताऊँगा। हे नृपनन्दन! इस पर्वत का शिखर, रमणीय और ऊंचा है ॥७॥

श्वेताभिः कृष्णताम्राभिः शिलाभिरुपशोभितम् ।
नानाधाधातुसमाकीर्णं दरीनिर्झरशोभितम् ॥८॥

यह सफेद, काली और लाल रंग की शिलाओं से शोभित और नाना धातुओं से चित्रित है और जल के झरनें तथा गुफाओं से भी शोभित हैं ॥८॥

विविधैर्वृक्षषण्डैश्च चारुचित्रलतावृतम् ।
नानाविहगसंघुष्टं मयूररवनादितम् ॥९॥

यह अनेक वृक्ष समूहों और मनोहर विचित्र लताओं से घिरा हुआ, नाना पक्षियों से युक्त और मोरों के शब्द से शब्दायमान है ॥९॥

मालतीकुन्दगुल्मैश्च सिन्धुवारकुरण्टकैः ।
कदम्बार्जुनसर्जैश्च पुष्पितैरुपशोभितम् ॥१०॥

पुष्पित मालती और कुन्दों के गुच्छों से तथा सिरस, कदब, अर्जुन और साखुओं के पेड़ों से सुशोभित है ॥१०॥

इयं च नलिनी रम्या फुल्लपङ्कजमण्डिता ।
नातिदूरे गुहाया नौ भविष्यति नृपात्मज ॥११॥

हे राजकुमार ! खिले हुए कमल के फूलों से भूषित नदी; जल बढ़ने पर हमारी गुफा के समीप ही बहने लगेगी ॥११॥

प्रागुदक्प्रवणे देशे गुहा साधु भविष्यति ।
पश्चाच्चैवोन्नता सौम्य निवातेयं भविष्यति ॥१२॥

इस गुफा के ईशानकोण की भूमि नीची है और इसका पिछला भाग ऊँचा है। इस लिए हमें यहाँ हवा का डर नहीं रहेगा अर्थात् हवा के झोकों से वृष्टिजल भी न आवेगा ॥१२॥

गुहाद्वारे च सौमित्रे शिला समतला शुभा ।
श्लक्ष्णा चैवायता चैव भिन्नाञ्जनचयोपमा ॥१३॥

हे लक्ष्मण ! गुफा के द्वार पर जो शिला है। वह समतल और चिकनी तथा लंबी चौड़ी होने से यहाँ रहने वालों के लिए, कल्याणदायिनी है और अंजन की तरह काली है ॥१३॥

गिरिशृङ्गमिदं तात पश्य चोत्तरतः शुभम्
भिन्नाञ्जनचयाकारमम्भोधरमिवोत्थितम् ॥१४॥

हे तात ! यह देखो उत्तर की ओर इस पर्वत का शिखर अंजन के ढेर की तरह अथवा उमड़े हुए मेघ की तरह देख पड़ता है ॥१४॥

दक्षिणस्यामपि दिशि स्थितं श्वेतमिवापरम् ।
कैलासशिखरप्रख्यं नानाधातुविभूषितम् ॥१५॥

दक्षिण ओर भी कैलास पर्वत के शिखर की तरह और श्वेत मेघों के समान एवं अनेक प्रकार की धातुओं से रंगा हुआ, यह पर्वतशिखर शोभायमान हो रहा है ॥१५॥

प्रचीनवाहिनीं चैव नदीं भृशमकर्दमाम् ।
गुहायाः पूर्वतः पश्य त्रिकूटे जाह्नवीमिव ॥१६॥

इस गुफा के अग्रभाग में कीचड़रहित और पूर्व की ओर बहने वाली यह नदी उसी प्रकार शोभायमान है, जिस प्रकार त्रिकूट पर्वत पर गङ्गा शोभायमान हो ॥१६॥

*चम्पकैस्तिलकैस्तालैस्तमालैरतिमुक्तकैः ।
पद्मकैः सरलैश्चैव अशोकैश्चैव शोभिताम् ॥१७॥
वानीरैस्तिमिशैश्चैव वकुलैः केतकैर्धवैः ।
हिन्तालैस्तिरिटैर्नीपैर्वेत्रकैः कृतमालकैः ॥१८॥
तीरजैः शोभिता भाति नानारूपैस्ततस्ततः ।
वसनाभरणोपेता प्रमदेवाभ्यलंकृता ॥१९॥

इसके तटवर्ती और तरह तरह के चम्पा, तिलक, ताड़, तमाल, पौंड़क, पद्मक, पीत देवदार, अशोक, वानीर नामक बेंत, तिमिर वृक्ष, मौलसरी, केवड़ा, हिन्ताल, तिमिश और अमलतासादि वृक्ष, जो इसीके जल से उत्पन्न हुए हैं, इस नदी की वैसी शोभा बढ़ा रहे हैं, जैसे वस्त्राभूषण स्त्री की शोभा बढ़ाते हैं ॥१७॥१८॥१९॥

* पाठान्तरे— "चम्पकैस्तिलकैश्चैव वकुलैः केतकैर्धवैः"

शतशः पक्षिसङ्घैश्च नानानादैर्विनादिता।
एकैकमनुरक्तैश्च चक्रवाकैरलङ्कृता ॥२०॥

सैकड़ों पक्षियों के झुण्डों की तरह तरह की बोलियाँ सुनाई पड़ती हैं और परस्पर अनुराग-युक्त चकवा चकई से यह भूषित है ॥२०॥

पुलिनैरतिरम्यैश्च हंससारससेवितैः।
प्रहसन्तीव भात्येषा नारी सर्वविभूषिता ॥२१॥

अति रमणीय तीर देशों से शोभित तथा हंस और सारस पक्षियों से सेवित होने के कारण यह नदी अनेक प्रकार के रत्न-जटित आभूषणों से विभूषित स्त्री की तरह हँसती हुई सी जान पड़ती है ॥२१॥

क्वचिन्नीलोत्पलैश्छन्ना भाति रक्तोत्पलैः क्वचित्।
क्वचिदाभाति शुक्लैश्च दिव्यैः कुमुदकुड्मलैः ॥२२॥

इस नदी में कहीं नीले रंग के, कहीं लाल रंग के कमल के फूल फूल रहे हैं और कहीं दिव्य सफेद रंग की कुमुदनी की कलियाँ इसकी शोभा बढ़ा रही हैं ॥२२॥

पारिप्लवशतैर्जुष्टा बर्हिणक्रौञ्चनादिता।
रमणीया नदी सौम्य मुनिसङ्घैर्निषेविता ॥२३॥

सैकड़ों जलपक्षी, मयूर और क्रौंच इसके तट पर बोल रहे हैं। इस सुन्दर रमणीय नदी के तट पर, ऋ[illegible]
हैं ॥२३॥

---

* पाठान्तरे—"अन्योन्यं"।

पश्य चन्दनवृक्षाणां पङ्क्तीः सुरचिता[1] इव ।
ककुभानां च दृश्यन्ते मनसेवोदिताः समम् ॥२४॥

देखो चन्दन के वृक्षों की पंक्ति ऐसी जान पड़ती है, मानो माला गूंथी हुई हो और अर्जुन वृक्षों की पंक्तियाँ ऐसी देख पड़ती हैं मानों मन के सङ्कल्प से उगी हों अर्थात् जैसा किसी ने मन में चाहा हो वैसे ही एक पंक्ति में लगी हों अथवा किसी की लगाई हुई हों ॥२४॥

अहो सुरमणीयोऽयं देशः शत्रुनिषूदन ।
दृढं रंस्याव सौमित्रे साध्वत्र निवसावहे ॥२५ ।

हे शत्रुनिषूदन ! यह तो परम रमणीय स्थान है । हे सौमित्रे ! हम लोग यहाँ बड़े सुख से निवास करेंगे ॥२५॥

इतश्च नातिदूरे सा किष्किन्धा चित्रकानना ।
सुग्रीवस्य पुरी रम्या भविष्यति नृपात्मज ॥२६॥

हे राजकुमार ! यहाँ पर रहने से सुग्रीव की रमणीय और चित्रविचित्र काननों वाली किष्किन्धा पुरी भी बहुत दूर नहीं पड़ेगी ॥२६॥

गीतवादित्रनिर्घोषः श्रूयते जयतांवर ।
नर्दतां वानराणां च मृदङ्गाडम्बरैः सह ॥२७॥

हे विजयिश्रेष्ठ ! देखो, यहाँ से गाने बजाने का शब्द और वानरों का गर्जन तर्जन, मृदङ्ग की गमक से मिल कर, सुनाई पड़ता है ॥२७॥

---

१ सुरचिता इव—मालारूपेण ग्रथिता इवा (गो०)

लब्ध्वा भार्यां कपिवरः प्राप्य राज्यं सुहृद्वृतः ।
ध्रुवं नन्दति सुग्रीवः सम्प्राप्य महतीं श्रियम् ॥२८॥

कपिवर सुग्रीव अपनी भार्या, राज्य और महती राज्यलक्ष्मी प्राप्त कर के, अपने मित्रों के साथ आनन्द मनाता होगा ॥२८॥

इत्युक्त्वा न्यवसत्तत्र राघवः सहलक्ष्मणः ।
वहुदृश्यदरीकुञ्जे तस्मिन् प्रस्रवणे गिरौ ॥२९॥

इस प्रकार कह, लक्ष्मण-सहित श्रीरामचन्द्र जी इस अत्यन्त मनोहर कन्दरा वाले और अनेक दृश्यों से युक्त एवं कुञ्जवाले प्रस्रवण पहाड़ पर रहने लगे ॥२९॥

सुसुखेऽपि वहुद्रव्ये[1] तस्मिन् हि धरणीधरे ।
वसतस्तस्य रामस्य रतिरल्पाऽपि नाभवत् ॥३०॥

यद्यपि उस पर्वत पर सब प्रकार का सुपास था, वहुत से पुष्प फलादि थे, तथापि श्रीरामचन्द्र का मन वहाँ रहने से प्रसन्न न हुआ ॥३०॥

हृतां हि भार्यां स्मरतः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ।
उदयाभ्युदितं दृष्ट्वा शशाङ्कं च विशेषतः ॥३१॥

क्योंकि जब वे प्राण से भी अधिक प्यारी और हरी हुई सीता का स्मरण करते और जब वे विशेष कर उदयाचल पर उदित होते हुए चन्द्रमा को देखते ॥३१॥

आविवेश न तं निद्रा निशासु शयनं गतम् ।
तत्समुत्थेन शोकेन वाष्पोपहतचेतसम् ॥३२॥

---

१ वहुद्रव्ये—वहुपुष्पफलादिमति । (गो०)

तब श्रीरामचन्द्र जी सीता के वियोगजनित शोक से आँसू बहाते और हतबुद्धि हो जाते थे तथा रात में उनको बिस्तरे पर लेटने पर भी नींद नहीं आती थी ॥३२॥

तं शोचमानं काकुत्स्थं नित्यं शोकपरायणम् ।
तुल्यदुःखोऽब्रवीद्भ्राता लक्ष्मणोऽनुनयन्वचः ॥३३॥

सदैव शोकान्वित श्रीरामचन्द्र जी को शोकाकुल देख, उन्हीं की तरह शोकाकुल लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से नम्रता-पूर्वक यह वचन कहे ॥३३॥

अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि ।
शोचतो व्यवसीदन्ति सर्वार्थं विदितं* हि ते ॥३४॥

हे वीर! आप व्यथित हो शोकाकुल न हों क्योंकि आप सब जानते ही हैं कि, शोक करने वाले लोग सदा कष्ट ही पाया करते हैं ॥३४॥

भवान् क्रियापरो लोके भवान् दैवपरायणः ।
आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघव ॥३५॥

शोक न करने का कारण बतलाते हुए लक्ष्मण जी कहते हैं कि, आप अखिलभुवनवासियों की क्रियाओं के प्रवर्तक हैं और देवताओं को तृप्ति करने वालों के आश्रयस्थल भी आप ही हैं। (शिरोमणिटीका के मतानुसार) हे राघव! आप आस्तिक हैं, धर्मानुष्ठानतत्पर हैं और उद्यमी हैं ॥३५॥

न ह्यव्यवसितः शत्रुं राक्षसं तं विशेषतः ।
समर्थस्त्वं रणे हन्तुं विक्रमैर्जिह्मकारिणम् ॥३६॥

* पाठान्तरे—"विदित"।

यदि आप किसी प्रकार का उद्योग न कर, अपना चित्त विकल रक्खेंगे, तो उस कपटचारी राक्षस रावण को युद्ध में आप कैसे मार सकेंगे ॥३६॥

समुन्मूलय शोकं त्वं व्यवसायं स्थिरं कुरु
ततः सपरिवारं तं निर्मूलं कुरु राक्षसम् ॥३७॥

अतः आप शोक को निर्मूल कर उद्योग मे लगिए। तदनन्तर आप सपरिवार उस रावण को निर्मूल करिए ॥३७॥

पृथिवीमपि काकुत्स्थ ससागरवनाचलाम् ।
परिवर्तयितुं शक्तः किमङ्ग पुन रावणम् ॥३८॥

हे राम आप तो! सागर, वन और पर्वतों सहित इस पृथिवी को उलट सकते हैं! रावण की तो बात ही क्या है ॥३८॥

शरत्कालं प्रतीक्षस्व प्रावृट्कालोऽयमागतः ।
ततः सराष्ट्रं सगणं रावणं त्वं वधिष्यसि ॥३९॥

बरसात तो सिर पर ही है, अब आप शरत्काल तक ठहरें तब राज्य और परिवार सहित आप रावण का वध कीजियेगा ॥३९॥

अहं तु खलु ते वीर्यं प्रसुप्तं प्रतिबोधये ।
दीप्तैराहुतिभिः काले भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥४०॥

राख से ढकी हुई आग को आहुति दे कर प्रज्वलित करने की तरह आपके सोते हुए पराक्रम को मैं जगाता हूँ ॥४०॥

लक्ष्मणस्य तु तद्वाक्यं प्रतिपूज्य हितं शुभम् ।
राघवः सुहृदं स्निग्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥४१॥

आप क्रोध को रोक कर, शरत्काल तक शान्त रहिए और चौमासे भर मेरे साथ इस मृगराजसेवित पर्वत पर रहिए, तदनन्तर शत्रुवध की तैयारी कीजियेगा ॥४८॥

किष्किन्धाकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

अष्टाविंशः सर्गः

—:o:—

स तथा वालिनं हत्वा सुग्रीवमभिषिच्य च।
वसन्माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥१॥

इस प्रकार वालि को मार और सुग्रीव को राजसिंहासन पर बिठा, माल्यवान पर्वत पर रहते हुए, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥१॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः।
सम्पश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसन्निभैः ॥२॥

वर्षाकाल आ पहुँचा। देखो, पर्वतों के समान बड़े बड़े मेघों के समूह से आकाश आच्छादित हो गया है ॥२॥

नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।
पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम् ॥३॥

देखो, आकाश सूर्य की किरणों से समुद्र के जल को खींच कर, और नौ मास तक गर्भधारण कर, अब इस वृष्टि रूपी रसायन को उत्पन्न करता है ॥३॥

शक्यमम्बरमारुह्य मेघसोपानपङ्क्तिभिः ।
कुटजार्जुनमालाभिरलङ्कर्तुं दिवाकरम् ॥४॥

इस समय इन मेघ रूपी सीढ़ियों से आकाश में पहुँच कर, कौरैया और अर्जुन के फूलों की मालाओं से सूर्य अलङ्कृत हो रहे हैं ॥४॥

सन्ध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वधिकपाण्डरैः ।
स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम् ॥५॥

आकाश ने सन्ध्या के लाल रंग से रञ्जित सफेद किनारे वाले और रसीले मेघ रूप कपड़े के टुकड़ों से मानों अपने घावों पर पट्टियाँ बाँध रखी हैं ॥५॥

मन्दमारुतनिश्वासं सन्ध्याचन्दनरञ्जितम् ।
आपाण्डुजलदं भाति कामातुरमिवाम्बरम् ॥६॥

यह आकाश, मन्दवायुरूप निश्वास को त्यागता, सन्ध्यारूपी चन्दन से चर्चित, सफेद मेघरूपी कपोल वाला, कामासक्त की तरह देख पड़ता है ॥६॥

एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता ।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति ॥७॥

घाम से तप कर, कष्ट पाई हुई यह पृथिवी, नवीन जल से पूर्ण हो, शोकातुर सीता की तरह, आँसू गिरा रही है ॥७॥

मेघोदरविनिर्मुक्ताः *कर्पूरदलशीतलाः ।
शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकिगन्धिनः ॥८॥

---

* पाठान्तरे—"कल्हारसुखशीतलाः" ।

मेघों से निकला, कपूर की तरह शीतल और केवड़े की गन्धि से युक्त, यह वायु, अञ्जलि से पीने के योग्य है ॥८॥

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरधिवासितः ।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते ॥९॥

अर्जुन के पुष्पित वृक्षों से शोभित और केवड़े की सुगन्धि से युक्त यह पर्वत, सुग्रीव की तरह शत्रुरहित हो कर, धाराओं से सींचा जाता है ॥९॥

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः ।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः ॥१०॥

इन पहाड़ों ने, जिनकी कन्दराओं में हवा भरी हुई है, जो मेघरूपी काले मृग का चर्म और धारारूपी यज्ञोपवीत धारण किए हुए हैं; मानों अध्ययन करना आरम्भ कर दिआ है ॥१०॥

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरिव ताडितम् ।
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम् ॥११॥

आकाश, जिसमें मेघ गर्ज रहे हैं, मानों बिजली रूपी सोने के कोड़े की चोट खा कर, पीडा से आर्त्तनाद करता है ॥११॥

नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति मा ।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी ॥१२॥

इन काले मेघों मे चमकती हुई बिजली, रावण की गोद में छटपटाती हुई तपस्विनी वैदेही की तरह जान पड़ती है ॥१२॥

इमास्ता मन्मथवतां हिताः प्रतिहता दिशः ।
अनुलिप्ता इव घनैर्नष्टग्रहनिशाकराः ॥१३॥

ये सब दिशाएँ मेघों से ढक गई हैं। अतः तारे और चन्द्रमा छिप गए हैं। इसीसे इस समय पूर्वादिक दिशाओं का ज्ञान नहीं होता। अतः ये दिशाएँ कामासक्त पुरुषों के लिए सुख देने वाली हो गई हैं ॥१३॥

क्वचिद्बाष्पाभिसंरुद्धान् वर्षागमसमुत्सुकान् ।
कुटजान् पश्य सौमित्रे पुष्पितान् गिरिसानुषु ।
मम शोकाभिभूतस्य कामसन्दीपनान्स्थितान् ॥१४॥

हे सौमित्रे ! देखो, इस पर्वत के शिखरों पर ये कोरैया के पेड़, जो वर्षा के नवीन जल से सींचे जाने को जल के लिए उत्कण्ठित थे, कैसे फूल रहे हैं। ये मुझको शोकपीडित का कामोद्दीपन करते हुए, टिके हुए हैं ॥१४॥

रजः प्रशान्तं सहिमोऽद्य वायु-
निदाघदोषप्रसराः प्रशान्ताः ।
स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानां
प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान् ॥१५॥

वर्षा होने के कारण धूल का उड़ना बन्द हो गया। शीतल पवन चलने लगा। ग्रीष्म काल के समस्त दोष दूर हो गए। राजाओं की अन्य देशों पर चढ़ाई रुक गई। विदेशी लोग अपने देशों को जाने लगे ॥१५॥

सम्प्रस्थिता मानसवासलुब्धाः
प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः ।
अभीक्ष्णवर्षोदकविक्षतेषु
यानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति ॥१६॥

मानसरोवर के लोभी हंस मानसरोवर की ओर चल दिए। चकवा अपनी प्यारी चकई से मिल गया है और लगातार बरसते हुए बरसाती जल से बिगड़े हुए रास्तों पर सवारियों का आना जाना बंद हो गया है ॥१६॥

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।
क्वचित्क्वचित्पर्वतसंनिरुद्धं
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य ॥१७॥

इस समय आकाश में कहीं प्रकाश देख पड़ता है, कहीं नहीं। क्योंकि आकाशमण्डल में मेघ छाए हुए हैं और कहीं वह पर्वतों से संरुद्ध हो रहा है। अतः तरङ्गहीन महासागर की तरह शोभायमान है ॥१७॥

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै-
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥१८॥

ये पहाडी नदियाँ, इस नवीन बरसाती जल के गिरने से, साखू और चन्दन के पुष्पों तथा पर्वत की धातुओं के मिलने से लाल रंग की हो कर, कैसी शीघ्र गति से बह रही हैं ॥१८॥

रसाकुलं[१] षट्पदसन्निकाशं
प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम्।

---

१ रसाकुलं—माधुर्यव्याप्तं। (गो०)

अनेकवर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम् ॥१६॥

मीठे और भौंरे की तरह काले काले जामुन फलों को लोग, खा रहे हैं। ये रंग बिरंगे पके आम के फल वायु के झोकों से टूट कर भूमि पर गिरते हैं ॥१६॥

विद्युत्पताकाः सबलाकमालाः
शैलेन्द्रकूटाकृतिसन्निकाशाः
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा
मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्थाः ॥२०॥

बिजली रूपी पताका से शोभित और बगलों की पंक्ति रूपी माला पहिने हुए शैलशिखर समान डीलडौल के और भयङ्कर नाद करने वाले मेघ, रण में मतवाले हाथियों की तरह बड़ा नाद कर रहे हैं ॥२०॥

वर्षोदकाप्यायितशाद्वलानि
प्रवृत्तनृत्तोत्सवबर्हिणानि ।
वनानि निर्वृष्टबलाहकानि
पश्यापराह्णेष्वधिकं विभान्ति ॥२१॥

देखो मध्याह्नोत्तर ये वन कैसे शोभायमान हो रहे हैं। वर्षा होने के कारण हरी हरी घास की हरियाली देख पड़ती है, मोर प्रसन्न हो नाच रहे हैं। क्योंकि मेघ अति वृष्टि कर के अब थम गए हैं ॥२१॥

समुद्वहन्तः सलिलातिभारं
बलाकिनो वारिधरा नदन्तः ।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां
विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥२२॥

बगुलों की पंक्तियों से सुशोभित और गर्जते हुए मेघ जल के भारी बोझ से पर्वत के ऊँचे ऊँचे शिखरों पर विश्राम कर के फिर चले जाते हैं ॥२२॥

मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती
सम्मोदिता भाति बलाकपङ्क्तिः ।
वातावधूता वरपौण्डरीकी
लम्बेव माला रचिताम्बरस्य ॥२३॥

गर्भधारण करने के लिए मेघ के प्रति कामयुक्त हो बकपंक्ति प्रसन्न हो, वायु से कम्पित श्रेष्ठ कमल के फूलों की उत्तम माला की तरह, आकाश के कण्ठ का हार सी बन, शोभायमान हो रही है ॥२३॥

बलेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन ।
गात्रानुवृत्तेन शुकप्रभेण
नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥२४॥

बीच बीच में छोटी छोटी वीर बहूटियों से भरी हुए हरी घास से इस पृथिवी की वैसी शोभा हो रही है, जैसी कि, लाल बूटे वाले हरे दुपट्टे के ओढ़ने वाली स्त्री की होती है ॥२४॥

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति
द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति ।
हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति
कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति ॥२५॥

इस वर्षा काल में धीरे धीरे निद्रा केशव के, नदियां द्रुत वेग समुद्र के, बकपंक्ति हर्षित हो, मेघ के और कामिनी स्त्रियाँ अपने प्रीतम के पास जाती हैं ॥२५॥

जाता वनान्ताः शिखिसम्प्रनृत्ता
जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः ।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवनाभिरामा ॥२६॥

इस समय वनों में मोर नाच रहे हैं। कदम्ब के पेड़ों की शाखाओं में पुष्प खिल रहे हैं, वृषभ गौओं को देख, कामातुर हो रहे हैं और पृथिवी हरी हरी घास से अत्यन्त सुन्दर देख पड़ती है ॥२६॥

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति ।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ॥२७॥

देखो, इस समय नदियाँ बही जाती हैं, मेघ वर्ष रहे हैं, मतवाले हाथी चिंघाड़ रहे हैं, वन शोभित हो रहे हैं। अपनी मोरनियों के विरह में मोर चिन्तित हो रहे हैं और वानरगण (फलों के लिए) आशावान् हो रहे हैं ॥२७॥

प्रहर्षिताः केतकपुष्पगन्ध-
माघ्राय हृष्टा वननिर्झरेषु ।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः
सार्धं मयूरैः समदा नदन्ति ॥२८॥

ये गजेन्द्र, केवड़े की गन्ध को सूँघ और प्रसन्न हो, झरने के जलके गिरने के शब्दों से विकल और मतवाले हो, मोरों के शब्द में शब्द मिला, चिघाड़ रहे हैं ॥२८॥

धारानिपातैरभिहन्यमानाः
कदम्बशाखासु विलम्बमानाः ।
क्षणार्जितं पुष्परसावगाढं
शनैर्मदं षट्चरणास्त्यजन्ति ॥२९॥

भौंरे धारा के गिरने से ताडित हो, कदम्ब की डालियों पर जा बैठते हैं और पूर्वसञ्चित गाढ़े पुष्परस रूप मद को धीरे धीरे त्यागे देते हैं ॥२९॥

अङ्गारचूर्णोत्करसन्निकाशैः
फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः ।
जम्बूद्रुमाणां प्रविभान्ति शाखा
निलीयमाना इव षट्पदौघैः ॥३०॥

देखो जामुन वृक्ष की डालियाँ, कोयले की राख की ढेर की तरह रस भरे फलों से ऐसी शोभायमान हो रही हैं मानों भौंरों के झुण्ड इनका रस पी रहे हों ॥३०॥

तडित्पताकाभिरलङ्कृताना-
मुदीर्णगम्भीरमहारवाणाम् ।
विभान्ति रूपाणि वलाहकानां
रणोद्यतानामिव वारणानाम् ॥२१॥

देखो, विद्युत रूपी पताकाओं से शोभित और महागम्भीर शब्द वाले इन बादलों के रूप ऐसे जान पड़ते हैं, मानो रण करने को तैयार हाथी एकत्र हो रहे हैं ॥२१॥

मार्गानुगः शैलवनानुसारी
सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य ।
युद्धाभिकामः प्रतिनादशङ्की
मत्तो गजेन्द्रः प्रतिसन्निवृत्तः ॥२२॥

पर्वतों और वनों में विचरने वाला यह हाथी, जो पहाड़ी वन की ओर चला जाता था, मेघ के शब्द को सुन और उसे अपने शत्रु हाथी की चिंघार समझ, युद्ध करने की कामना से, लौटा चला आता है ॥२२॥

क्वचित्प्रगीता इव षट्पदौघैः ।
क्वचित्प्रनृत्ता इव नीलकण्ठैः ।
क्वचित्प्रमत्ता इव वारणेन्द्रैः-
विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः ॥२३॥

ये वन, जिन में कहीं तो भौंरे गूँज रहे हैं, कहीं मोर नाच रहे हैं और कहीं मतवाले हाथी विचर रहे हैं, नाना प्रकार के कौतुकों से परिपूर्ण,होने के कारणकैसे सुन्दर देख पड़ते हैं ॥२३॥

कदम्बसर्जार्जुनकन्दलाढ्या
वनान्तभूमिर्नववारिपूर्णा
मयूरमत्ताभिरुतप्रनृत्तै-
रापानभूमिप्रतिमा विभाति ॥३४॥

इस जगल की भूमि, जो कदम्ब साखू, अर्जुन और गुलाब के फूलों से परिपूर्ण है और नवीन जल रूपी मद्य से भरी है, मतवाले मोरों के नाचने से, कलवरिया (शराब की दूकान) की तरह जान पड़ती है ॥३४॥

मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै
सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम् ।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहङ्गाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति ॥ ३५ ॥

प्यासे पखेरू, जिनके पंख पानी से बिगड़ गए हैं मोती के समान पत्तों पर गिरा हुआ और इन्द्र का दिया हुआ निर्मल जल, हर्षित हो पी रहे हैं ॥३५॥

षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं
प्लवङ्गमोदीरितकण्ठतालम् ।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-
र्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥३६॥

भौंरों का जो गुंजार हो रहा है वह मानों वीणा की मधुर झङ्कार है। मेढकों की टर्र टर्र, मानों कंठ से दिया हुआ ताल है, मेघों की गड़गड़ाहट, मानों मृदङ्ग से निकली हुई गमक है। इस प्रकार का सङ्गीत वनों मे हो रहा है ॥३६॥

क्वचित्प्रनृत्तैः क्वचिदुन्नदद्भिः
क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः ।
व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरै-
र्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम् ॥२७॥

देखो कहीं तो मोर नाच रहे हैं, कहीं बोल रहे हैं और कहीं अपनी लंबी पूंछ रूपी अलंकार को लटका कर पेड़ों पर बैठे हुए हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है कि, वन में मानों गाना बजाना हो रहा है ॥२७॥

स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा
विहाय निद्रां चिरसन्निरुद्धाम् ।
अनेकरूपाकृतिवर्णनादा
नवाम्बुधाराभिहता नदन्ति ॥२८॥

अनेक रंग रूप और अनेक प्रकार की बोलियाँ बोलने वाले ये बंदर, मेघ की गड़गड़ाहट सुन, बहुत देर से लगी हुई नींद को त्याग, इस नवीन वृष्टि की जलधार से भींग कर, कैसी किल कारियाँ मार रहे हैं ॥२८॥

नद्यः समुद्वाहितचक्रवाका-
स्तटानि शीर्णान्यपवाहयित्वा ।
दृप्ता नवप्रावृतपूर्णभोगा
द्रुतं स्वभर्तारमुपोपयान्ति ॥२९॥

देखो, ये नदियाँ जिनमें चक्रवाक तैरते हुए देख पड़ते हैं, अपने पुराने और दरके हुए करारों को बहाती हैं। वे वेग रूप

गर्व को और नवीन (भरेहुए) शरीर को धारण कर, पूर्व के अंगीकृत समुद्र रूपी पति के पास चली जा रही हैं ॥३९॥

नीलेषु नीलाः प्रविभान्ति सक्ता
मेघेषु मेघा नववारिपूर्णाः ।
दवाग्निदग्धेषु दवाग्निदग्धाः
शैलेषु शैला इव बद्धमूलाः ॥४०॥

नवीन जल से परिपूर्ण ये काले मेघ समूह, अन्य काले मेघ समूहों से मिल ऐसे जान पड़ते हैं, मानों वनाग्नि से जले हुए पहाड़ों में वैसे ही पर्वत चिपके हों ॥४०॥

प्रहृष्टसन्नादितबर्हिणानि
सशक्रगोपाकुलशाद्वलानि ।
चरन्ति नीपार्जुनवासितानि
गजाः सुरम्याणि वनान्तराणि ॥४१॥

इन रमणीय वनों में जिनमे मतवाले मयूर बोल रहे हैं और वीरबहूटियों से पूर्ण घास लहगनी है और अर्जुन के फूलों की सुगन्ध आ रही है, हाथियों के झुंड चर रहे हैं ॥४१॥

नवाम्बुधाराहतकेसराणि
द्रुतं परित्यज्य सरोरुहाणि ।
कदम्बपुष्पाणि सकेसराणि
वनानि हृष्टा भ्रमराः पतन्ति ॥४२॥

देखो ये भौरें नवीन जलवृष्टि से झड़े हुए केसर वाले कमलों को छूकर नवीन केसर से युक्त कदम्ब के फूलों को प्रसन्न हो पान कर रहे हैं ॥४२॥

मत्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा
वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः
रम्या नगेन्द्रा निभृता नरेन्द्राः
प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः ॥४३॥

इस समय मदमत्त गज, प्रसन्न वृषभ, जंगलों में अत्यन्त पराक्रमयुक्त सिंह देख पड़ते हैं। पर्वतों की शोभा रमणीक हो रही है और राजा लोग उद्यमहीन देख पड़ते हैं। इस समय सुरपति इन्द्र मेघों द्वारा क्रीड़ा कर रहे हैं ॥४३॥

मेघाः समुद्भूतसमुद्रनादा
महाजलौघैर्गगनावलम्बाः।
नदीस्तटाकानि सरांसि वापी-
र्महीं च कृत्स्नामपवाहयन्ति ॥४४॥

समुद्र के नाद को भी दबा देने वाले ये मेघ, बहुत सा जल भरे हुए, आकाश में रह कर, वर्षा द्वारा नदी, तालाब सरोवर बावली और समस्त पृथिवी को परिपूर्ण कर रहे हैं ॥४४॥

वर्षप्रवेगा विपुलाः पतन्ति
प्रवान्ति वाताः समुदीर्णघोषाः।
प्रनष्टकूलाः प्रवहन्ति शीघ्रं
नद्यो जलैर्विप्रतिपन्नमार्गाः ॥४५॥

देखो. जलवृष्टि कैसे ज़ोर से हो रही है और वायु कैसा प्रचंड चल रहा है। नदियाँ तटरूपी मर्यादा को तोड, बुरे रास्ते से बड़े वेग से जल को बहा रही हैं ॥४५॥

---

* पाठान्तरे—"विभ्रान्त"।

नरैर्नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः
सुरेन्द्रदत्तैः पवनोपनीतैः ।
घनाम्बुकुम्भैरभिषिच्यमाना
रूपं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति ॥४६॥

मनुष्य जिस प्रकार राजा को स्नान कराते हैं, वैसे ही वायु से प्रेरित, जल से भरे मेघ रूपी घड़े से स्नान कर के, पर्वत समूह मानों अपना रूप और शोभा दिखला रहे हैं ॥४६॥

घनोपगूढं गगनं सतारं
न भास्करो दर्शनमभ्युपैति ।
नवैर्जलौघैर्धरणी वितृप्ता
तमोविलिप्ता न दिशः प्रकाशाः ॥४७॥

इन दिनों मेघाच्छादित आकाश में न तो तारे ही देख पड़ते हैं और न सूर्य ही के दर्शन होते हैं। पृथिवी नवीन जलप्रवाह से तृप्त हो गई है और समस्त दिशाओं में अंधकार छा जाने से, उनमें ज़रा सा भी प्रकाश नहीं देख पड़ता ॥४७॥

महान्ति कूटानि महीधराणां
धाराभिधौतान्यधिकं विभान्ति ।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातै-
र्मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः ॥४८॥

पर्वतों के बड़े बड़े शिखर जो जलप्रवाह से धुले हुए हैं, इन बड़े बड़े झरनों के कारण ऐसे शोभायमान हो रहे हैं, मानों मोतियों की लंबी मालाएँ धारण किए हुए हों ॥४८॥

शैलोपलप्रस्खलमानवेगाः
शैलोत्तमानां विपुलाः प्रपाताः ।
गुहासु सन्नादितबर्हिणासु
हारा विकीर्यन्त इवाभिभान्ति ॥४६॥

बड़े बड़े पहाड़ो के झरनो का पानी चट्टानों पर बड़े वेग से बहता हुआ, मोरों के नाद से युक्त कन्दराओं मे मोती के टूटे हुए हार की तरह छितरा कर गिर रहा है ॥४६॥

शीघ्रप्रवेगा विपुलाः प्रपाता
निर्धौतशृङ्गोपतला गिरीणाम् ।
मुक्ताकलापप्रतिमाः पतन्तो
महागुहोत्सङ्गतलैर्ध्रियन्ते ॥५०॥

पर्वतों के बड़े वेग से बहने वाले झरने, पहाड़ों की चोटियों को धोते हुए, बड़े वेग से गिर, बड़ी गुफाओं मे मोतियों की ढेरों के समान शोभा दे रहे हैं ॥५०॥

सुरतामर्दविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिकाः ।
पतन्तीवाकुला दिक्षु तोयधाराः समन्ततः ॥५१॥

स्वर्गीय स्त्रियों की रतिक्रीड़ा के समय, मर्दन करने के कारण टूटे हुए अनुपम मोतियों के हार की तरह, चारों ओर वृष्टि का जल छितरा रहा है ॥५१॥

निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः ।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः ॥५२॥

पक्षियों के अपने घोंसलों में बसेरा लेने से और कमल के फूलों के समिट कर बंद हो जाने से और मालती के फूलों के खिलने से, सूर्य का अस्त होना, जाना जाता है ॥५२॥

वृत्ता यात्रा नरेन्द्राणां सेना प्रतिनिवर्तते ।
वैराणि चैव मार्गाश्च सलिलेन समीकृताः ॥५३॥

इस वर्षा काल में राजाओं की यात्रा स्थगित हो रही है। जिस किसी राजा की सेना किसी शत्रु पर चढाई करने चल पड़ी थी, वह भी वर्षाकाल उपस्थित होने के कारण रास्ते में जहाँ की तहाँ रुकी हुई है ॥५३॥

मासि प्रोष्टपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम् ।
अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः ॥५४॥

इस भाद्र मास में सामवेदी ब्राह्मणों का अध्ययन काल आ पहुँचा ॥५४॥

निवृत्तकर्मायतनो नूनं सञ्चितसञ्चयः ।
आषाढीमभ्युपगतो भरतः कोसलाधिपः ॥५५॥

कोसलाधिपति भरत कर उगाहने आदि के कार्यों से निवृत्त हो और चौमासे में खर्च के लिए भोजनाच्छादन की सामग्री घर में संग्रह कर, आषाढी पूर्णिमा से किसी विशेष अनुष्ठान में लग गए होंगे ॥५५॥

नूनमापूर्यमाणायाः सरय्वा वर्धते रयः ।
मां समीक्ष्य समायान्तमयोध्याया इव स्वनः ॥५६॥

सरयू नदी में बाढ आने से वह लबालब भरी होगी और उसका कोलाहल ऐसा होता होगा, जैसा कि मेरी वनयात्रा के समय अयोध्यावासियों ने किया था ॥५६॥

इमाः स्फीतगुणा वर्षाः सुग्रीवः सुखमश्नुते ।
विजितारिः सदारश्च राज्ये महति च स्थितः ॥५७॥

भरीपूरी वर्षा ऋतु के लक्षण इस समय भली भाँति जान पड़ रहे हैं। सुग्रीव भी इस समय सुख भोगते होंगे। क्योंकि उनका शत्रु मारा गया और उनको उनकी स्त्री भी मिल गई और साथ ही एक बड़ा राज्य भी उनके हाथ लग गया ॥५७॥

अहं तु हृतदारश्च राज्याच्च महतश्च्युतः ।
नदीकूलमिव क्लिन्नमवसीदामि लक्ष्मण ॥५८॥

किन्तु हे लक्ष्मण ! मैं स्त्री को गँवा और इतने बड़े राज्य से वञ्चित हो, धार से कटते हुए नदी के तट की तरह, इस समय दुःखी हो रहा हूँ ॥५८॥

शोकश्च मम विस्तीर्णो वर्षाश्च भृशदुर्गमाः ।
रावणश्च महाञ्शत्रुरपारं प्रतिभाति मे ॥५९॥

एक तो यह वर्षाकाल अत्यन्त दुर्गम है, दूसरे रावण भी ऐसा वैसा शत्रु नहीं है—बड़ा प्रबल शत्रु है, तीसरे मेरा शोक उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। सो ये सब मुझे दुस्तर ही जान पड़ते हैं ॥५९॥

अयात्रां चैव दृष्ट्वेमां मार्गाश्च भृशदुर्गमान् ।
प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किञ्चिदीरितम् ॥६०॥

मार्गों की दुर्गमता देख, और यात्रा के लिये इस काल को अनुकूल न समझ कर ही, मैंने सुग्रीव से, उस समय जिस समय कि, वह प्रणाम कर जाने लगा था, इस विषय में कुछ नहीं कहा था ॥६०॥

अपि चातिपरिक्लिष्टं चिराद्दारैः समागतम् ।
आत्मकार्यगरीयस्त्वाद्वक्तुं नेच्छामि वानरम् ॥६१॥

सुग्रीव अत्यन्त कष्ट पा कर बहुत दिनों बाद अपनी स्त्रियों से मिला है। मेरा कार्य बड़ा भारी है। अतः मैं उससे अभी कुछ कहना नहीं चाहता ॥६१॥

स्वयमेव हि विश्रम्य ज्ञात्वा कालमुपागतम् ।
उपकारं च सुग्रीवो वेत्स्यते नात्र संशयः ॥६२॥

इसमें मुझे जरा भी सन्देह नहीं कि, सुग्रीव जब आराम कर चुकेगा, तब आप ही समय आने पर मेरे प्रति उपकार करने का स्मरण करेगा ॥६२॥

तस्मात्कालप्रतीक्षोऽहं स्थितोऽस्मि शुभलक्षण ।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमनुपालयन् ॥६३॥

अत. हे शुभलक्षणों से युक्त लक्ष्मण! मैं नदियों की और सुग्रीव की अनुकूलता की प्रतीक्षा करता हुआ, यहाँ ठहरा हुआ हूँ ॥६३॥

उपकारेण वीरो हि प्रतिकारेण युज्यते ।
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः ॥६४॥

वीर लोग उपकार का बदला अवश्य ही प्रत्युपकार से देते हैं। जो ऐसा नहीं करते, उनसे उपकार करने वाले का मन फट जाता है ॥६४॥

*तेनैवमुक्तः प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत्प्रतिपूज्य भाषितम्

---

* पाठान्तरे "तमेवमुक्त. ।"

उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन्[1]दर्शनमात्मनः शुभम् ॥६५॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से इस प्रकार कहा, तब वे हाथ जोड़ और उनके कथन का सम्मान करते हुए और अपना मत प्रकट करते हुए, उनसे बोले ॥६५॥

यथोक्तमेतत्तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता न चिराद्धरीश्वरः।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिमं भवा-
ञ्जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः ॥६६॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

हे नरेन्द्र! आपने जो कुछ कहा तदनुसार सुग्रीव शीघ्र ही करेंगे। इस समय आप क्षमा करें और शरत्काल की प्रतीक्षा करते हुए यहाँ रहें। वर्षाकाल समाप्त होने पर शत्रु के विनाश में तत्पर होना ॥६६॥

किष्किन्धाकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—ॐ—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—ॐ—

समीक्ष्य विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम्
सारसारवसंघुष्टं रम्यज्योत्स्नानुलेपनम् ॥१॥

---

१ दर्शन—मत। (गो०)

जब आकाश में बादलों का गड़गड़ाना और बिजली का कड़कना न देख पड़ने लगा, और जब सारसों से निनादित और मनोहर चाँदनी से छिटका हुआ विमल आकाश देख पड़ा, तब सुग्रीव के समीप हनुमान जी गए ॥१॥

समृद्धार्थं च सुग्रीवं मन्दधर्मार्थसंग्रहम् ।
अत्यर्थमसतां मार्गमेकान्तगतमानसम् ॥२॥

निर्वृत्तकार्यं सिद्धार्थं प्रमदाभिरतं सदा ।
प्राप्तवन्तमभिप्रेतान् सर्वानपि*मनोरथान् ॥३॥

स्वां च पत्नीमभिप्रेतां तारां चापि समीप्सिताम् ।
विहरन्तमहोरात्रं कृतार्थं विगतज्वरम् ॥४॥

सुग्रीव अत्यन्त समृद्धशाली हो कर, धर्म और अर्थ को एकत्र करने के विषय में शिथिल और असत् नरों के मार्ग का अवलम्बन किए हुए अर्थात् अत्यन्त कामासक्त तथा सब कार्यों को छोड़, सब अभीष्टों को प्राप्त, सदा स्त्रियों के साथ रत और सब मनोरथों को प्राप्त किये हुये राज्य को पाकर, तथा अपनी स्त्री रुमा और वाञ्छनीय तारा को पाकर, रातदिन विहार किया करते। वे किसी बात की चिन्ता न करते थे ॥२॥३।४॥

क्रीडन्तमिव देवेन्द्रं नन्दनेऽप्सरसां गणैः ।
मन्त्रिषु न्यस्तकार्यं च मन्त्रिणामनवेक्षकम् ॥५॥

वे अपनी स्त्रियों के साथ उसी तरह विहार करते, जिस प्रकार नन्दनवन में इन्द्र अप्सराओं के साथ विहार करते हैं। उन्होंने

* पाठान्तरे—"सर्वानेव।"

सारा राजकाज मंत्रियों पर छोड़ रखा था और स्वयं कभी भी उसे न देखते थे ॥५॥

उत्सन्नराज्यसन्देशं कामवृत्तमवस्थितम् ।
निश्चितार्थोऽर्थतत्त्वज्ञः कालधर्मविशेषवित् ॥६॥

वे राज्य के नाश का कभी सन्देह भी न करते थे। कामासक्त सुग्रीव को देख, अर्थतत्त्व के जानने वाले, सब कार्यों का निश्चय किए और समयानुकूल धर्म के तत्त्व को जानने वाले ॥६॥

प्रसाद्य वाक्यैर्मधुरैर्हेतुमद्भिर्मनोरमैः ।
वाक्यविद्वाक्यतत्त्वज्ञं हरीशं मारुतात्मजः ॥७॥

वाक्यविशारद पवननन्दन श्री हनुमान जी प्रीतिसाने, युक्ति-युक्त, मनोहर वचनों से वाक्यतत्त्व के ज्ञाता सुग्रीव को प्रसन्न कर, ॥७॥

हितं तत्त्वं च पथ्यं च सामधर्मार्थनीतिमत् ।
प्रणयप्रीतिसंयुक्तं विश्वासकृतनिश्चयम् ॥८॥

सत्ययुक्त, हितकारी, साम,-धर्म-अर्थ, नीति-युक्ति, प्रेमप्रीति मिश्रित, ऐसे विश्वस्त वचन बोले, जिन पर उनका स्वयं विश्वास था ॥८॥

हरीश्वरमुपागम्य हनुमान्वाक्यमब्रवीत् ।
राज्यं प्राप्तं यशश्चैव कौली श्रीरपि वर्धिता ॥९॥
मित्राणां संग्रहः शेषस्तं भवान् कर्तुमर्हति ।
यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते ॥१०॥

तस्य राज्यं च कीर्त्तिश्च प्रतापश्चाभिवर्धते ।
यस्य कोशश्च[१]दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप ॥११॥

हनुमान जी ने कपिराज सुग्रीव के पास जा कर कहा—"हे कपिराज! तुमने राज्य और कीर्ति पाई और अपने कुल की लक्ष्मी भी बढ़ाई। अब आपको उचित है कि, अपने मित्र का जो कार्य करना बाकी है, उसे आप करें। क्योंकि जो समय का ज्ञान रखने वाला पुरुष अपने मित्र के साथ अच्छा वर्ताव करता है, उसका राज्य, कीर्ति और प्रताप उत्तरोत्तर बढ़ता है। हे पृथ्वीनाथ! जो राजा अपने कोश, सेना (अर्थात् पुलिस) मित्र और आत्मा ॥९॥१०॥११॥

समवेतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते ।
तद्भवान्वृत्तसम्पन्नः स्थितः पथि निरत्यये ॥१२॥

पर समान रूप से प्रेम रखता है, वह बड़े राज्य को भोगता है। आप चरित्रवान् हैं और निष्कण्टक मार्ग पर आरूढ हैं ॥१२॥

मित्रार्थमभिनीतार्थं यथावत्कर्तुमर्हति ।
सन्त्यज्य सर्वकर्माणि मित्रार्थे यो न वर्तते ॥१३॥

अतः मित्र के प्रतिज्ञात कार्य को यथोचित रीति से करने में ढीलढाल न कीजिए। क्योंकि जो मनुष्य अपने सब कामों को छोड़, मित्र का काम नहीं करता है ॥ १३ ॥

सम्भ्रमाद्धि कृतोत्साहः सोऽनर्थैर्नावरुध्यते ।
यस्तु कालव्यतीतेषु मित्रकार्येषु वर्तते ॥१४॥
स कृत्वा महतोऽप्यर्थान्न मित्रार्थेन युज्यते ।
यदिदं वीर कार्यं नो मित्रकार्यमरिन्दम ॥१५॥

---

१ दण्ड. सेनाविशेषः । (गो०)

और उद्वेगवश अपने उत्साह को नष्ट कर डालता है, वह अनर्थ मे फँस जाता है। जो मनुष्य समय व्यतीत होने पर मित्र के कार्य में लगता है, वह भले ही निरतोड़ परिश्रम करे, किन्तु उसके किए मित्र का काम पूरा नहीं होता। हे शत्रुघाती! अब वह समय बीता ही चाहता है ॥१४॥१५॥

क्रियतां राघवस्यैतद्वैदेह्याः परिमार्गणम् ॥१६॥

अतः अब श्रीरामचन्द्र जी की सीता का पता लगाने का काम पूरा करना चाहिए ॥१६॥

न च कालमतीतं ते निवेदयति [1]कालवित्।
त्वरमाणोऽपि सन् प्राज्ञस्तव राजन् वशानुगः ॥१७॥

यद्यपि समय बीतने ही वाला है और श्रीरामचन्द्र जी को अपने काम के लिए शीघ्रता भी बहुत है, तथापि वे समय के परखने वाले श्रीराम कुछ नहीं करते। क्योंकि वे तुम्हारी ही इच्छानुसार कार्य कर रहे हैं ॥१७॥

कुलस्य हेतुः स्फीतस्य दीर्घबन्धुश्च राघवः।
अप्रमेयप्रभावश्च स्वयं चाप्रतिमो गुणैः ॥१८॥

श्रीरामचन्द्र जी तुम्हारे कुल की वृद्धि करने वाले हैं, तुम्हारे बड़े मित्र हैं, वे बड़े प्रभाव वाले हैं और गुणों में सब के ऊपर हैं ॥१८॥

तस्य त्वं कुरु वै कार्यं पूर्वं तेन कृतं तव।
हरीश्वर हरिश्रेष्ठानाज्ञापयितुमर्हसि ॥१९॥

---

१ कालवित् राम इति शेषः। (गो०)

वे आपका काम पहले ही कर चुके हैं, अतः अब आपको भी उनका काम करना चाहिए। हे कपिराज! अब आप मुख्य मुख्य वानरों को आज्ञा दीजिए ॥१६॥

न हि तावद्भवेत्कालो व्यतीतश्चोदनादृते ।
चोदितस्य हि कार्यस्य भवेत्कालव्यतिक्रमः ॥२०॥

जब तक श्रीरामचन्द्र जी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते, तब तक आपको ठहरना उचित नहीं, (अर्थात् उनके कथन की प्रतीक्षा मत कीजिए) किन्तु जब वे कुछ कहेंगे तब समय ही हानि समझी जायगी अथवा जो काम प्रेरणा विना स्वयं ही किआ जाता है, उससे समय का उल्लङ्घन नहीं समझा जाता, किन्तु जो कार्य प्रेरणा द्वारा किआ जाता है, वह कार्य समय पर हुआ नहीं समझा जाता ॥२०॥

अकर्तुरपि कार्यस्य भवान् कर्ता हरीश्वर ।
किं पुनः प्रतिकर्तुस्ते राज्येन च धनेन च ॥२१॥

हे कपिराज! आप तो अनुपकारी का भी काम कर देने वाले हैं, फिर जिन्होंने वालि को मार, आपको राज्य दिलवाया है, उनका तो उपकार आप करेंहीगे, इसमें कहना ही क्या है ॥२१॥

शक्तिमानपि विक्रान्तो वानरर्क्षगणेश्वर ।
कर्तुं दाशरथेः प्रीतिमाज्ञायां किं न सज्जसे ॥२२॥

आप वानरों और रीछों के राजा हैं और श्रीरामचन्द्र जी शक्तिमान् और अतिशय विक्रमशाली हैं, आप श्रीरामचन्द्र जी की प्रसन्नता के हेतु, उनका कार्य करने के लिए क्यों तैयार नहीं होते ? ॥२२॥

कामं खलु शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान् ।
वशे दाशरथिः कर्तुं त्वत्प्रतिज्ञां तु काङ्क्षते ॥२३॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी सुर असुर और भुजङ्गों को भी अपने बाणों से अपने वश में कर सकते हैं, वह तो आपकी प्रतिज्ञा को परखते हैं ॥२३॥

प्राणत्यागाविशङ्केन कृतं तेन तव प्रियम् ।
तस्य मार्गाम वैदेहीं पृथिव्यामपि चाम्बरे ॥२४॥

उन्होंने अपनी जान हथेली पर रख कर, आपका काम कर, आपको प्रसन्न किया । अत. हम लोग सीता जी को पृथिवी व आकाश में, जहाँ कहीं भी वे हों, ढूँढ़ेंगे ॥२४॥

न देवा न च गन्धर्वा नासुरा न मरुद्गणाः ।
न च यक्षा भयं तस्य कुर्युः किमुत राक्षसाः ॥२५॥

देव, दानव, गन्धर्व, असुर, मरुद्गण और यक्षगण सब ही, युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी से डरते हैं, फिर राक्षस लोग उनसे क्यों न डरेंगे ? ॥२५॥

तदेवं शक्तियुक्तस्य पूर्वं प्रियकृतस्तव ।
रामस्यार्हसि पिङ्गेश कर्तुं सर्वात्मना प्रियम् ॥२६॥

हे पिङ्गेश ! इस प्रकार के शक्तियुक्त श्रीरामचन्द्र आपका उपकार पहिले ही कर चुके हैं ; अतः आपको उचित है, कि सर्व प्रकार आप उनका उपकार करें ॥२६॥

नाधस्तादवनौ नाप्सु गतिर्नोपरि चाम्बरे ।
कस्यचित्सज्जतेऽस्माकं कपीश्वर तवाज्ञया ॥२७॥

हे कपीश्वर ! आपकी आज्ञा से हम लोग पाताल, पृथिवी, और आकाश में वेरोकटोक जा सकते हैं ॥२७॥

तदाज्ञापय कः किं ते कृते कुत्र व्यवस्यतु ॥
हरयो ह्यप्रधृष्यास्ते सन्ति कोटयग्रतोऽनघाः ॥२८॥

हे अनघ ! करोड़ों दुर्द्धर्ष बंदर आपके अधीन हैं, सो आप आज्ञा दीजिए कि, कौन कहाँ जाय ॥२८॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा काले साधु निवेदितम् ।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नश्चकार मतिमुत्तमाम् ॥२९॥

हनुमान जी के समयोचित और उत्तम रूप से कहे गए वचनों को सुन कर, महापराक्रमी सुग्रीव ने हनुमान जी के कथन की सराहना की ॥२९॥

स सन्दिदेशाभिमतं नीलं नित्यकृतोद्यमम् ।
दिक्षु सर्वासु सर्वेषां सैन्यानामुपसंग्रहे ॥३०॥

सुग्रीव ने उद्यमशील नील नामक वानर को, सब दिशाओं से वानरी सैन्य एकत्र क ने की आज्ञा दी ॥३०॥

यथा सेना समग्रा मे यूथपालाश्च सर्वशः ।
समागच्छन्त्यसङ्गेन सेनाग्राणि तथा कुरु ॥३१॥

सुग्रीव ने कहा—तुमको ऐसा यत्न करना चाहिए, जिससे सब यूथपाल अपने अपने सेनापतियों सहित अपनी समस्त सेना लेकर यहाँ आवे ॥३१॥

ये त्वन्तपालाः प्लवगाः शीघ्रगा व्यवसायिनः ।
समानयन्तु ये सैन्यं त्वरिताः शासनान्मम ॥३२॥

जो दिगन्त की सेना के पालक, उद्योगी और तेज चलने वाले वानर हैं, मेरी आज्ञा से सेना को तुरन्त यहाँ ले आवें ॥३२॥

स्वयं चानन्तरं सैन्यं भवानेवानुपश्यतु ।
त्रिपञ्चरात्रादूर्ध्वं यः प्राप्नुयान्नेह वानरः ।
तस्य प्राणान्तिको दण्डो नात्र कार्या विचारणा ॥३३॥

तदनन्तर सैनिकों की हाजिरी लेना, उनकी व्यवस्था करना आदि जो कार्य हैं उनको तुम करो। जो वदर पन्द्रह दिन के भीतर यहाँ न आवेगा, उसे बिना कुछ सोचे विचारे प्राणदण्ड दिया जावेगा ॥ ३३ ॥

हरींश्च वृद्धानुपयातु साङ्गदो
भवान् ममाज्ञामधिकृत्य निश्चिताम् ।
इति व्यवस्थां हरिपुङ्गवेश्वरो
विधाय वेश्म प्रविवेश वीर्यवान् ॥३४॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

हे नील! हमारे अधीन जो बड़े बूढ़े वानर हैं, उनके पास तुम स्वयं जाओ और अपने साथ अङ्गद को लेते जाओ। कपिप्रवर, पराक्रमी सुग्रीव इस प्रकार की व्यवस्था कर, राजभवन में चले गए ॥३४॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

त्रिंशः सर्गः

—❀—

गुहां प्रविष्टे सुग्रीवे विमुक्ते गगने घनैः ।
वर्षरात्रोषितो रामः कामशोकाभिपीडितः ॥१॥

इधर तो सुग्रीव राजमन्दिर में गए, उधर आकाश मेघरहित हुआ। बरसाती रातों के बीत जाने पर श्रीरामचन्द्र जी कामजन्य शोक से पीड़ित हुए ॥ १ ॥

पाण्डुरं गगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम् ।
शारदीं रजनीं चैव दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम् ॥२॥

श्रीरामचन्द्र जी आकाश को सफेद, चन्द्रमण्डल को विमल और चाँदनी रात को देख, ॥२॥

कामवृत्तं च सुग्रीवं नष्टां च जनकात्मजाम्
बुद्ध्वा कालमतीत च मुमोह परमातुरः ॥३॥

तथा कामासक्त सुग्रीव को और जनककुमारी को हरी हुई जान और समय को व्यतीत होता हुआ विचार, अत्यन्त आतुर हो मूर्च्छित हो गए ॥३॥

स तु संज्ञामुपागम्य मुहूर्तान्मतिमान् पुनः ।
मनःस्थामपि वैदेहीं चिन्तयामास राघवः ॥४॥

अनन्तर बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी एक मुहूर्त्त भर में चित्त को सावधान कर, जानकी जी के लिए चिन्तित हुए ॥४॥

आसीनः पर्वतस्याग्रे हेमधातुविभूषिते ।
शारदं गगनं दृष्ट्वा जगाम मनसा प्रियाम् ॥५॥

वे हेमधातु विभूषित पर्वत के अग्रभाग पर बैठ, शरद ऋतु का आकाश देख मन ही मन अपनी प्यारी का चिन्तवन करने लगे ॥५॥

दृष्ट्वा च विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम् ।
सारसारवसंघुष्टं विललापार्तया गिरा ॥६॥

शरत्कालीन विद्युत् और मेघों से रहित आकाशमण्डल को देख और सरोवरों पर बोलते हुए सारसों की बोली सुन, श्रीरामचन्द्रजी अति आर्त वाणी से विलाप करने लगे ॥६॥

सारसारवसन्नादैः सारसारवनादिनी ।
याऽऽश्रमे रमते बाला साऽद्य ते रमते कथम् ॥७॥

(वे बोले) जो सीता सारस की तरह शब्द किया करती तथा सारसों की बोली सुन आश्रम में आनन्दित होती थी, वह इस समय क्योंकर अपना मन बहलाती होगी ? ॥७॥

पुष्पितांश्चासनान् दृष्ट्वा काञ्चनानिव निर्मलान् ।
कथं सा रमते बाला पश्यन्ती मामपश्यती ॥८॥

सुवर्ण की तरह निर्मल इन पुष्पित असन वृक्षों को देख कर और मुझे न देख कर, वह बाला किस प्रकार अपना मन मुदित करती होगी ? ॥८॥

या पुरा कलहंसानां स्वरेण कलभाषिणी ।
बुध्यते चारुसर्वाङ्गी साऽद्य मे बुध्यते कथम् ॥९॥

सहायसामर्थ्यमदीनसत्त्व

[१]स्वकर्महेतुं च कुरुष्व हेतुम् ॥१७॥

आप अपने मन को प्रसन्न कर और धैर्य धारण कर कार्य के लिए उद्योग कीजिए। फिर इस समय अपना मन स्थिर कर और दैन्य भाव परित्याग कर, सुग्रीव की सहायता से और देव पजनादि कर्मों से अपना काम कीजिए ॥१७॥

[टिप्पणी—इससे सिद्ध है कि रामायण काल में भी किसी कार्य विशेष की सिद्धि के लिए देवानुष्ठान करने की प्रथा प्रचलित थी।]

न जानकी मानववंशनाथ

त्वया सनाथा सुलभा परेण।

न चाग्निचूडां ज्वलितामुपेत्य

न दह्यते वीरवरार्ह कश्चित् ॥१८॥

हे मानव-वश-नाथ! सीता के आप ही एकमात्र नाथ अर्थात् स्वामी हैं। उसका दूसरा कोई स्वामी नहीं हो सकता। हे वीरवर पूज्य! भला बतलाइये तो प्रज्वलित अग्नि की शिखा को पकड़ कर, कौन विना जले बच सकता है? ॥१८॥

सलक्षणं लक्ष्मणमप्रधृष्य

स्वभावजं वाक्यमुवाच रामः।

हितं च पथ्यं च नयप्रसक्तं

ससाम धर्मार्थसमाहितं च ॥१९॥

लक्ष्मण जी के ऐसे वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी, हितकारी लाभप्रद, राजनीतियुक्त, धीरज बँधाने वाले, धर्म और अर्थ युक्त वचन बोले ॥१९॥

* १ स्वकर्महेतुं स्वकर्म देवतोपासनात्मकं तदेव हेतुः (गो०)।

निःसंशयं कार्यमवेक्षितव्यं
क्रियाविशेषो ह्यनुवर्तितव्यः ।
ननु प्रवृत्तस्य दुरासदस्य
कुमार कार्यस्य फलं न चिन्त्यम् ॥२०॥

हे लक्ष्मण ! धैर्य धारण पूर्वक ऐसा उत्साह करना चाहिए जिससे सीता अवश्य मिल जाय और इस कार्य की सिद्धि में जो असह्य कष्ट झेलने पड़ें, उनकी चिन्ता भी न करनी चाहिए ॥२०॥

अथ पद्मपलाशाक्षीं मैथिलीमनुचिन्तयन् ।
उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ॥२१॥

कमलनयनी सीता जी को याद कर, श्रीरामचन्द्र जी का मुख सूख गया और वे लक्ष्मण जी से बोले ॥२१॥

तर्पयित्वा सहस्राक्षः सलिलेन वसुन्धराम् ।
निर्वर्तयित्वा[1] सस्यानि कृतकर्मा व्यवस्थितः ॥२२॥

हे लक्ष्मण ! देखो, इन्द्र वर्षा द्वारा पृथिवी को तृप्त कर और अन्न को पका कर, अब कृतार्थ हुए ॥२२॥

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषाः शैलद्रुमपुरोगमाः ।
विसृज्य सलिलं मेघाः परिश्रान्ता नृपात्मज ॥२३॥

हे ! राजकुमार धीर गम्भीर शब्द करने वाले मेघ भी, पर्वतों वृक्षों और नगरों पर जल की वृष्टि कर, अब शान्त हो गए हैं ॥२३॥

नीलोत्पलदलश्यामाः श्यामीकृत्वा दिशो दश ।
विमदा इव मातङ्गाः शान्तवेगाः पयोधराः ॥२४॥

---

* १ निर्वर्तयित्वा—परिपक्वानि कृत्वा । (गो०)

मेघ जो नील कमल के पत्ते की तरह श्याम वर्ण थे, दसों दिशाओं को हरी भरी कर के मदहीन हाथियों की तरह, वेगरहित हो गए हैं ॥२४॥

जलगर्भा महावेगाः कुटजार्जुनगन्धिनः ।
चरित्वा विरताः सौम्य वृष्टिवाताः समुद्यताः ॥२५॥

बरसाती हवा भी, जो जल से नम थी और बड़ी वेग वाली थी तथा कोरैया और अर्जुन के फूलों की महक से सुवासित थी, अब थम गई है ॥२५॥

घनानां वारणानां च मयूराणां च लक्ष्मण ।
नादः प्रस्रवणानां च प्रशान्तः सहसानघ ॥२६॥

हे लक्ष्मण! अब न तो मेघों की गड़गड़ाहट, न हाथियों की चिंघाड़, न मोरों की बोली और न झरनों का कल कल शब्द ही सुनाई पड़ता है ॥२६॥

अभिवृष्टा महामेघैर्निर्मलाश्चित्रसानवः ।
अनुलिप्ता इवाभान्ति गिरयश्चित्रदीप्तिभिः ॥२७॥

देखो बड़े बड़े मेघों की वृष्टि से इन पर्वतों के कँगूरे धुल कर साफ हो गए हैं। इन पर जब चन्द्रमा की किरणें पड़ती हैं, तब ये कैसी शोभा देने लगते हैं! ॥२७॥

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः ।
नवसङ्गमसव्रीडा जघनानीव योषितः ॥२८॥

शरत्कालीन नदियाँ धीरे धीरे अपने पुलिन प्रदेश वैसे ही उघारती हैं, जैसे गौने आई हुई रमणी प्रथम पति-सगम के समय, लज्जा के मारे अपनी जाँघें धीरे धीरे उघारती है ॥२८॥

[टिप्पणी—इस उपमा को देख आर्य कवि की रसिकता का अच्छा परिचय मिलता है]

शाखासु सप्तच्छदपादपानां
प्रभासु तारार्कनिशाकराणाम् ।
लीलासु चैवोत्तमवारणानां
श्रियं विभज्याद्य शरत्प्रवृत्ता ॥२६॥

देखो, शरद ऋतु ने सतोना की डालियों में, तारा, सूर्य और चन्द्र की प्रभा में तथा हाथियों की क्रीडाओं में, अपनी उत्तम नवीन शोभा को मानों विभाजित कर दिया है ॥२६॥

संप्रत्यनेकाश्रयचित्रशोभा
लक्ष्मीः शरत्कालगुणोपनीता ।
सूर्याग्रहस्तप्रतिबोधितेषु
पद्माकरेष्वभ्यधिकं विभाति ॥३०॥

शरत्काल के उत्कर्ष से प्राप्त, यह शरत्कालीन नानावर्ण की कान्ति, सूर्य की किरणों से विकसित, इन कमल समूहों में अत्यधिक शोभा का विस्तार कर रही है ॥३०॥

सप्तच्छदानां कुसुमोपगन्धी
षट्पादवृन्दैरनुगीयमानः ।
मत्तद्विपानां पवनोऽनुसारी
दर्पं वनेष्वभ्यधिकं करोति ॥३१॥

यह शरत्काल शतावरी के फूलों को सुवासित करता, भ्रमरों में गुञ्जार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता, पवन के पीछे पीछे चलता

हुआ और मदमत्त हाथियों के मद को बढाता हुआ, अत्यधिक शोभायुक्त हो रहा है ॥३१॥

अभ्यागतैश्चारुविशालपक्षैः
सरःप्रियैः पद्मरजोवकीर्णैः ।
महानदीनां पुलिनोपयातैः
क्रीडन्ति हंसाः सह चक्रवाकैः ॥३२॥

मनोहर विशाल पंखों वाले हंस, जो मानसरोवर से आए हैं और कामप्रिय हैं तथा कमल पुष्प के पराग से सने हुए हैं, बड़ी बड़ी नदियों के तटों पर चकवा चकई के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं ॥३२॥

मदप्रगल्भेषु च वारणेषु
गवां समूहेषु च दर्पितेषु ।
प्रसन्नतोयासु च निम्नगासु
विभाति लक्ष्मीर्बहुधा विभक्ता ॥३३॥

देखो, यह शरत्कालीन शोभा, मतवाले हाथियों में, उन्मत्त सांडों मे और निर्मल जल वाली नदियों में अनेक प्रकार से बँट कर, सुशोभित हो रही है ॥३३॥

नभः समीक्ष्याम्बुधरैर्विमुक्तं
विमुक्तबर्हाभरणा वनेषु ।
प्रियास्वसक्ता विनिवृत्तशोभा
गतोत्सवा ध्यानपरा मयूराः ॥३४॥

ये मोर आकाश में मेघों को न देख कर अपने भूषण रूप पंखों को फैला कर, अपनी प्यारी मोरनी से अनुरागशून्य, शोभा-

रहित और उत्सवहीन होकर, कुछ चिन्ता करते हुए से देख पड़ते हैं ॥३४॥

मनोज्ञगन्धैः प्रियकैरनल्पैः
पुष्पातिभारावनताग्रशाखैः ।
सुवर्णगौरैर्नयनाभिरामै-
रुद्द्योतितानीव वनान्तराणि ॥३५॥

ये बड़े बड़े वृक्ष जो मनोहर गन्ध को फैला रहे हैं और जिनकी डालियाँ फूलों के बोझ से झुक गई हैं और जो सुनहले रंग के पुष्पों से देखने वालों के नेत्रों को लुभा रहे हैं, मानों इन वनों को अत्यन्त शोभायुक्त कर रहे हैं ॥३५॥

प्रियान्वितानां नलिनीप्रियाणां
वने रतानां कुसुमोद्धतानाम् ।
मदोत्कटानां मदलालसानां
गजोत्तमानां गतयोऽद्य मन्दाः ॥३६॥

नलिनी (कुई) प्रिय, अपनी प्यारी हथिनियों के साथ रहने वाले, वन के फूलों के सूँघने वाले, मद से भरे और कामभोग में लवलीन ये उत्तम उत्तम हाथी, कैसे धीरे धीरे चले जा रहे हैं ॥३६॥

व्यभ्रं नभः शस्त्रविधौतवर्णं
कृशप्रवाहानि नदीजलानि ।
कह्लारशीताः पवनाः प्रवान्ति
तमोविमुक्ताश्च दिशः प्रकाशाः ॥३७॥

आकाश मण्डल तलवार की तरह चम चमा रहा है। नदियों के जल का प्रवाह अत्यन्त मन्द पड़ गया अथवा नदियों का जल घट गया है। कमल के फूल की गन्ध से सुवासित हवा बह रही है और समस्त दिशाएँ अंधकार से छूट प्रकाशित हो रही हैं ॥३७॥

सूर्यातपक्रामणनष्टपङ्का
भूमिः समुत्पादितसान्द्ररेणुः ।
अन्योन्यवैरामर्षायुताना-
मुद्योगकालोऽद्य नराधिपानाम् ॥३८॥

सूर्य की गरमी से कीचड़ सूख कर नष्ट हो गई, धूल उड़ने लगी और आपस में वैर रखने वाले राजाओं की चढ़ाई का समय आ पहुँचा है ॥३८॥

शरद्गुणाप्यायितरूपशोभाः
प्रहर्षिता पांसुसमुक्षिताङ्गाः ।
मदोत्कटाः सम्प्रति युद्धलुब्धा
वृषा गवां मध्यगता नदन्ति ॥३९॥

शरत्काल के प्रभाव से रूप और शोभा में वृद्धि को प्राप्त हर्षित धूलधूसरित, मदमत्त और लड़ने के लिए उत्सुक ये बैल, गौओं के बीच कैसे ढकार रहे हैं ॥३९॥

समन्मथं तीव्रगतानुरागाः
कुलान्विता मन्दगतिं करिण्यः ।

मदान्वितं सम्परिवार्य यान्तं
वनेषु भर्तारमनुप्रयान्ति ॥४०॥

हथिनियाँ काम से विकल, अत्यन्त अनुरागवती, अपने झुंड के साथ धीरे धीरे चलती, अपने मतवाले पति हाथी के पीछे पीछे वन में जा रही हैं ॥४०॥

त्यक्त्वा वराण्यात्मविभूषणानि
वर्हाणि तीरोपगता नदीनाम् ।
निर्भर्त्स्यमाना इव सारसौघैः
प्रयान्ति दीना विमदा मयूराः ॥४१॥

नदियों के तट पर मयूर अपने पंख रूपी उत्तम आभरणों को फैंक, और सारसों से अनादृत हो, उदास और मदहीन हो कर चले जाते हैं ॥४१॥

वित्रास्य कारण्डवचक्रवाकान्
महारवैर्भिन्नकटा गजेन्द्राः ।
सरःसु बद्धाम्बुजभूषणेषु
विक्षोभ्य विक्षोभ्य जलं पिबन्ति ॥४२॥

ये मद के बहाने वाले बड़े बड़े गजराज चिंघाड़ से कारण्डव और चक्रवाक पक्षियों को भयभीत करते हुए, इन पुष्पित कमल वाले तड़ागों में घुस कर, हलोर हलोर कर जल पी रहे हैं ॥४२॥

व्यपेतपङ्कासु सुवालुकासु
प्रसन्नतोयासु सगोकुलासु ।

ससारसा रावविनादितासु
नदीषु हृष्टा निपतन्ति हंसाः ॥४३॥

कीचड़ से शून्य, और बालुका वाली और निर्मल जल से भरी, गौओं की हेड़ों से घिरी और सारसों से नादित, इन नदियों में हंस प्रसन्न हो, कूद कूद क्रीडा कर रहे हैं ॥४३॥

नदीघनप्रस्रवणोदकाना-
मतिप्रवृद्धानिलबर्हिणानाम् ।
प्लवङ्गमानां च गतोत्सवानां
द्रुतं रवाः सम्प्रति सम्प्रनष्टाः ॥४४॥

इस समय नदी, मेघ, झरना अति प्रचण्ड पवन, मयूर और हर्षित मेढ़कों की बोली सुन नहीं पड़ती ॥४४॥

अनेकवर्णाः सुविनष्टकाया
नवोदितेष्वम्बुधरेषु नष्टाः ।
क्षुधार्दिता घोरविषा बिलेभ्य-
श्चिरोषिता विप्रसरन्ति सर्पाः ॥४५॥

बरसात के कारण रंग बिरंगे और महाविषधारी सर्प भूख के कारण बड़े दुबले शरीर के हो, बहुत दिनों बाद, अपने अपने बिलों से निकल रहे हैं ॥४५॥

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका ।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम् ॥४६॥

शोभायमान चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से हर्षोत्फुल्ल, निर्मल नक्षत्रों से युक्त और अरुण रंगवाली सन्ध्या, आकाश को स्वयं छोड़ती जाती है ॥४६॥

रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्यवक्त्रा
तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा ।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति
नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी ॥४७॥

रात्रि मे उदय हुआ चन्द्रमा मानों रात्रि रूपी स्त्री का मुख है, तारागण मानों इसके मनोहर नेत्र हैं और चांदनी मानों इसके वस्त्र के समान है। अत. ऐसी रात रूपी कामिनी वस्त्र धारण किए हुए सुलक्षणा नारी की तरह विराजमान है ॥४७॥

विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा
प्रहर्षिता सारसचारुपङ्क्तिः ।
नभः समाक्रामति शीघ्रवेगा
वातावधूता ग्रथितेव माला ॥४८॥

ये सारसों की सुन्दर पंक्ति पके हुए धानों की बालों को खाकर प्रसन्नमन हो, आकाश में तेजी से उड़ी चली जा रही है, मानों पवन से उड़ाई हुई फूलों की माला हो ॥४८॥

सुप्तैकहंसं कुमुदैरुपेतं
महाह्रदस्थं सलिलं विभाति ।
घनैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रं
तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम् ॥४९॥

सोते हुए हंसों और कुई के फूले हुए फूलों से इस बड़े तालाब के जल की ऐसी शोभा हो रही है, जैसी कि रात मे मेघरहित,

और नक्षत्रों से युक्त आकाश की, उदय हुए पूर्णमासी के चन्द्रमा से होती है ॥४६॥

प्रकीर्णहंसाकुलमेखलानां

प्रबुद्धपद्मोत्पलमालिनीनाम् ।

वाप्युत्तमानामधिकाद्य लक्ष्मी-

र्वराङ्गनानामिव भूषितानाम् ॥५०॥

क्षुद्रघण्टिका रूपी हंसों से और माला रूप इन खिले हुए कमलों से उत्तम बावलियों की ऐसी शोभा हो रही है, जैसी शोभा किसी शृङ्गार की हुई स्त्री की होती है ॥५०॥

वेणुस्वनव्यञ्जिततूर्यमिश्रः

प्रत्यूषकालानिलसम्प्रवृद्धः ।

सम्मूर्छितो गर्गरगोवृषाणा-

मन्योन्यमापूरयतीव शब्दः ॥५१॥

प्रातःकाल की हवा बाँसों के छेदों में घुस बाँसुरी के शब्द के साथ नगाड़े की तरह शब्द करती है। वह बड़े बड़े बैलों के शब्दों से मिल कर, गुफाओं में प्रतिध्वनित होता है। उस समय ऐसा जान पड़ता है, मानों ये शब्द परस्पर मिल कर, एक दूसरे के शब्द को बढ़ा रहे हैं ॥५१॥

नवैर्नदीनां कुसुमप्रभासै-

र्व्याधूयमानैर्मृदुमारुतेन ।

धौतामलक्षौमपटप्रकाशैः

कूलानि काशैरुपशोभितानि ॥५२॥

ये नदियों के तट, जिन पर काँस फूल रहे हैं और जो हवा के झोंकों से धीरे धीरे हिल रहे हैं, ऐसे जान पड़ते हैं, मानों धुले हुए साफ़ सफेद रेशमी वस्त्र पहिने हुए हों ॥५२॥

वनप्रचण्डा१ मधुपानशौण्डाः
प्रियान्विताः षट्चरणाः प्रहृष्टाः ।
वनेषु मत्ताः पवनानुयात्रां
कुर्वन्ति पद्मासनरेणुगौराः ॥५३॥

वन में निरङ्कुश हो घूमने वाले, पुष्पों का रस पीने में धूर्त अपनी अपनी प्यारियों को लिए हुए, हर्षित, और कमल एव असन के फलों की धूल से पीले, ये भौंरे पवन के साथ साथ उड़ते फिरते हैं ॥५३॥

जलं प्रसन्नं कुमुदं प्रभास
क्रौञ्चस्वनः शालिवनं विपक्वम् ।
मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्रः
शंसन्ति वर्षव्यपनीतकालम् ॥५४॥

यह निर्मल जल जिसमे कमल के फूल खिल रहे हैं और क्रौंच पक्षी बोल रहे हैं, और पके हुए साठी के चावल, मन्द पवन और स्वच्छ चन्द्रमा—ये, सब के सब, वर्षाकाल के अन्त के द्योतक हैं ॥५४॥

मीनोपसन्दर्शितमेखलानां
नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः ।

१ वने प्रचण्डाः—निरङ्कुशगमना । (गो०)

कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां
प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम्[२] ॥५५॥

जिस प्रकार कामी पुरुषों द्वारा भोगी गई रमणी प्रातःकाल के समय अलसाती हुई धीरे धीरे चलती हैं उसी प्रकार मीन रूपी करधनी पहिने हुए नदी रूपी वधूटियाँ धीमी चाल से चल रही हैं अर्थात् उनका प्रवाह-वेग मन्द पड़ गया है ॥५५॥

सचक्रवाकानि सशैवलानि
काशैर्दुकूलैरिव संवृतानि ।
सपत्रलेखानि सरोचनानि
वधूमुखानीव नदीमुखानि ॥५६॥

चक्रवाक पक्षियों से सिवार (एक प्रकार की जल में उगने वाली घास) से सँवारी हुई और काँस रूपी वस्त्र को धारण किए हुए नदियों के तट ऐसे जान पड़ते हैं, मानों पत्र-रेखाओं और रोचना से विभूषित घूँघट काढ़े हुए स्त्रियों के मुख हों ॥५६॥

प्रफुल्लबाणासनचित्रितेषु
प्रहृष्टषट्पादनिकूजितेषु ।
गृहीतचापोद्यतचण्डदण्डः
प्रचण्डचापोऽद्य वनेषु कामः ॥५७॥

फली हुई कनसरैया और असन के पेड़ों से चित्रित और प्रोत्फुल्लित भौरों से गुञ्जारित इन वनों में मानों कामदेव

२ कामिनीनाम्—वारस्त्रीणां । (गो०)

हाथ में धनुष लिए हुए विरही जनों को दण्ड देने के लिए, प्रचण्ड प्रताप से घूम रहा हो ॥५७॥

लोकं सुवृष्ट्या परितोषयित्वा
नदीस्तटाकानि च पूरयित्वा ।
निष्पन्नसस्यां वसुधां च कृत्वा
त्यक्त्वा नभस्तोयधराः प्रनष्टाः ॥५८॥

मेघ समूह जल की सुवृष्टि से लोगों को सन्तुष्ट करता, नदियों और तालाबों को जल से पूर्ण कर और पृथिवी को अन्न सम्पत्ति प्रदान कर और आकाश को परित्याग कर, नष्ट हो गया है ॥५८॥

प्रसन्नसलिलाः सौम्य कुररीभिर्विनादिताः ।
चक्रवाकगणाकीर्णा विभान्ति सलिलाशयाः ॥५९॥

हे सौम्य! निर्मल जल वाले जलाशय जिनके तट पर कुरर पक्षी बोल रहे हैं और चक्रवाकों से युक्त हैं, कैसे सुन्दर जान पड़ते हैं ॥५६॥

असनाः सप्तपर्णाश्च कोविदाराश्च पुष्पिताः ।
दृश्यन्ते बन्धुजीवाश्च श्यामाश्च गिरिसानुषु ॥६०॥

इस समय पर्वत के शिखरों पर असन, सतावरी, कोविदार, दुपहरिया व श्याम आदि वृक्ष एवं लताएँ कैसी फूल रही हैं ॥६०॥

हंससारसचक्राह्वैः कुररैश्च समन्ततः ।
पुलिनान्यवकीर्णानि नदीनां पश्य लक्ष्मण ॥६१॥

हे लक्ष्मण ! देखो इस समय हंस, सारस चक्रवाक और कुररं आदि पक्षी नदियों के कछार में चारों ओर बैठे हुए देख पड़ते हैं ॥६१॥

अन्योन्यं बद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज ।
उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः ॥६२॥

हे सौम्य ! आपस में वैरी और विजयाभिलाषी राजाओं की युद्धयात्राके उद्योग का यही समय है ॥६२॥

इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज ।
न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योग वा तथाविधम् ॥६३॥

हे राजकुमार ! यह राजाओं की प्रथम यात्रा के दिन आ गए परन्तु न तो मैं सुग्रीव को देखता हूँ और न मैं सीता जी की खोजने के लिए कोई तैयारी ही देखता हूँ ॥६३॥

चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः ।
मम शोकाभिभूतस्य सौम्य सीतामपश्यतः ॥६४॥

हे लक्ष्मण ! देखो बरसात के चार मास सौ वर्ष के समान बीते हैं। क्योंकि मैं पहिले ही शोकाकुल था, तिस पर सीता का भी वियोग हो गया ॥६४॥

चक्रवाकीव भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम् ।
विषमं दण्डकारण्यमुद्यानमिव याङ्गना ॥६५॥

सीता मेरे पीछे पीछे इस घोर दण्डकवन में वैसे ही आई जैसे चकवी अपने पति चकवा के पीछे हो लेती है ॥६५॥

प्रियाविहीने दुःखार्ते हृतराज्ये विवासिते ।
कृपां न कुरुते राजा सुग्रीवो मयि लक्ष्मण ॥६६॥
अनाथो हृतराज्योऽयं रावणेन च धर्षितः ।
दीनो दूरगृहः कामी मां चैव शरणं गतः ॥६७॥

हे लक्ष्मण ! देखो प्रियाहीन और अत्यन्त दुःखी, राज्य से च्युत और घर से निकाले गए मुझ पर सुग्रीव को दया नहीं आती कि, मैं अनाथ हूँ, मेरा राज्य हर लिया गया और रावण से पीड़ित हूँ, दुःखी हूँ, दूर का रहने वाला हूँ, कामासक्त हूँ और उसके शरण में आया हूँ ॥६६॥६७॥

इत्येतैः कारणैः सौम्य सुग्रीवस्य दुरात्मनः ।
अहं वानरराजस्य परिभूतः परन्तप ॥६८॥

हे सौम्य ! हे परन्तप ! इन्हीं सब कारणों से दुरात्मा सुग्रीव मेरी उपेक्षा कर रहा है ॥६८॥

स कालं परिसंख्याय सीतायाः परिमार्गणे ।
कृतार्थः समयं कृत्वा दुर्मतिर्नावबुध्यते ॥६९॥

देखो, वह दुर्मति सुग्रीव, सीता के ढूँढने के लिए समय का नियम कर के (अर्थात् समय निर्दिष्ट कर के) भी, इस समय स्वयं सफलमनोरथ होने के कारण, नहीं चेतता ॥६९॥

स किष्किन्धां प्रविश्य त्वं ब्रूहि वानरपुङ्गवम् ।
मूर्खं ग्राम्यसुखे सक्तं सुग्रीवं वचनान्मम ॥७०॥

तुम किष्किन्धा में जा कर उस वानरश्रेष्ठ से, जो मूर्खता से घरेलू सुखों में फँस रहा है ; मेरी ओर से कहना ॥७०॥

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम् ।
आशां सश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः ॥७१॥

कि जो बल-पौरुषयुक्त एवं पूर्वोपकारी अर्थियों को आशा दे कर फिर उसको पूरा नहीं करता, वह इस लोक में अधम पुरुष कहा जाता है ॥७१।

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम् ।
सत्येन परिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥७२॥

परन्तु जो अपनी भली अथवा बुरी प्रतिज्ञा को पूरी करता है, वह वीर और नरों में उत्तम समझा जाता है ॥७२॥

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥७३॥

मित्र द्वारा अपना काम निकाल, जो पुरुष मित्र का काम नहीं करते, उन कृतघ्नों के मरने पर उनका मांस वे जीव जन्तु भी नहीं खाते, जो कच्चा मांस खाया करते हैं ॥७३॥

नूनं काञ्चनपृष्ठस्य विकृष्टस्यमया रणे ।
द्रष्टुमिच्छति चापस्य रूपं विद्युद्गणोपमम् ॥७४॥

मुझे मालूम पड़ता है कि, तू अब मेरे बिजली की तरह चमचमाते, सुवर्ण की पीठ वाले धनुष को जिस पर मैं रोदा चढ़ा कर खींचूँगा, रण मे देखना चाहता है ॥७४॥

घोरं ज्यातलनिर्घोषं क्रुद्धस्य मम संयुगे ।
निर्घोषमिव वज्रस्य पुनः संश्रोतुमिच्छति ॥७५॥

और क्रोध में भर खींची गई, धनुष की डोरी (रोदा) की टंकार को, जो वज्र के शब्द के तुल्य है, रणक्षेत्र में तू सुनना चाहता है ॥७५॥

काममेवंगतेऽप्यस्य परिज्ञाते पराक्रमे ।
त्वत्सहायस्य मे वीर न चिन्ता स्यान्नृपात्मज ॥७६॥

हे वीर राजकुमार ! यद्यपि सुग्रीव इस समय कामासक्त हो, अचेत हो रहा है, तथापि यह मेरे पराक्रम को जानता है और यह भी जानता है कि, तुम मेरे सहायक हो । किन्तु आश्चर्य है कि, यह सब जान कर भी वह निश्चिन्त है ॥७६॥

यदर्थमयमारम्भः कृतः परपुरञ्जय ।
समयं नाभिजानाति कृतार्थः प्लवगेश्वरः ॥७७॥

हे शत्रु के नगर को जीतने वाले ! देखो, जिस काम के लिए मैंने सुग्रीव से मैत्री की और उसके शत्रु वालि का वध किया, उसको सुग्रीव, अपना काम निकल जाने पर, भूला हुआ है ॥७७॥

वर्षासमयकालं तु प्रतिज्ञाय हरीश्वरः ।
व्यतीतांश्चतुरो मासान् विहरन्नावबुध्यते ॥७८॥

देखो वर्षा बीतने पर सीता जी के ढूँढने का यत्न करने की उसने प्रतिज्ञा की थी, परन्तु वर्षा के चारों मास बीत गए तो भी वह स्त्रियों के साथ विहार में लीन हो, अब भी नहीं चेतता ॥७८॥

सामात्यपरिषत्क्रीडन् पानमेवोपसेवते ।
शोकदीनेषु नास्मासु सुग्रीवः कुरुते दयाम् ॥७९॥

सुग्रीव अपने मंत्रियों और इष्ट मित्रों के साथ मधुपान में मत्त हो और क्रीड़ा करता हुआ, मुझ शोकाकुल और दीन पर दया नहीं करता ॥७९॥

उच्यतां गच्छ सुग्रीवस्त्वया वत्स महाबल ।
मम रोषस्य यद्रूपं ब्रूयाश्चैनमिदं वचः ॥८०॥

हे वत्स ! हे महाबली ! तुम सुग्रीव के पास जाओ और उससे ऐसे वचन कहो, जिससे वह मेरे क्रोध का परिणाम जान जाय ॥८०॥

न च सङ्कुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः ॥८१॥
एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया ।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामी सबान्धवम् ॥८२॥

उससे कहो कि हे सुग्रीव ! जिस मार्ग से मर कर वालि गया है, वह रास्ता सकरा या बन्द नहीं हो गया है। उससे यह भी कह देना कि वालि को तो मैंने अकेला ही मारा था, किंतु प्रतिज्ञाच्युत होने के कारण सुग्रीव को मैं सकुटुम्ब यमालय भेज दूँगा ॥८१॥८२॥

तदेवं विहिते कार्ये यद्धितं पुरुषर्षभ ।
तत्तद्ब्रूहि नरश्रेष्ठ त्वर कालव्यतिक्रमः ॥८३॥

हे नरश्रेष्ठ ! इसके अतिरिक्त तुम उससे वे बातें कहना जिससे काम बने और जल्दी सीता का पता मिले। काम में देर न लगनी चाहिए ॥८३॥

कुरुष्व सत्यं मयि वानरेश्वर
प्रतिश्रुतं धर्ममवेक्ष्य शाश्वतम् ।

मा वालिनं प्रेत्य गतो यमक्षयं
त्वमद्य पश्येर्मम चोदितैः शरैः ॥८४॥

सुग्रीव से यह भी कहना कि हे वानरराज! प्रतिज्ञा का पूर्ण करना यह अक्षय्य धर्म का कृत्य है। अत: तुमने जो मुझसे प्रतिज्ञा की है, उसे सत्य कर दिखाओ। देखना, कहीं मेरे छोड़े हुए बाणों से मारे जा कर, यमपुरी में वालि को तुम्हें न देखना पड़े ॥८४॥

स पूर्वजं तीव्रविवृद्धकोपं
लालप्यमानं प्रसमीक्ष्य दीनम्।
चकार तीव्रां मतिमुग्रतेजा
हरीश्वरे मानववंशनाथः ॥८५॥

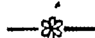
इति त्रिंशः सर्गः ॥

मानववंश के बढ़ाने वाले, उग्रतेज सम्पन्न लक्ष्मण, यह देख कर कि, श्रीरामचन्द्र जी का क्रोध बढ़ता जाता है और वे उदास हो रहे हैं, सुग्रीव पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥८५॥

किष्किन्धाकाण्ड का तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

एकत्रिंशः सर्गः



स कामिनं दीनमदीनसत्त्व[1]
शोकाभिपन्नं[2] समुदीर्णकोपम्[3] ।
नरेन्द्रसूनुर्नरदेवपुत्रं
रामानुजः पूर्वजमित्युवाच ॥१॥

श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई राजकुमार लक्ष्मण जी काम से उत्पन्न हुए शोक से युक्त और अधीन होने पर भी दीन श्रीरामचन्द्र जी का क्रोध बढ़ते देख, अपने ज्येष्ठ भ्राता से इस प्रकार बोले ॥१॥

न वानरः स्थास्यति साधुवृत्ते
न मंस्यते कर्मफलानुषङ्गान् ।
न भोक्ष्यते वानरराज्यलक्ष्मीं
तथा हि नाभिक्रमतेऽस्य बुद्धिः ॥२॥

सुग्रीव आखिर है तो वानर ही। भला वह क्या जाने कि, सत्पुरुषों को अपने मित्रों के साथ कैसा व्यवहार करना होता है। इसका इन बातों पर भी ध्यान नहीं है कि, उसने अग्नि को साक्षी कर मैत्री की है और मैत्री के कारण ही उसका शत्रु वालि मारा गया, उसको उसकी स्त्री और राज्य की प्राप्ति हुई। इससे जान पड़ता है कि, सुग्रीव से भाग्य में बहुत दिनों तक राज्यलक्ष्मी का

---

१ दीनमदीनसत्त्वं—एतेन वस्तुत अदीनसत्त्वोऽपिदैन्य भावयतीतिगम्यते (गो०) २ शोकाभिपन्न—शोकं प्राप्तं। (गो०) ३ समुदीर्णकोपं—अभिवृद्धकोप। (गो०)

भोगना नहीं वदा। इसीसे तो वह हम लोगों के काम को भूले हुए बैठा है ॥२॥

मतिक्षयाद्ग्राम्यसुखेषु सक्त-
स्तव प्रसादाप्रतिकारबुद्धिः।
हतोऽग्रज पश्यतु वीर तस्य
न राज्यमेवं विगुणस्य देयम् ॥३॥

उसकी बुद्धि मारी जाने के कारण ही वह घरेलू सुखों में फँस हुआ है और आपने उसका जो उपकार किया है, उसके बदले में प्रत्युपकार करने की उसकी इच्छा नहीं है। अतः उसे अब मर कर अपने वीर बड़े भाई से भेंट करनी होगी। क्योंकि ऐसे गुण रहित अथवा बेसहूर को राज्य देना ठीक नहीं ॥३॥

न धारये कोपमुदीर्णवेगं
निहन्मि सुग्रीवमसत्यमद्य।
हरिप्रवीरैः सह वालिपुत्रो
नरेन्द्रपत्न्या[1] विचयं[2] करोतु ॥४॥

मुझसे यह बढ़ता हुआ क्रोध अब थामे नहीं थमता। मैं आज उस असत्यवादी सुग्रीव को मारे बिना न रहूँगा। वालि का पुत्र अंगद, वीर वानरों को साथ ले सीता जी का पता लगा देगा ॥४॥

तमात्तबाणासनमुत्पतन्तं
निवेदितार्थं रणचण्डकोपम्।

१नरेन्द्रपत्न्या—सीतायाः। (गो०) २विचयं—अन्वेषणं। (गो०)

उवाच रामः परवीरहन्ता
स्ववेक्षितं[1] सानुनयं च वाक्यम् ॥५॥

लक्ष्मण जी धनुष लेकर खड़े हो गए। तब शत्रु को मारने वाले श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण को अत्यन्त कुपित और रण करने के लिए उद्यत देख, उनका कोप शान्त करने के लिए उनको भली भाँति समझा कर, नम्रता पूर्वक बोले ॥५॥

न हि वै त्वद्विधो लोके पापमेवं समाचरेत् ।
पापमार्येण[2] यो हन्ति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥६॥

हे लक्ष्मण ! तुम जैसे पुरुष को मित्र वध रूपी पाप कर्म का करना उचित नहीं। जो मनुष्य अच्छी तरह विवेचना कर अपने क्रोध को मारता है, वही वीर और वही पुरुषों में श्रेष्ठ कहलाता है ॥६॥

नेदमद्य त्वया ग्राह्यं साधुवृत्तेन लक्ष्मण ।
तां प्रीतिमनुवर्तस्व पूर्ववृत्तं च सङ्गतम् ॥७॥

हे लक्ष्मण ! तुम उत्तम चरित्रवान थे। अतः तुम्हें ऐसा काम करना उचित नहीं, सुग्रीव के साथ वैसी ही प्रीति रखना और पहले स्थापित की हुई मैत्री का स्मरण रखना ॥७॥

सामोपहितया वाचा रूक्षाणि[3] परिवर्जयन् ।
वक्तुमर्हसि सुग्रीवं व्यतीतं कालपर्यये ॥८॥

---

१ स्ववेक्षित—सुष्ठुनिरूपित। (गो०) २ आर्येण—सम्यग्विवेकेन। (गो०) ३ रूक्षाणि—परुषाणि। (गो०)

देखो सुग्रीव से कठोर वचन मत कहना, भली भाँति समझा कर उनसे इतना ही कहना कि, तुम्हारा नियत किया हुआ समय बीत गया है ॥८॥

सोऽग्रजेनानुशिष्टार्थो यथावत्पुरुषर्षभः ।
प्रविवेश पुरीं वीरो लक्ष्मणः परवीरहा ॥९॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार समझाने पर, पुरुषश्रेष्ठ, शत्रुघाती और वीरश्रेष्ठ लक्ष्मण ने अपने बड़े भाई की आज्ञा से किष्किन्धा पुरी में प्रवेश किया ॥९॥

ततः शुभमतिः प्राज्ञो भ्रातुः प्रियहिते रतः ।
लक्ष्मणः प्रतिसंरब्धो जगाम भवनं कपेः ॥१०॥

फिर शुभमति वाले, बुद्धिमान् और भाई के हित में तत्पर, लक्ष्मण जी ने दिखावटी क्रोध प्रकट कर और सुग्रीव के वध का विचार परित्याग कर, कपिराज सुग्रीव के भवन में प्रवेश किया ॥१०॥

शक्रबाणासनप्रख्यं धनुः कालान्तकोपमः ।
प्रगृह्य गिरिशृङ्गाभं मन्दरः सानुमानिव ॥११॥

इन्द्रधनुष की तरह अथवा कालान्तक यम की तरह अथवा पर्वत-शिखर की तरह लम्बा धनुष ले, लक्ष्मण जी, मन्दराचल पर्वत की तरह वहाँ जा खड़े हुए ॥११॥

यथोक्तकारी वचनमुत्तरं चैव सोत्तरम्[1] ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या मत्वा रामानुजस्तथा ॥१२॥

---

१ सोत्तरम्—स्वेनद्ध्यमाणोत्तरसहितं । (गो०)

भ्राता के वचनानुसार कार्य करने वाले अथवा भाई के वचन को पूरा करने वाले, बुद्धि में बृहस्पति के समान लक्ष्मण जी अपने मन में श्रीरामचन्द्र जी के वचन के अतिरिक्त अपनी ओर से जो कुछ और कहना था सो विचारते जाते थे ॥१२॥

कामक्रोधसमुत्थेन भ्रातुः कोपाग्निना वृतः ।
प्रभञ्जन इवाप्रीतः प्रययौ लक्ष्मणस्तदा ॥१३॥

श्रीरामचन्द्र जी का मनोरथ पूर्ण न होने के कारण, श्रीरामचन्द्र जी को, जो क्रोध उत्पन्न हुआ था, उससे स्वयं क्रुद्ध हो, लक्ष्मण जी अप्रसन्न होते हुए, हवा की तरह बड़ी तेजी से चले जाते थे ॥१३॥

सालतालाश्वकर्णांश्च तरसा पातयन् बहून् ।
पर्यस्यन् गिरिकूटानि द्रुमानन्यांश्च वेगितः ॥१४॥

वे रास्ते में बहुत से साखू, ताल, अश्वकर्ण तथा अन्य पेड़ों को, एवं पर्वतशृंगों को गिराते चले जाते थे ॥१४॥

शिलाश्च शकलीकुर्वन् पद्भ्यां गज इवाशुगः ।
दूरमेकपदं त्यक्त्वा ययौ कार्यवशाद्द्रुतम् ॥१५॥

वे पर्वत की शिलाओं को अपने पैरों से फोड़ते, दूर दूर पर कदम रखते, कार्यवश अति शीघ्रता से चले जाते थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि मानो कोई मतवाला हाथी तोड़ता फोड़ता चला जा रहा है ॥१५॥

तामपश्यद्बलाकीर्णां हरिराजमहापुरीम् ।
दुर्गामिक्ष्वाकुशार्दूलः किष्किन्धां गिरिसङ्कटे ॥१६॥

इक्ष्वाकुश्रेष्ठ लक्ष्मण जी ने बड़े बड़े पर्वतों के बीच बसी हुई सेना से परिपूर्ण एवं दुर्गम कपिराज सुग्रीव की किष्किन्धा पुरी देखी ॥१६॥

रोषात्प्रस्फुरमाणोष्ठः सुग्रीवं प्रति लक्ष्मण ।
ददर्श वानरान् भीमान् किष्किन्धाया बहिश्चरा

सुग्रीव के ऊपर कुपित होने से लक्ष्मण जी के अधर
थे। उन्होंने भीम पराक्रमी अनेक वानरों को किष्किन्धा
घूमते फिरते देखा ॥१७॥

तं दृष्ट्वा वानराः सर्वे लक्ष्मणं पुरुषर्षभ ।
शैलशृङ्गाणि शतशः प्रवृद्धांश्च महीरुहान् ॥१८
जगृहुः कुञ्जरप्रख्या वानराः पर्वतान्तरे ।
तान् गृहीतप्रहरणान् हरीन् दृष्ट्वा तु लक्ष्मणः ।

वे सब गजराज की तरह वानर, पुरुषपुङ्गव लक्ष्मण
क्रुद्ध देख, सैकड़ों पर्वतशृङ्गों और सैकड़ों बड़े बड़े वृक्ष
पर्वतों पर जा खड़े हो गए। उन वानरों को आयुध लिए
लक्ष्मण जी ॥१८॥१९॥

बभूव द्विगुणं क्रुद्धो बह्विन्धन इवानलः ।
तं ते भयपरीताङ्गाः क्रुद्धं दृष्ट्वा प्लवङ्गमाः ॥२०

का क्रोध इतना बढ़ गया मानों बहुत से ईंधन
प्रज्वलित हुई हो। तब उन सब वानरों ने लक्ष्मण
देख, ॥२०॥

कालमृत्युयुगान्ताभं शतशो विद्रुता दिशः ।
ततः सुग्रीवभवनं प्रविश्य हरिपुङ्गवाः ॥२१॥

प्रलयकालीन मृत्यु के समान लक्ष्मण को क्रुद्ध देख
बंदर चारों ओर भाग गए। उनमे जो श्रेष्ठ वानर थे

क्रोधमागमनं चैव लक्ष्मणस्य न्यवेदयन् ।
तारया सहितः कामी सक्तः कपिवृषो रहः ॥२२॥

लक्ष्मण का क्रुद्ध हो आना कह सुनाया। सुग्रीव उस समय तारा के साथ कामासक्त था ॥२२॥

न तेषां कपिवीराणां शुश्राव वचनं तदा ।
ततः सचिवसन्दिष्टा हरयो रोमहर्षणाः ॥२३॥

अतः उसने उन वानरवीरों की बात पर कुछ भी ध्यान न दिया। तब मंत्रियों की आज्ञा से बड़े बड़े वानर, जिनको देखने से रोंगटे खड़े हो जाते ॥२३॥

गिरिकुञ्जरमेघाभा नगर्या निर्ययुस्तदा ।
नखदंष्ट्रायुधा घोराः सर्वे विकृतदर्शनाः ॥२४॥

और जिनके शरीर का डीलडौल, पहाड़ अथवा हाथी अथवा मेघों के समान था, किष्किन्धा नगरी से निकले। उनके बड़े बड़े दाँत और नख उनके आयुध थे और उनको देखने से डर मालूम पड़ता था ॥२४॥

सर्वे शार्दूलदंष्ट्राश्च* सर्वे च विकृताननाः
दशनागबलाः केचित्केचिद्दशगुणोत्तराः ॥२५॥
केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यविक्रमाः ॥२६॥

वे सब के सब शार्दूल की तरह डाढ़ों वाले और विकटाकार थे। किसी के शरीर में दस हाथी का, किसी के शरीर में सौ हाथी का और किसी किसी के शरीर में हजार हाथियों जितना पराक्रम था ॥२५॥२६॥

---

* पाठान्तरे—"दर्पाश्च"।

कृत्स्नां हि कपिभिर्व्याप्तां द्रुमहस्तैर्महाबलैः ॥२७॥
अपश्यल्लक्ष्मणः क्रुद्धः किष्किन्धां तां दुरासदाम् ।
ततस्ते हरयः सर्वे प्राकारपरिघान्तरात् ॥२८॥
निष्क्रम्योदग्रसत्त्वास्तु तस्थुराविष्कृतं तदा ।
सुग्रीवस्य प्रमादं च पूर्वजस्यार्थमात्मवान् ॥२९॥

क्रुद्ध लक्ष्मण जी ने देखा कि, समस्त किष्किन्धा नगरी वानरों से भरी हुई है और कोई भी शत्रु उसे जीत नहीं सकता। तदनन्तर वे सब भारी वानर कोट और खाई से निकल खुलंखुल्ला लड़ने को खड़े हो गए। तदनन्तर सुग्रीव के प्रमाद और अपने बड़े भाई के कार्य को ॥२७॥२८॥२९॥

बुद्ध्वा कोपवशं वीरः पुनरेव जगाम सः ।
स दीर्घोष्णमहोच्छ्वासः कोपसंरक्तलोचनः ॥३०॥
बभूव नरशार्दूलः सधूम इव पावकः ।
बाणशल्यस्फुरज्जिह्वः सायकासनभोगवान् ॥३१॥
स्वतेजोविषसङ्घातः पञ्चास्य इव पन्नगः ।
तं दीप्तमिव कालाग्निं नागेन्द्रमिव कोपितम् ॥३२॥

विचार कर, वीर लक्ष्मण अत्यन्त क्रुद्ध हुए। लम्बी और गर्म श्वास लेते मारे क्रोध के लाल लाल आँखों वाले, धूम सहित आग की तरह जान पड़ने लगे। फिर लगे हुए बाण ही मानों लपलपाती हुई जिह्वा है, धनुष जिसका शरीर है; ऐसे पाँच सिर वाले विषधर सर्प की तरह वे जान पड़ने लगे। कालाग्नि की तरह प्रदीप्त और क्रुद्ध गजराज की तरह ॥३०॥३१॥३२॥

समासाद्याङ्गदस्त्रासाद्विषादमगमद्भृशम् ।
सोऽङ्गदं रोषताम्राक्षः सन्दिदेश महायशाः ॥३३॥

लक्ष्मण को देख अंगद बहुत डर गए और बड़े दुःखी हुए इस समय लाल लाल नेत्रों से अंगद को देख, महायशस्वी लक्ष्मण ने उनको आज्ञा दी ॥३३॥

सुग्रीवः कथ्यतां वत्स ममागमनमित्युत ।
एष रामानुजः प्राप्तस्त्वत्सकाशमरिन्दमः ॥३४॥
भ्रातुर्व्यसनसन्तप्तो द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः ।
तस्य वाक्ये यदि रुचिः क्रियतां साधु वानर ॥३५॥

हे वत्स ! जाकर सुग्रीव को मेरे आगमन की सूचना दो और कहना कि हे शत्रुनाशक ! श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण अपने भाई के दुःख से सन्तप्त हो, तुमसे मिलने के लिए दरवाजे पर खड़े हैं। यदि तुम उनके वचन सुनना पसन्द करो, तो शीघ्र आकर सुनो ॥३४॥३५॥

इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ वत्स वाक्यमिदं मम ॥३६॥
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा शोकाविष्टोऽङ्गदोऽब्रवीत् ।
पितुः समीपमागम्य सौमित्रिरयमागतः ॥३७॥

हे वत्स ! मेरा यह संदेसा सुग्रीव से कह, तुम शीघ्र वापिस आओ। लक्ष्मण के ये वचन सुन, शोकाकुल हो, अंगद दौड़ कर सुग्रीव के पास गए और बोले कि, देखिये लक्ष्मण आए हुए हैं ॥३६॥३७॥

अथाङ्गदस्तस्य वचो निशम्य
सम्भ्रान्तभावः परिदीनवक्त्रः ।

निपत्य तूर्णं नृपतेस्तरस्वी
ततः रुमायाश्चरणौ ववन्दे ॥३८॥

अंगद, लक्ष्मण के वचन सुन, अत्यन्त विकल और उदास हुए। उन्होंने लक्ष्मण के पास से जा पहले सुग्रीव को, फिर रुमा को प्रणाम किया ॥३८॥

संगृह्य पादौ पितुरुग्रतेजा
जग्राह मातुः पुनरेव पादौ।
पादौ रुमायाश्च निपीडयित्वा
निवेदयामास ततस्तमर्थम् ॥३९॥

उग्रतेजवाले अंगद ने सुग्रीव के चरणस्पर्श कर, फिर माता के (तारा) के चरण छुए। तदनन्तर रुमा के पैर पकड़ कर, लक्ष्मण जी का सन्देस कहा ॥३९॥

स निद्रामदसंवीतो वानरो न विबुद्धवान्।
बभूव मदमत्तश्च मदनेन च मोहितः ॥४०॥

मदनमोहित मदमत्त वानर सुग्रीव निद्रा के कारण ऐसे बेसुध थे कि, अंगद की बातें न तो उन्होंने सुनीं और न समझीं ॥४०॥

ततः किलकिलां चक्रुर्लक्ष्मणं प्रेक्ष्य वानराः।
प्रसादयन्तस्तं क्रुद्धं भयमोहितचेतसः ॥४१॥

तदनन्तर भयभीत वानर लक्ष्मण को क्रुद्ध देख उनको प्रसन्न करने के लिए किलकारने (का शब्द करने) लगे ...

यह श्रीरामचन्द्र के भाई लक्ष्मण राम के वचनों से प्रेरित हो, उन्हींकी आज्ञा से व्यवसाय रूपी रथ पर सवार हो, यहाँ आए हैं ॥४९॥

[टिप्पणी—व्यवसाय रूपी रथ से अभिप्राय है कर्त्तव्यकार्य का निश्चय करने के लिए—(शि०) "व्यवसायः करणीयार्थविषयकनिश्चयः ।]

अयं च दयितो राजंस्तारायास्तनयोऽङ्गदः ।
लक्ष्मणेन सकाशं ते प्रेषितस्त्वरयानघ ॥५०॥

हे राजन्! हे अनघ! यह तारा के प्यारे पुत्र अंगद उन्हीं लक्ष्मण जी के भेजे हुए अतिशीघ्र आपके पास आए हैं ॥५०॥

सोऽयं रोषपरीताक्षो द्वारि तिष्ठति वीर्यवान् ।
वानरान्वानरपते चक्षुषा निर्दहन्निव ॥५१॥

हे वानरपते! वे पराक्रमी लक्ष्मण जी ही क्रोध से लाल नेत्र किए, मानों अपने नेत्राग्नि से वानरों को जलाते हुए, द्वार पर खड़े हैं ॥५१॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः सह बन्धुभिः ।
गच्छ शीघ्रं महाराज रोषो ह्यस्य निवर्त्यताम् ॥५२॥

हे महाराज! आप इस समय पुत्र और भाईबंदो सहित शीघ्र चल कर, उनके चरणों मे सीस झुका, प्रणाम कीजिए और उनके क्रोध को शमन कीजिए ॥५२॥

यदाह रामो धर्मात्मा तत्कुरुष्व समाहितः[1] ।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये[2] भव सत्यप्रतिश्रवः ॥५३॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

---

१ समाहित.—स्वस्थचित्तोभवेत । (शि०) २ स्वसमये—स्वमर्यादायां । (गो०)

हे राजन्! आप अपनी मर्यादा में स्थित हो, अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कीजिये, जिससे श्रीरामचन्द्र जी स्वस्थचित्त हो, आपको धर्मशील जानें ॥५३॥

किष्किन्धाकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

द्वात्रिंशः सर्गः

—❀—

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवः सचिवैः सह।
लक्ष्मणं कुपितं श्रुत्वा मुमोचासनमात्मवान्[1] ॥१॥

अंगद के वाक्य सुन और लक्ष्मण को क्रुद्ध जान, धैर्यवान् सुग्रीव मंत्रियों सहित आसन छोड़, उठ बैठे ॥१॥

सचिवानब्रवीद्वाक्यं निश्चित्य गुरुलाघवम्।
मन्त्रज्ञान्मन्त्रकुशलो मन्त्रेषु परिनिष्ठितान् ॥२॥

सुग्रीव ने उन मंत्रियों से, जो विचार करने में बड़े निपुण थे श्रीरामचन्द्र की बड़ाई और अपनी छुटाई के विषय में कुछ भी न कह, यह कहा ॥२॥

न मे दुर्व्याहृतं किञ्चिन्नापि मे दुरनुष्ठितम्।
लक्ष्मणो राघवभ्राता क्रुद्धः किमिति चिन्तये ॥३॥

मुझे रह रह कर यह चिन्ता होती है कि, मैंने न तो उनको दुर्वचन कहे और न उनके साथ कोई बुरा वर्ताव ही किया, तब श्रीरामचन्द्र के भाई लक्ष्मण के क्रुद्ध होने का कारण क्या है? ॥३॥

---

१ आत्मवान्—धैर्यवान्। (शि०)

असुहृद्भिर्ममामित्रैर्नित्यमन्तरदर्शिभिः ।
मम दोषानसम्भूतान् श्रावितो राघवानुजः ॥४॥

मेरी समझ में तो यह आता है कि, मेरे वैरियों ने, जो सदा मेरे दोष ढूढ़ने मे लगे रहते हैं, लक्ष्मण से मेरी झूठी शिकायत की है ॥४॥

अत्र तावद्यथाबुद्धि सर्वैरेव यथाविधि ।
भावस्य निश्चयस्तावद्विज्ञेयो निपुणं शनैः ॥५॥

इस विषय मे तुम सब लोग यथाविधि और यथाबुद्धि विचार कर, इस बात का ठीक निश्चय करो ॥५॥

न खल्वस्ति मम त्रासो लक्ष्मणान्नापि राघवात् ।
मित्रं त्वस्थानकुपितं जनयत्येव सम्भ्रमम् ॥६॥

मुझे श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण का जरा भी डर नहीं है, मित्र का अकारण अथवा विना अपराध क्रुद्ध होना ही भयप्रद है ॥६॥

सर्वथा सुकरं मित्रं दुष्करं परिपालनम् ।
अनित्यत्वाच्च चित्तानां प्रीतिरल्पेऽपि भिद्यते ॥७॥

मैत्री करना तो सहज है, किन्तु मैत्री का निबाहना दुष्कर है, क्योंकि चित्त की अस्थिरता से जरा सी बात में प्रीति में अन्तर पड़ जाता है ॥७॥

अतो निमित्तं त्रस्तोऽहं रामेण तु महात्मना ।
यन्ममोपकृतं शक्यं प्रतिकर्तुं न तन्मया ॥८॥

अतएव इन्हीं सब बातों को सोच विचार कर मैं महात्मा श्रीरामचन्द्र से डरता हूँ। क्योंकि मैं जो कुछ उनका उपकार कर सकता था, वह भी मैं अभी तक नहीं कर सका ॥८॥

सुग्रीवेणैवमुक्तस्तु हनुमान्मारुतात्मजः* ।
उवाच स्वेन तर्केण मध्ये वानरमन्त्रिणाम् ॥९॥

सुग्रीव के ये वचन सुन कर, वानरश्रेष्ठ हनुमान जी मन्त्रियों के बीच ऊहापोह कर बोले ॥९॥

सर्वथा नैतदाश्चर्यं यस्त्वं हरिगणेश्वर ।
न विस्मरसि सुस्निग्धमुपकारकृतं शुभम् ॥१०॥

हे कपिराज! आप जो श्रीरामचन्द्र जी के उपकार को नहीं भूले—सो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि उपकारी महात्मा लोगों का स्वभाव ही ऐसा अच्छा होता है ॥१०॥

राघवेण तु वीरेण भयमुत्सृज्य दूरतः ।
त्वत्प्रियार्थं हतो वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ॥११॥

देखो, वीरवर श्रीरामचन्द्र जी ने जरा भी न डर कर, तुम्हारी प्रीति के लिए, दूर ही से उस इन्द्र के समान पराक्रमी वालि को मार डाला ॥११॥

सर्वथा प्रणयात्क्रुद्धो राघवो नात्र संशयः ।
भ्रातरं सम्प्रहिनवोल्लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥१२॥

अतः इसमें जरा सा भी सन्देह नहीं कि, श्रीरामचन्द्र जी का तुम्हारे ऊपर क्रुद्ध होना भी प्रेमयुक्त है। इसीसे उन्होंने कान्तिवर्द्धन लक्ष्मण को तुम्हारे पास भेजा है ॥१२॥

---

* पाठान्तरे—"हनुमान्हरिपुङ्गवः।"

त्वं प्रमत्तो न जानीषे कालं कालविदांवर ।

फुल्लसप्तच्छदश्यामा प्रवृत्ता तु शरच्छिवा ॥१३॥

हे समय को पहचानने वालों में श्रेष्ठ ! तुमने मत्त हो कर, समय को नहीं जाना । देखिए हरे हरे पत्ते वाले छितिउन के पेड, फलों से लदफँद गए हैं और कल्याणकारिणी शरद् ऋतु का आरम्भ हो चुका ॥१३॥

निर्मलग्रहनक्षत्रा द्यौः प्रनष्टबलाहका ।

प्रसन्नाश्च दिशः सर्वाः सरितश्च सरांसि च ॥१४॥

आकाश मे ग्रह और नक्षत्र सब निर्मल हो गए । मेघ जहां के तहां समा गए, अर्थात् आकाश में मेघ नहीं देख पड़ते । समस्त दिशाएँ, नदियाँ और सरोवर शोभायुक्त हो रहे हैं ॥१४॥

प्राप्तमुद्योगकालं तु नावैषि हरपुङ्गव ।

त्वं प्रमत्त इति व्यक्तं लक्ष्मणोऽयमिहागतः ॥१५॥

हे कपिप्रवर ! सीता जी के ढूँढने के लिए उद्योग करने का समय आ गया, किन्तु आपने इस पर कुछ भी ध्यान न दिया । अतः आपको असावधान जान, लक्ष्मण जी यहाँ आए हैं ॥१५॥

आर्तस्य हृतदारस्य परुषं पुरुषान्तरात् ।

वचनं मर्षणीयं ते राघवस्य महात्मनः ॥१६॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी इस समय स्त्री हर जाने के कारण पीड़ित हो रहे हैं, अत दूसरे पुरुष के मुख से तुमको कठोर व[चन] सुनने ही पड़ेंगे ॥१६॥

कृतापराधस्य हि ते नान्यत्पश्याम्यहं क्षमम् ।

अन्तरेणाञ्जलिं बद्ध्वा लक्ष्मणस्य प्रसादनात् ॥१[७॥]

अब तो हाथ जोड़ कर लक्ष्मण से क्षमाप्रार्थना करने ही से, मुझे तुम्हारी भलाई देख पड़ती है। क्योंकि समय चूक जाने का अपराध तुमसे बन पड़ा है ॥१७॥

नियुक्तैर्मन्त्रिभिर्वाच्यो ह्यवश्यं पार्थिवो हितम् ।
अत एव भयं त्यक्त्वा ब्रवीम्यवधृतं[1] वचः ॥१८॥

राजकार्य में लगे हुए मन्त्रियों का यह कर्त्तव्य है कि, वे राजा से हितकारी बात कहें। इसीसे निर्भय हो मैंने निश्चय हितकर वचन कहे हैं ॥१८॥

अभिक्रुद्धः समर्थो हि चापमुद्यम्य राघवः ।
सदेवासुरगन्धर्वं वशे स्थापयितुं जगत् ॥१९॥

देखिये श्रीरामचन्द्र जी में इतनी सामर्थ्य है कि, यदि कुपित हों, तो वे धनुष द्वारा देव, असुर गन्धर्व सहित इस जगत को अपने वश में कर सकते हैं ॥१९॥

न स क्षमः कोपयितुं यः प्रसाद्यः पुनर्भवेत् ।
पूर्वोपकारं स्मरता कृतज्ञेन विशेषतः ॥२०॥

ऐसे पुरुष को नाराज न करना चाहिए, जिसको पीछे प्रसन्न करना पड़े और विशेष कर पहले किए हुए अपने प्रति उपकारों को स्मरण कर, उपकार करने वाले कृतज्ञ पुरुष को ॥२०॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये भर्तुर्भार्येव तद्वशे ॥२१॥

हे राजन्! आप पुत्र तथा सुहृज्जनों को अपने साथ ले लक्ष्मण के पास जाइए और सीस नवा उनको प्रणाम कीजिए और जिस

---

१ अवधृतं—हितत्वेन निश्चितं। (गो०)

प्रकार भार्या अपने भर्त्ता के वश में रहती है, वैसे ही समय आने पर आप उनके कहने मे चलिए ॥२१॥

न रामरामानुजशासन त्वया
कपीन्द्र युक्त मनसाप्यपोहितुम् ।
मनो हि ते ज्ञास्यति मानुषं बलं
सराघवस्यास्य सुरेन्द्रवर्चसः ॥२२॥

इति द्वात्रिंश. सर्गः ॥

हे कपिराज ! श्रीरामचन्द्र और उनके भाई श्रीलक्ष्मण जी की आज्ञा के उल्लङ्घन की मन में कल्पना करना भी आपको उचित नहीं। क्योंकि इन्द्र तुल्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी कैसे बलवान हैं यह तो आप जानते ही हैं ॥२२॥

किष्किन्धाकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—❀—

अथ प्रतिसमादिष्टो[1] लक्ष्मणः परवीरहा ।
प्रविवेश गुहां रम्यां* किष्किन्धां रामशासनात् ॥१॥

किष्किन्धा में चलने के लिए अंगद द्वारा प्रार्थना किए जाने पर श्रीराम की आज्ञा से आए हुए शत्रुहन्ता लक्ष्मण जी, सुन्दर किष्किन्धापुरी में घुसे ॥१॥

---

१ प्रतिसमादिष्ट—प्रत्याहूता। अङ्गदेनेति शेष. । (गो०) * पाठान्तरे "घोरा"

द्वारस्था हरयस्तत्र महाकाया महाबलाः ।
बभूवुर्लक्ष्मणं दृष्ट्वा सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥२॥

द्वार पर खड़े हुए बड़े बड़े डीलडौल वाले महाबलवान वानर, लक्ष्मण जी को देखते ही, हाथ जोड़ कर खड़े हो गए ॥२॥

निःश्वसन्तं तु यं दृष्ट्वा क्रुद्धं दशरथात्मजम् ।
बभूवुर्हरयस्त्रस्ता न चैनं पर्यवारयन्[१] ॥३॥

क्रोध से निःश्वास छोड़ते हुए लक्ष्मण को देख, वानरगण ऐसे डरे कि, उनके पीछे पीछे न जा सके ॥३॥

स तां रत्नमयीं श्रीमान्दिव्यां पुष्पितकाननाम् ।
रम्यां रत्नसमाकीर्णां[२] ददर्श महतीं गुहाम् ॥४॥

लक्ष्मण जी ने, उस समय महती किष्किन्धा पुरी को जो रत्नखचित, शोभामयी, दिव्य पुष्पित वनों से शोभित और रमणीक थी तथा जिसमें दूकानों पर रत्नों के ढेर लगे हुए थे, देखी ॥४॥

[३]हर्म्यप्रासादसम्बाधां[४] नानापण्योपशोभिताम् ।
सर्वकालफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभिताम् ॥५॥

उसमें अनेक धनियों के घर और देवगृह बने हुए थे । बाजारों में भाँति भाँति के माल बिक्री के लिए भरे पड़े थे । वहाँ पर ऐसे वृक्ष थे जो सदा सब ऋतुओं में फलते थे और वहाँ पुष्पित वृक्ष भी शोभित थे ॥५॥

---

१ नचैनं पर्यवारयन्—भयेन लक्ष्मणमनुगन्तुं नाशक्नुवन्नित्यर्थः । (गो०) २ रत्नसमाकीर्णां—आपणस्थरत्नसमाकीर्णां । (गो०) ३ हर्म्याः—धनिनावासाः । (गो०) ४ प्रासादाः—देवगृहाः । (गो०)

देवगन्धर्वपुत्रैश्च वानरैः कामरूपिभिः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरैः शोभितां प्रियदर्शनैः ॥६॥

अपनी इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, दिव्य पुष्पों की मालाओं और वस्त्रों से शोभित, देखने में सुन्दर, देवताओं और गन्धर्वों के औरस से उत्पन्न वानरों से वह पुरी शोभायमान थी ॥६॥

चन्दनागरुपद्मानां गन्धैः सुरभिगन्धिनाम् ।
मैरेयाणां मधूनां च सम्मोदितमहापथाम् ॥७॥

चन्दन, अगर और कमल पुष्प पराग से सुगन्धित और मैरेय और मधु नाम की दो मदिराओं की गन्ध से सुवासित वहाँ के राज मार्ग थे ।७।

[विन्ध्यमेरुगिरिप्रख्यैः प्रासादैरुपशोभिताम्* ।]
ददर्श गिरिनद्यश्च विमलास्तत्र राघवः ॥८॥

वह नगरी विन्ध्याचल और मेरु पर्वत के समान बड़े ऊँचे ऊँचे भवनों से शोभित थी। लक्ष्मण जी ने अनेक निर्मल जल वाली पहाड़ी नदियाँ भी वहाँ देखीं ॥८॥

अङ्गदस्य गृहं रम्यं मैन्दस्य द्विविदस्य च ।
गवयस्य गवाक्षस्य गजस्य शरभस्य च ॥९॥
विद्युन्मालेश्च सम्पातेः सूर्याक्षस्य हनूमतः ।
वीरबाहोः सुबाहोश्च नलस्य च महात्मनः ॥१०॥
कुमुदस्य सुषेणस्य तारजाम्बवतोस्तथा ।
दधिवक्त्रस्य नीलस्य सुपाटलसुनेत्रयोः ॥११॥

---

*पाठान्तर—" प्रासादैर्नैकभूमिभिः ।"

एतेषां कपिमुख्यानां राजमार्गे महात्मनाम् ।
ददर्श गृहमुख्यानि महासाराणि[1] लक्ष्मणः ॥१२॥

उस नगरी में राजमार्ग के अगल बगल अंगद, मैन्द, द्विविद, गवय, गवाक्ष, गज, शरभ, विद्युन्माली, सम्पाति, सूर्य्याक्ष, हनुमान, वीरबाहु, सुबाहु, नल कुमुद, सुषेण, तार, जाम्बवान, दधिवक्र, नील, सुपाटल और सुनेत्र इन प्रधान प्रधान महाबलवान वानरों के भवन, जो बड़े सुन्दर और दृढ बने थे, लक्ष्मण जी ने देखे ॥९॥ ॥१०॥ ॥११॥ ॥१२॥

*पाण्डुराभ्रप्रकाशानि दिव्यमाल्ययुतानि च ।
प्रभूतधनधान्यानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च ॥१३॥

वे भवन सफेद मेघों की तरह चमकते थे, गन्ध, मालाओं से भूषित थे। धन, धान्य से भरे पूरे और सुन्दरी स्त्रियों से शोभित थे ॥१३॥

पाण्डुरेण[2] तु सालेन परिक्षिप्तं दुरासदम् ।
वानरेन्द्रगृहं रम्यं महेन्द्रसदनोपमम् ॥१४॥

वानरेन्द्र सुग्रीव जी का घर चूने की अस्तरकारी की चहारदीवारी के भीतर बना था। वह चहारदीवारी इतनी ऊँची थी कि, उसके भीतर सहसा कोई जा नहीं सकता था। कपिराज का भवन इन्द्र के भवन की तरह बड़ा सुन्दर बना हुआ था ॥१४॥

शुक्लैः प्रासादशिखरैः कैलासशिखरोपमैः ।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभितम् ॥१५॥

---

१ महासाराणि—अतिदृढानि। (गो०) २ पाण्डुरेणतुसालेन—सुधाधवलितप्राकारेण। (गो०)

उस भवन की सफेद रंग की अटारियाँ, हिमाच्छादित कैलास-शिखर जैसी जान पड़ती थीं। उसके भीतर ऐसे फल फूल के वृक्ष सुशोभित थे, जो सदा सर्वदा फला फूला करते थे ॥१५॥

महेन्द्रदत्तैः श्रीमद्भिर्नीलजीमूतसन्निभैः ।
दिव्यपुष्पफलैर्वृक्षैः शीतच्छायैर्मनोहरैः* ॥१६॥

ये सब वृक्ष स्वर्ग में उत्पन्न होने वाले इन्द्र के दिए थे और अत्यन्त कान्तियुक्त श्याम मेघ घटा की तरह दिव्य पुष्पों और फलों के देने वाले (भी) थे। इनकी शीतल छाया मनोहारिणी थी ॥१६॥

हरिभिः संवृतद्वारं वलिभिः शस्त्रपाणिभिः ।
दिव्यमाल्यावृतं शुभ्रं तप्तकाञ्चनतोरणम् ॥१७॥

राजभवन के द्वार पर बलवान् और हाथों में अस्त्र शस्त्र लिये हुए वानर खड़े पहरा दे रहे थे। दिव्य मालाओं से भूषित, श्वेत रंग के और सोने की वन्दनवारों से शोभित ॥७१॥

सुग्रीवस्य गृहं रम्यं प्रविवेश महाबलः ।
अवार्यमाणः सौमित्रिर्महाभ्रमिव भास्करः ॥१८॥

कपिराज सुग्रीव के मनोहर भवन में महाबली लक्ष्मण जी ने प्रवेश किया। उस समय लक्ष्मण जी राजभवन में बेरोकटोक ऐसे चले जाते थे, जैसे महामेघमण्डल में सूर्य जाते हैं॥१८॥

स सप्त कक्ष्या धर्मात्मा नानाजनसमाकुलाः ।
प्रविश्य सुमहद्गुप्तं ददर्शान्तःपुरं महत् ॥१९॥

---

* पाठान्तरे-मनोरमैः ।

वानरों से भरी पूरी और अत्यन्त सुरक्षित सात ड्योढ़ियों को नाँघ, लक्ष्मण जी ने सुग्रीव का विशाल अन्तःपुर (रनवास) देखा ॥१९॥

हैमराजतपर्यङ्कैर्बहुभिश्च वरासनैः ।
महार्हास्तरणोपेतैस्तत्र तत्रोपशोभितम् ॥२०॥

अन्तःपुर के भीतर जहाँ तहाँ सोने चाँदी के पलंग, अनेकप्रकार के बैठने के लिए मञ्च (पीढ़े), जिन पर बढ़िया कीमती बिछौने बिछे थे, रखे हुए थे ॥२०॥

प्रविशन्नेव सततं शुश्राव मधुरस्वरम् ।
तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समगीतपदाक्षरम् ॥२१॥

रनवास में जाते ही लक्ष्मण जी ने मधुर स्वर में, ताल लै से युक्त और वीणा के ऊपर गाया जाने वाला गाना सुना ॥२१॥

बह्वीश्च विविधाकारा रूपयौवनगर्विताः ।
स्त्रियः सुग्रीवभवने ददर्श स महाबलः ॥२२॥

लक्ष्मण जी ने सुग्रीव के रनवास में रूप और यौवन के मद से मतवाली बहुत सी और विविध आकार प्रकार की स्त्रियाँ देखीं॥२२॥

दृष्ट्वाभिजनसम्पन्नाश्चित्रमाल्यकृतस्रजः ।
फलमाल्यकृतव्यग्रा भूषणोत्तमभूषिताः ॥२३॥

ये स्त्रियाँ उत्तम कुलवती थीं और उत्तम मालाएँ और आभूषणों से भूषित थीं तथा पुष्प मालाएँ गूंथने एवं फल-संग्रह करने मे लगी हुई थीं ॥२३॥

नातृप्तान्नापि चाव्यग्रान्नानुदात्तपरिच्छदान् ।
सुग्रीवानुचरांश्चापि लक्षयामास लक्ष्मणः ॥२४॥

लक्ष्मण जी ने सुग्रीव के नौकर चाकरों को भी देखा, जो सन्तुष्ट थे और अपने मालिक के कामों को बड़ी सावधानी से कर रहे थे तथा साफ सुथरी और बढ़िया पोशाकें पहिने हुए थे ॥२४॥

कूजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निनदं तथा ।
सन्निशम्य ततः श्रीमान् सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत् ॥२५॥

नूपुर और करधनी की झनकार सुन, श्रीमान् सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी लज्जित हुए ॥२५॥

रोषवेगप्रकुपितः श्रुत्वा चाभरणस्वनम् ।
चकार ज्यास्वनं वीरो दिशः शब्देन पूरयन् ॥२६॥

उन आभूषणों की झनकार सुन वीर लक्ष्मण जी क्रुद्ध हुए और अपने धनुष के रोदे को ऐसा टकोरा कि उसका शब्द दशों दिशाओं में छा गया (और आभूषणों की छमाछम का शब्द दब गया) ॥२६॥

चारित्रेण महाबाहुरपकृष्टः स लक्ष्मणः ।
तस्थावेकान्तमाश्रित्य रामशोकसमन्वितः ॥२७॥

श्रीरामचन्द्र जी के शोक से विकल एवं चरित्रवान् लक्ष्मण जी और आगे न जा सके और वहीं एकान्त स्थान देख (जहाँ स्त्रियों का आना जाना नहीं होता था) खड़े हो गए ॥२७॥

तेन चापस्वनेनाथ सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
विज्ञायाऽऽगमनं त्रस्तः सञ्चचाल वरासनात् ॥२८॥

वानरराज सुग्रीव उस धनुष की टंकार सुन जान गए कि, लक्ष्मण जी आ पहुँचे। इससे वे ऐसे डरे कि, अपना बहुमूल्य आसन छोड़ उठ खड़े हुए ॥२८॥

अङ्गदेन यथा मह्यं पुरस्तात्प्रतिवेदितम् ।
सुव्यक्तमेष सम्प्राप्तः सौमित्रिर्भ्रातृवत्सलः ॥२९॥

और बोले कि, अंगद ने मुझसे जैसा कहा था, तदनुसार भ्रातृ-वत्सल लक्ष्मण जी आ पहुँचे ॥२९॥

अङ्गदेन समाख्यातं ज्यास्वनेन च वानरः ।
बुबुधे लक्ष्मणं प्राप्तं मुखं चास्य व्यशुष्यत ॥३०॥

सुग्रीव, अंगद के मुख से लक्ष्मण का आगमन पहले ही सुन चुके थे, इस बार उनके धनुष के चिल्ले की टंकार सुन पड़ी। इससे लक्ष्मण का आगमन प्रत्यक्ष जान, वानरराज का मुख डर के मारे सूख गया ॥३०॥

ततस्तारां हरिश्रेष्ठः सुग्रीवः प्रियदर्शनाम् ।
उवाच हितमव्यग्रस्त्रासमम्भ्रान्तमानसः ॥३१॥

पहिले तो वानरश्रेष्ठ सुग्रीव, डर के मारे घबड़ा गए, किन्तु फिर सम्हल कर, उन्होंने सुन्दरी तारा से अपनी भलाई के लिए सावधानी से ये वचन कहे ॥३१॥

किन्नु तत्कारणं सुभ्रु प्रकृत्या मृदुमानसः ।
सरोष इव सम्प्राप्तो येनायं राघवानुजः ॥३२॥

हे सुन्दर भौंहों वाली! लक्ष्मण जी के क्रुद्ध होने का क्या कारण है? लक्ष्मण जी तो स्वभाव ही से कोमलचित्त हैं, फिर ये कुपित हो क्यों आए हैं ॥३२॥

किं पश्यसि कुमारस्य रोषस्थानमनिन्दिते ।
न खल्वकारणे कोपमाहरेन्नरसत्तमः ॥३३॥

हे अनिन्दिते ! राजकुमार के कुपित होने का कारण तुम्हारी समझ मे क्या आता है ? नरश्रेष्ठ लक्ष्मण जी कभी अकारण क्रोध करने वाले नहीं हैं ॥३३॥

यदस्य कृतमस्माभिर्बुध्यसे किञ्चिदप्रियम् ।
तद्बुद्ध्या सम्प्रधार्याशु क्षिप्रमर्हसि भाषितुम् ॥३४॥

यदि तुम्हारी समझ में मेरा कोई अपराध आए, तो विचार कर शीघ्र उसके लिए कोई उपाय बतलाओ ॥३४॥

अथ या स्वयमेवैनं द्रष्टुमर्हसि भामिनि* ।
वचनैः सान्त्वयुक्तैश्च प्रसादयितुमर्हसि ॥३५॥

अथवा, हे भामिनि ! तुम स्वयं जा कर उनसे मिलो और समझा बुझा कर, उनको प्रसन्न करो ॥३५॥

त्वद्दर्शनविशुद्धात्मा न स कोपं करिष्यति ।
न हि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम् ॥३६॥

लक्ष्मण जी शुद्धान्त करण वाले हैं अतः वे तुझे देख कुपित न होंगे । क्योंकि महात्मा लोग (अर्थात् सभ्य लोग) स्त्रियों के साथ कठोर व्यवहार नहीं करते ॥३६॥

त्वया सान्त्वैरुपक्रान्तं प्रसन्नेन्द्रियमानसम् ।
ततः कमलपत्राक्षं द्रक्ष्याम्यहमरिन्दमम् ॥३७॥

जब तेरे समझाने बुझाने से उनका क्रोध शान्त हो जायगा और वे प्रसन्न हो जायेंगे, तब मैं उन शत्रुहन्ता और कमल-नयन लक्ष्मण जी से भेंट करूंगा ॥३७॥

---

* पाठान्तरे "—भाषितुम् ।"

सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी
प्रलम्बकाञ्चीगुणहेमसूत्रा ।
सुलक्षणा लक्ष्मणसन्निधानं
जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः[1] ॥३८॥

सुग्रीव के कथनानुसार सुलक्षणा तारा, लक्ष्मण जी के पास गयी, किन्तु मारे नशे के उस समय उसकी आँखें चढ़ी हुई थीं, करधनी और सुवर्ण हार की लरें अस्तव्यस्त हो लटक रही थीं। मारे नशे के उसके पैर लड़खड़ा रहे थे और स्तन के बोझ से वह झुकी जाती थी ॥३८॥

स तां समीक्ष्यैव हरीशपत्नीं
तस्थावुदासीनतया महात्मा ।
अवाङ्मुखोऽभून्मनुजेन्द्रपुत्रः
स्त्रीसन्निकर्षाद्विनिवृत्तकोपः ॥३९॥

उस समय वीरवर राजकुमार लक्ष्मण जी, कपिराज की पत्नी को देख, उदास हुए और नीचे मुख कर खड़े रहे। तारा को देख कर, उनका क्रोध भी दूर हो गया ॥३९॥

सा पानयोगाद्विनिवृत्तलज्जा
दृष्टिप्रसादाच्च नरेन्द्रसूनोः ।
उवाच तारा प्रणयप्रगल्भं
वाक्यं महार्थं परिसान्त्वपूर्वम् ॥४०॥

---

१ नमिताङ्गयष्टिः—स्तनभारखेदात्तदाः । (शि०)

मद्यपान के कारण तारा लज्जाहीन तो थी ही, फिर जब उसने लक्ष्मण जी की दृष्टि नर्म देखी, तब तो वह ढीठ हो कर, प्रेम पूर्वक अर्थगर्भित ऐसे वचन बोली, जिनसे लक्ष्मण जी स्वस्थ हो जायँ ॥४०॥

किं कोपमूलं मनुजेन्द्रपुत्र
कस्ते न सन्तिष्ठति वाङ्निदेशे ।
कः शुष्कवृक्षं वनमापतन्तं
दवाग्निमासीदति निर्विशङ्कः ॥४१॥

हे राजकुमार ! आप क्यों क्रुद्ध हो रहे हैं, किसने आपके आदेश की अवहेलना की है ? वह कौन जन है, जो निर्भय हो, शुष्क वन में आग लगा, अग्नि से स्वयं भस्म होना चाहता है ? ॥४१॥

स तस्या वचनं श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमशङ्कितम्* ।
भूयः प्रणयदृष्टार्थं[१] लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥४२॥

लक्ष्मण जी, तारा के ऐसे प्रेमसने, निर्भीक और सान्त्वनाप्रद वाक्य सुन कर, अतिशय स्नेह दिखलाने के प्रयोजन से (ये वचन) बोले ॥४२॥

किमयं कामवृत्तस्ते लुप्तधर्मार्थसंग्रहः ।
भर्ता भर्तृहितं युक्तं न चैनमवबुध्यसे ॥४३॥

यह क्या है, तुम्हारा पति धर्म और अर्थ का नाश करने के लिए कामासक्त हो रहा है। तुम तो उसकी हितैषिणी हो, सो तुम भी तो नहीं चेतती ॥४३॥

---

१ प्रणयदृष्टार्थम्—स्नेहसन्दर्शितप्रयोजनं । (गो०) * पाठान्तरे "अस-म्भ्रमम् ।"

न चिन्तयति राज्यार्थं नास्मान् शोकपरायणान् ।
सामात्यपरिषत्तारे पानमेवोपसेवते ॥४४॥

न तो तुम्हारे पति को राजकाज की कुछ चिन्ता है और न हम दुखियारों ही की उसको कुछ फिक्र है। (यहाँ तक कि) उसने राजकाज चलाने को एक मामूली परिषद् बना रखा है और स्वयं वह केवल मद्य पिया करता है ॥४४॥

स मासांश्चतुरः कृत्वा प्रमाणं प्लवगेश्वरः ।
व्यतीतांस्तान्मदव्यग्रो विहरन्नावबुध्यते ॥४५॥

देखो, कपिराज ने चार मास बाद सीता को ढूँढ़ने की प्रतिज्ञा की थी। सो वे चार मास भी बीत गए। किन्तु शराब पी कर विहार करने में मग्न हो, उसे इस बात की कुछ भी चिन्ता नहीं है ॥४५॥

न हि धर्मार्थसिद्ध्यर्थं पानमेवं प्रशस्यते ।
पानादर्थश्च धर्मश्च परिहीयते ॥४६॥

धर्म और अर्थ की सिद्धि के लिए शराब पीना अच्छा नहीं है। क्योंकि शराब पीने से धर्म, अर्थ और काम नष्ट हो जाते हैं ॥४६॥

धर्मलोपो महांस्तावत्कृते ह्यप्रतिकुर्वतः ।
अर्थलोपश्च मित्रस्य नाशेगुणवतो महान् ॥४७॥

उपकारी को उपकार द्वारा बदला न दिया जाय, तो धर्म का नाश होता है। गुणवान् मित्र के साथ यदि विरोध हो गया अथवा मैत्री न रही, तो इससे अर्थनाश होता है अर्थात् बड़ी हानि होती है ॥४७॥

मित्रं ह्यर्थगुणश्रेष्ठं सत्यधर्मपरायणम् ।
तद्द्वयं तु परित्यक्तं न तु धर्मे व्यवस्थितम् ॥४८॥

मित्र को चाहिए कि, वह अपने श्रेष्ठ गुण से मित्र का काम पूरा करे और मित्र के साथ सत्यधर्मयुक्त अर्थात् सच्चा व्यवहार करे। सुग्रीव ने इन दोनों ही को त्याग दिया। अतः वह धर्मात्मा या धर्मपथारूढ़ नहीं कहा जा सकता ॥४८॥

तदेवं प्रस्तुते कार्ये कार्यमस्माभिरुत्तरम्
यत्कार्यं कार्यतत्त्वज्ञे तदुदाहर्तुमर्हसि ॥४९॥

हे कार्यतत्वज्ञे तारे! इस समय इस तरह के उपस्थित कार्य में हमें आगे क्या करना चाहिए, सो तू बतला ॥४९॥

सा तस्य धर्मार्थसमाधियुक्तं
निशम्य वाक्यं मधुरस्वभावम् ।
तारा गतार्थे मनुजेन्द्रकार्ये
विश्वासयुक्तं तमुवाच भूयः ॥५०॥

इस प्रकार के धर्म और अर्थ युक्त प्रकृतमधुर लक्ष्मण जी के वचनों को सुन तारा, श्रीरामचन्द्र के उस काम के सम्बन्ध मे, जिसकी अवधि बीत चुकी थी, विश्वास दिलाती हुई, पुनः बोली ॥५०॥

न कोपकालः क्षितिपालपुत्र
न चातिकोपः स्वजने विधेयः ।
त्वदर्थकामस्य जनस्य तस्य
प्रमादमप्यर्हसि वीर सोढुम् ॥५१॥

हे राजकुमार ! न तो यह क्रुद्ध होने का समय है और न स्वजनों पर क्रुद्ध होना ही उचित है। परन्तु आपके काम में तत्पर जन से यदि कुछ भूल चूक बन पड़ी हो, तो उसे आप क्षमा करें ॥५१॥

कोपं कथं नाम गुणप्रकृष्टः
कुमार कुर्यादपकृष्टसत्त्वे ।
कस्त्वद्विधः कोपवशं हि गच्छे-
त्सत्त्वावरुद्धस्तपसः प्रसूतिः ॥५२॥

हे कुमार, तुम्हारे जैसा उत्कृष्ट गुणों वाला ऐसा जन कौन होगा, जो अपने से हीन बलवाले जन पर तुम्हारे जैसा कोप करे। और कौन ऐसा सतोगुणी और तपस्विप्रवर होगा, जो इस प्रकार कोप के वशीभूत हो जाय ॥५२॥

जानामि रोषं हरिवीरबन्धोः
जानामि कार्यस्य च कालसङ्गम् ।
जानामि कार्यं त्वयि यत्कृतं नः
तच्चापि जानामि यदत्र कार्यम् ॥५३॥

उस वानरबन्धु पर श्रीरामचन्द्र जी के कुपित होने का कारण मुझे मालूम है और मैं यह भी जानती हूँ कि, सीता के ढूँढ़ने का उद्योगकाल उपस्थित है। आपने हम लोगों का जो उपकार किया है और आप लोगों के प्रति हम लोगों का जो कर्त्तव्य है, वह भी मुझे मालूम है ॥५३॥

तच्चापि जानामि यथाऽविषह्यं
बलं नरश्रेष्ठ शरीरजस्य ।

[टिप्पणी—जो तारा कुछ ही मासोंपूर्व वाली के लिए रो रो कर ज़मीन आसमान एक कर रही थी; वही तारा वालिवध को सुग्रीव के प्रति राम का किया उपकार बतलाती है। स्त्री बुद्धि कैसी चंचल होती है यह इसका प्रमाण है।]

जानामि यस्मिंश्च जनेऽवबद्धं
कामेन सुग्रीवमसक्तमद्य ॥५४॥

हे नरश्रेष्ठ! शरीर में कामदेव का जैसा बल होता है, सो मुझे मालूम है। और काम के वेग से सुग्रीव जिस कामदेव के चक्कर में फँस कर, आपके कार्य को भूले हुए हैं, वह भी मैं जानती हूँ ॥५४॥

न कामतन्त्रे तव बुद्धिरस्ति
त्वं वै यथा मन्युवशं प्रपन्नः।
न देशकालौ हि न चार्थधर्मा-
वपेक्षते कामरतिर्मनुष्यः ॥५५॥

आपकी प्रवृत्ति रतिक्रीड़ा में न होने ही से आप क्रुद्ध हुए हैं जो मनुष्य काम के वश में हो जाता है, वह देश काल, अर्थ और धर्म में से किसी की भी परवाह नहीं करता ॥५५॥

तं कामवृत्तं मम सन्निकृष्टं
कामाभियोगाच्च निवृत्तलज्जम्।
क्षमस्व तावत्परवीरहन्त-
स्त्वद्भ्रातरं वानरवंशनाथम् ॥५६॥

सो हे शत्रुहन्ता! इस समय आप अपने भाई उस वानरराज को, जो कामासक्त हो, निर्लज्ज हो गया है और आपके डर से मेरे पास छिपा हुआ है, क्षमा कीजिए ॥५६॥

महर्षयो धर्मतपोभिकामाः
कामानुकामाः प्रतिबद्धमोहाः ।
अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु
कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥५७॥

क्योंकि जब बड़े बड़े महर्षि भी, जो वर्णाश्रमधर्मपालन में दृढ़ता से तत्पर हो, तपस्या किया करते हैं, कामासक्त हो, ऐसे अज्ञानी हो जाते हैं कि फिर उन्हें धर्म कर्म की कुछ भी परवाह नहीं रहती, तब सुग्रीव तो जाति का वानर होने से वैसे ही चपल स्वभाव का है और तिस पर वह राजा है। वह भला क्यों न इन्द्रियों के सुखोपभोग में आसक्त हो? ॥५७॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महार्थं
सा वानरी लक्ष्मणमप्रमेयम् ।
पुनः सखेलं मदविह्वलं च
भर्तुर्हितं वाक्यमिदं बभाषे ॥५८॥

वह मदघूर्णितनयना वानरी तारा, इस प्रकार अतुलित बुद्धि-सम्पन्न लक्ष्मण जी को समझा कर फिर भी लीलापूर्वक अपने पति का हित करने वाले यह वचन बोली ॥५८॥

उद्योगस्तु चिराज्ञप्तः सुग्रीवेण नरोत्तम ।
कामस्यापि विधेयेन तवार्थप्रतिसाधने ॥५९॥

हे नरोत्तम! यद्यपि सुग्रीव कामासक्त हैं, तथापि उसने आपके काम के लिए अपने मंत्रियों को बहुत दिन हुए तभी आज्ञा दे दी थी ॥५९॥

आगता हि महावीर्या हरयः कामरूपिणः ।
कोटीशतसहस्राणि नानानगनिवासिनः ॥६०॥

भिन भिन पर्वतों पर वसने वाले, यथेच्छ रूप धारण करने वाले महापराक्रमी सैकड़ों हज़ारों करोड़ वानर, यहाँ आने ही वाले हैं ॥६०॥

तदागच्छ महाबाहो चारित्रं[१] रक्षितं त्वया ।
अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम् ॥६१॥

हे महाबाहो ! आपने अन्तःपुर में प्रवेश न कर सदाचार की भली भांति रक्षा की है। अब रनवास में चलिए, क्योंकि खोटी दृष्टि से मित्र की स्त्री को न देखना चाहिए, अथवा कपट रहित, मित्र भाव से मित्र की स्त्री को देखना दोषावह नहीं है ॥६१॥

तारया चाभ्यनुज्ञातस्त्वरया चापि चोदितः ।
प्रविवेश महाबाहुरभ्यन्तरमरिन्दमः॥ ६२॥

शत्रुनाशक महाबाहु लक्ष्मण जी, तारा की अनुमति तथा उसके शीघ्र भीतर चलने का अनुरोध करने से अन्तःपुर में गए ॥६२॥

ततः सुग्रीवमासीनं काञ्चने परमासने ।
महार्हास्तरणोपेते ददर्शादित्यसन्निभम् ॥६३॥

अन्दर जा कर लक्ष्मण जी ने देखा कि, सूर्य के समान प्रकाशमान सुग्रीव सोने के मञ्च पर, जिस पर बड़ा मूल्यवान् बिछौना बिछा था, बैठे हुए हैं ॥६३॥

दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपं यशस्विनम् ।
दिव्यमाल्याम्बरधरं महेन्द्रमिव दुर्जयम् ॥६४॥

---

१ चारित्रं रक्षितं त्वया—अन्तःपुरस्त्र्यवलोकनेनमनुचितमिति बहिरेव स्थितवता त्वयासदाचारः सम्यगनुष्ठित इत्यर्थः । (गो०)

उस समय यशस्वी सुग्रीव दिव्य गहने दिव्य वस्त्र औ पुष्प मालाओं के पहिनने से बड़े सुन्दर और इन्द्र की तरह देख पड़ते थे ॥६४॥

दिव्याभरणमाल्याभिः प्रमदाभिः समावृतम् ।
संरब्धतररक्ताक्षो बभूवान्तकसन्निभः ॥६५॥

अच्छे अच्छे गहने और पुष्प मालाएँ पहिने हुए स्त्रियाँ के चारों ओर बैठी हुई थीं। इस प्रकार सुग्रीव को बैठे हु लक्ष्मण जी की आँखें मारे क्रोध के लाल हो गई और दे काल की मूर्त्ति की तरह भयानक देख पड़ने लगे ॥६५॥

रुमां तु वीरः परिरभ्य गाढं
वरासनस्थो वरहेमवर्णः ।
ददर्श सौमित्रिमदीनसत्त्वं
विशालनेत्रः सुविशालनेत्रम् ॥६६॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः

श्रेष्ठ सुवर्णवर्ण, उत्तम आसन पर स्थित, विशाल नेत्र, ने रुमा को चिपटाए हुए, महावीर्यवान् विशाल नेत्र वाले ल जी को देखा ॥६६॥

किष्किन्धाकाण्ड का तेंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—❀—

तमप्रतिहतं क्रुद्धं प्रविष्टं पुरुषर्षभम् ।
सुग्रीवो लक्ष्मणं दृष्ट्वा बभूव व्यथितेन्द्रियः ॥१॥

पुरुषश्रेष्ठ लक्ष्मण का क्रुद्ध और बिना रोक टोक आते हुए देख, सुग्रीव बहुत घबड़ा उठे ॥१॥

क्रुद्धं निःश्वसमानं तं प्रदीप्तमिव तेजसा ।
भ्रातुर्व्यसनसन्तप्तं दृष्ट्वा दशरथात्मजम् ॥२॥

उस समय दशरथनन्दन लक्ष्मण जी मारे क्रोध के फुंसकार मारते थे और उनका चेहरा तमतमा रहा था। क्योंकि वे भाई के दुःख से सन्तप्त हो रहे थे। लक्ष्मण को इस प्रकार क्रुद्ध देख, ॥२॥

उत्पपात हरिश्रेष्ठो हित्वा सौवर्णमासनम् ।
महान्महेन्द्रस्य यथा स्वलंकृत इव ध्वजः ॥३॥

कपिप्रवर सुग्रीव अपने सोने का सिंहासन छोड़, इन्द्र की अलंकृत बड़ी ध्वजा की तरह उठ खड़े हुए ॥३॥

उत्पतन्तमनुत्पेतू रुमाप्रभृतयः स्त्रियः ।
सुग्रीवं गगने पूर्णचन्द्रं तारागणा इव ॥४॥

सुग्रीव के खड़े होते ही रुमा आदि स्त्रियाँ भी उठ खड़ी हुई। उस समय उन स्त्रियों के बीच सुग्रीव की ऐसी शोभा हुई, जैसी आकाश में तारों के बीच चन्द्रमा की होती है ॥४॥

संरक्तनयनः श्रीमान्विचचाल: कृताञ्जलिः ।
बभूवावस्थितस्तत्र कल्पवृक्षो महानिव ॥५॥

श्रीमान् अरुण नेत्र सुग्रीव हाथ जोड़ लक्ष्मण के निकट जा महान कल्पवृक्ष की तरह खड़े हो गए ॥५॥

रुमाद्वितीयं सुग्रीवं नारीमध्यगत स्थितम् ।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धः सतारं शशिनं यथा ॥६॥

क्रुद्ध हुए लक्ष्मण जी ने, तारों के बीच स्थित चन्द्रमा की तरह, रुमा तथा दूसरी पत्नी तारा के साथ अन्य स्त्रियों के बीच खड़े हुए सुग्रीव से कहा ॥६॥

सत्त्वाभिजनसम्पन्नः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ।
कृतज्ञः सत्यवादी च राजा लोके महीयते ॥७॥

श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, दयालु, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ और सत्यवादी राजा ही लोक में पूजा जाता है ॥७॥

यस्तु राजा स्थितोऽधर्मे मित्राणामुपकारिणाम् ।
मिथ्या प्रतिज्ञां कुरुते को नृशंसतरस्ततः ॥८॥

किन्तु जो राजा उपकारी मित्रों के सामने प्रतिज्ञा कर उसे पूरी नहीं करता, उससे बढ़ कर नृशंस (कमीना) और कौन हो सकता है ॥८॥

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं तु गवानृते ।
आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषः पुरुषानृते ॥९॥

एक घोड़े के विषय में झूठ बोलने से सौ घोड़े मारने का पाप, और एक गाय के बारे में झूठ बोलने से एक हज़ार गायें मारने का पाप लगता है और पुरुष के विषय में झूठ बोलने से आत्महत्या और स्वजनहत्या का पाप लगता है ॥९॥

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः ।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वर ॥१०॥

हे वानरराज! प्रथम मित्र से उपकार प्राप्त कर, पीछे जो उस उपकार का बदला नहीं चुकाता, वह पुरुष कृतघ्न कहलाता है और समस्त प्राणियों द्वारा मार डालने के योग्य है ॥१०॥

गीतोऽयं ब्रह्मणा श्लोकः सर्वलोकनमस्कृतः ।
दृष्ट्वा कृतघ्नं क्रुद्धेन तं निबोध प्लवङ्गम ॥११॥

हे वानर! सर्वलोकनमस्कृत ब्रह्मा जी ने कृतघ्न पुरुष को देख और क्रुद्ध हो यह श्लोक कहा था। उसे सुनो ॥११॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चोरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥१२॥

सत्पुरुषों के मतानुसार, ब्राह्मण के मारने वाले का, मद्य पीने वाले का, चोर का और व्रतभङ्ग करने वाले का उद्धार हो भी सकता है, किन्तु कृतघ्न का उद्धार किसी प्रकार नहीं हो सकता। अथवा ब्रह्महत्यारे का, मद्यप का चोर का, और व्रतभङ्ग करने वाले का तो प्रायश्चित्त हो सकता है, पर कृतघ्नी का नहीं ॥१२॥

अनार्यस्त्वं कृतघ्नश्च मिथ्यावादी च वानर ।
पूर्वं कृतार्थो रामस्य न तत्प्रतिकरोषि तत् ॥१३॥

हे वानर ! तुम नीच, कृतघ्न और झूठे हो। क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के द्वारा अपना काम निकाल कर, तुम उनका काम नहीं कर रहे हो ॥१३॥

ननु नाम कृतार्थेन त्वया रामस्य वानर ।
सीताया मार्गणे यत्नः कर्तव्यः कृतमिच्छता[१] ॥१४॥

हे वानर ! जब श्रीरामचन्द्र जी ने तुम्हारा काम कर दिया, तब उनके उस उपकार का स्मरण कर उनकी सीता का पता लगाना तुम्हारा आवश्यक कर्त्तव्य है ॥१४॥

स त्वं ग्राम्येषु भोगेषु सक्तो मिथ्याप्रतिश्रवः ।
न त्वां रामो विजानीते सर्पं मण्डूकराविणम् ॥१५॥

परन्तु तुम तो झूठी प्रतिज्ञा करने वाले बन कर, नीच भोगों में फँसे हुए हो। (खेद है) श्रीरामचन्द्र जी मेढ़क पकड़ने के लिए मेढक की बोली बोलने वाले सर्प जैसे तुमको न पहचान सके ॥१५॥

महाभागेन रामेण पापः करुणवेदिना ।
हरीणां प्रापितो राज्यं त्वं दुरात्मा महात्मना ॥१६॥

देखो महाभाग और महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने दया कर तुम जैसे पापिष्ठ और दुष्ट को वानरों का राज्य दिला दिया ॥१६॥

कृतं चेन्नाभिजानीषे रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
सद्यस्त्वं निशितैर्बाणैर्हतो द्रक्ष्यसि वालिनम् ॥१७॥

यदि तुम अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र जी के किए हुए उपकार का ख़याल न करोगे, तो शीघ्र ही तुम उनके बाणों से प्राणत्याग कर वालि से भेंट करोगे ॥१७॥

न च सङ्कुचितः पन्थाः येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥१८॥

जिस मार्ग से वालि मारा जा कर, गया है वह मार्ग बंद नहीं हो गया। अतः तुम अपनी प्रतिज्ञा पर डटे रहो और वालि के पथ का अनुसरण मत करो ॥१८॥

न नूनमिक्ष्वाकुवरस्य कार्मुक-
च्युतान् शरान् पश्यसि वज्रसन्निभान् ।
ततः सुखं नाम निषेवसे सुखी
न रामकार्यं मनसाऽप्यवेक्षसे ॥१९॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

तुमने श्रीरामचन्द्र जी के कार्य को मन से भुला डाला है, अतः निश्चय ही तुम तभी तक यह सारा सुख भोग सकते हो, जब तक तुम श्रीरामचन्द्र जी के वज्र समान बाण उनके धनुष से छूटे हुए नहीं देखते ॥१९॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—❀—

तथा ब्रुवाणं सौमित्रिं प्रदीप्तमिव तेजसा ।
अब्रवील्लक्ष्मणं तारा ताराधिपनिभानना ॥१॥

अपने तेज से देदीप्यमान लक्ष्मण जी ने जब इस प्रकार सुग्रीव से कहा, तब चन्द्रवदनी तारा लक्ष्मण जी से बोली ॥१॥

नैवं लक्ष्मण वक्तव्यो नायं परुषमर्हति ।
हरीणामीश्वरः श्रोतुं तव वक्त्राद्विशेषतः ॥२॥

हे लक्ष्मण, आपको ऐसे कठोर वचन न कहना चाहिए। क्योंकि यह कपीश्वर हैं, अतः विशेष कर आपके मुख से तो, ऐसे वचन सुनने योग्य यह नहीं है ॥२॥

नैवाकृतज्ञः सुग्रीवो न शठो नापि दारुणः ।
नैवानृतकथो वीर न जिह्मश्च कपीश्वरः ॥३॥

हे वीर! यह सुग्रीव न तो कृतघ्न है, न शठ है और न नृशंस ही हैं। यह कपिराज न तो झूठ बोलते हैं और न कपटी हैं ॥३॥

उपकारं कृतं वीरो नाप्ययं विस्मृतः कपिः ।
रामेण वीर सुग्रीवो यदन्यैर्दुष्करं रणे ॥४॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इनका जो उपकार किया है, उसे यह भूले नहीं। क्योंकि जैसा उपकार युद्ध में श्रीरामचन्द्र जी ने इनका किया है, वैसे और कोई नहीं कर सकता ॥४॥

रामप्रसादात्कीर्तिं च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
प्राप्तवानिह सुग्रीवो रुमां मां च परन्तप ॥५॥

हे परन्तप! श्रीरामचन्द्र जी के अनुग्रह ही से सुग्रीव को यश की, परम्परागत वानरराज्य की, रुमा की और मेरी प्राप्ति हुई है ॥५॥

सुदुःखं शयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम् ।
प्राप्तकालं न जानीते विश्वामित्रो यथा मुनिः ॥६॥

जो बहुत दिनों तक कष्ट झेलने के बाद सुख पाता है; उसे समय जाता हुआ वैसे ही जान नहीं पड़ता, जैसे विश्वामित्र मुनि को नहीं जान पड़ा था ॥६॥

घृताच्यां किल सक्तो दश वर्षाणि लक्ष्मण ।
अहोऽमन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः ॥७॥

हे लक्ष्मण ! विश्वामित्र दस वर्ष तक घृताची* अप्सरा के साथ विहार करते रहे, किन्तु उन धर्मात्मा महर्षि विश्वामित्र को यह न जान पड़ा कि, दस वर्ष कब बीत गए ॥७॥

स हि प्राप्तं न जानीते कालं कालविदांवरः ।
विश्वामित्रो महातेजाः किं पुनर्यः पृथग्जनः ॥८॥

जब कि काल के जानने वालों में श्रेष्ठ महातेजस्वी विश्वामित्र ही को (विषय भोग में फँस) समय का बोध नहीं हुआ, तब अन्य लोगों की बात ही क्या है ? ॥८॥

[1]देहधर्मं गतस्यास्य परिश्रान्तस्य लक्ष्मण ।
अवितृप्तस्य कामेषु कामं क्षन्तुमिहार्हसि ॥९॥

हे लक्ष्मण ! शरीरस्वभाव के वशवर्ती, श्रान्त, कामवासना से अतृप्त, इन सुग्रीव का अपराध आप श्रीरामचन्द्र जी से क्षमा करा दें ॥९॥

न च रोषवशं तात गन्तुमर्हसि लक्ष्मण ।
[2]निश्चयार्थमविज्ञाय सहसा प्राकृतो यथा ॥१०॥

---

१ देहधर्मम्—शरीरस्वभाव । (गो०) २ निश्चयार्थं—निश्चयरूपमर्थं सुग्रीवाभिप्रायमिति । (गो०)

*बालकाण्ड में मेनका नाम आया है । अतः यहाँ घृताची से तारा का अभिप्राय मेनका से है । यह गोविन्दराज जी का मत है ।

हे लक्ष्मण! सुग्रीव का अभिप्राय निश्चित रूप से जाने बिना, साधारण मनुष्य की तरह तुम्हारा सहसा क्रुद्ध होना ठीक नहीं ॥१०॥

सत्त्वयुक्ता हि पुरुषास्त्वद्विधाः पुरुषर्षभ ।
अविमृश्य न रोषस्य सहसा यान्ति वश्यताम् ॥११॥

क्योंकि, हे नरश्रेष्ठ! आप जैसे सतोगुणी पुरुष बिना विचारे क्रोध के वशवर्ती नहीं होते ॥११॥

प्रसादये त्वा धर्मज्ञ सुग्रीवार्थे समाहिता ।
महान् रोषसमुत्पन्नः संरम्भः[1] त्यज्यतामयम् ॥१२॥

हे धर्मज्ञ! सुग्रीव की भलाई के लिए मैं एकाग्रचित्त हो आपको मना लेना चाहती हूँ। इस महान् क्रोध को और क्षोभ को आप त्यागिए ॥१२॥

रुमां मां कपिराज्यं च धनधान्यवसूनि च ।
रामप्रियार्थं सुग्रीवस्त्यजेदिति मतिर्मम ॥१३॥

मेरा तो यह मत है कि, सुग्रीव आवश्यकता आ पड़ने पर श्रीरामचन्द्र जी के काम के लिए रुमा को, मुझको, कपिराज्य को, पशुओं को, धान्य को और रत्नादि को भी त्याग देंगे ॥१३॥

समानेष्यति सुग्रीवः सीतया सह राघवम् ।
शशाङ्कमिव रोहिण्या निहत्वा रावणं रणे ॥१४॥

सुग्रीव रावण को युद्ध में मार कर, श्रीरामचन्द्र जी को सीता से वैसे ही मिला देंगे, जैसे रोहिणी चन्द्रमा से मिलती है ॥१४॥

---

१ संरम्भः—मनःक्षोभः। (गो०)

शतकोटिसहस्राणि लङ्कायां किल राक्षसाः ।
अयुतानि च षट्त्रिंशत्सहस्राणि शतानि च ॥१५॥

लङ्का में रावण के पास निश्चय ही इस समय दस खरब, चार लाख, साठ हज़ार राक्षसों की सेना है ॥१५॥

अहत्वा तांश्च दुर्धर्षान् राक्षसान् कामरूपिणः ।
न शक्यो रावणो हन्तुं येन सा मैथिली हृता ॥१६॥

उन दुर्धर्ष, कामरूपी राक्षसों को युद्ध में मारे बिना, सीता को हर कर, अपने घर ले जाने वाले रावण का वध नहीं हो सकता ॥१६॥

ते न शक्या रणे हन्तुमसहायेन लक्ष्मण ।
रावणः क्रूरकर्मा च सुग्रीवेण विशेषतः ॥१७॥

सो हे लक्ष्मण! सुग्रीव उन राक्षसों को और विशेष कर उस पराक्रमी रावण को बिना सहायता के नहीं मार सकेंगे ॥१७॥

एवमाख्यातवान् वाली न ह्यभिज्ञो हरीश्वरः ।
आगमस्तु न मे व्यक्तः श्रवणात्तद्ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

कपिराज वालि इन बातों से परिचित थे सो, उन्हींसे मैंने ये बातें सुन रखी हैं। स्वयं इन सब बातों की जानकार मैं नहीं हूँ ॥१८॥

त्वत्सहायनिमित्तं वै प्रेषिता हरिपुङ्गवाः ।
आनेतुं वानरान् युद्धे सुबहून् हरियूथपान् ॥१९॥

आपकी सहायता के लिए कपिराज ने बहुत से वानरयूथप बुलवाए हैं और उनको बुलाने के लिए प्रधान वानर वीर भेजे हैं ॥१९॥

---

* पाठान्तरे—"श्रवात्तस्मात् ।"

तांश्च प्रतीक्षमाणोऽयं विक्रान्तान् सुमहाबलान् ।
राघवस्यार्थसिद्ध्यर्थं न निर्याति हरीश्वरः ॥२०॥

यह उन विक्रमशाली और महाबलवान् वानरों के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन सब के आए बिना श्रीरामचन्द्र जी के कार्य की सिद्धि के लिए यह कपिराज बाहर नहीं निकलते ॥२०॥

कृताऽत्र संस्था सौमित्रे सुग्रीवेण यथा पुरा ।
अद्य तैर्वानरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः ॥२१॥

सुग्रीव ने जैसी व्यवस्था पहिले से कर रखी है, उसके अनुसार तो उन सब महाबली वानरों को आज ही यहाँ पहुँच जाना चाहिए ॥२१॥

ऋक्षकोटिसहस्राणि गोलाङ्गूलशतानि च ।
अद्य त्वामुपयास्यन्ति जहि कोपमरिन्दम ।
कोट्योऽनेकास्तु काकुत्स्थ कपीनां दीप्ततेजसाम् ॥२२॥

हे अरिन्दम ! हे काकुत्स्थ ! करोड़ों रीछों, हजारों गोपुच्छों, और करोड़ों पराक्रमी वानरों की सेना आज आना ही चाहती है। अतः आप अपना क्रोध शान्त करें ॥२२॥

तव हि मुखमिदं निरीक्ष्य कोपात्
क्षतजनिभे नयने निरीक्षमाणाः ।
हरिवरवनिता न यान्ति शान्तिं
प्रथमभयस्य हि शङ्किताः स्म सर्वाः ॥२३॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! क्रोध से तमतमाता हुआ आपका चेहरा और आपकी लाल लाल आँखें देख, वानरराज की सब स्त्रियाँ घबड़ा रही हैं। क्योंकि वालि के वध को देख, उनके मन में पहिले ही से भय उत्पन्न हो गया है ॥२३॥

किष्किन्धाकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:o:—

षट्त्रिंशः सर्गः

—❀—

इत्युक्तस्तारया वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम्।
मृदुस्वभावः सौमित्रिः प्रतिजग्राह तद्वचः ॥१॥

जब तारा ने इस प्रकार के विनीत और धर्मयुक्त वचन कहे, तब लक्ष्मण जी नरम पड़े और उसका कहना मान लिआ ॥१॥

तस्मिन् प्रतिगृहीते तु वाक्ये हरिगणेश्वरः।
लक्ष्मणात्सुमहत्त्रासं वस्त्रं क्लिन्नमिवात्यजत् ॥२॥

जब लक्ष्मण जी ने तारा की बात मान, क्रोध शान्त किआ तब सुग्रीव ने भी अपने भय को गीले वस्त्र की तरह त्याग दिआ ॥२॥

ततः कण्ठगतं माल्यं चित्रं बहुगुणं[1] महत्।
चिच्छेद विमदश्चासीत्सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥३॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीव ने अपने गले की चित्रविचित्र बहुविध भोगप्रद माला को तोड़ कर फेंक दिआ और वे सचेत हो गए ॥३॥

---

१ बहुगुण—बहुविधभोगप्रद। (गो०)

स लक्ष्मणं भीमबलं सर्ववानरसत्तमः ।
अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवः सम्प्रहर्षयन् ॥४॥

तदनन्तर वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ने महाबली लक्ष्मण को प्रसन्न करने के लिए उनसे विनीत भाव से कहा ॥४॥

प्रनष्टा श्रीश्च कीर्त्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
रामप्रसादात्सौमित्रे पुनः प्राप्तमिदं मया ॥५॥

हे लक्ष्मण ! मैंने श्री, यश और पुश्तैनी कपिराज्य, जो कि मेरे हाथ से निकल गया था, श्रीरामचन्द्र जी के अनुग्रह ही से पुनः पाया है ॥५॥

कः शक्तस्तस्य देवस्य* विख्यातस्य स्वकर्मणा ।
तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्मज ॥६॥

हे राजकुमार ! अनेक (अद्भुत) कर्मों के द्वारा विख्यात, देव-स्वरूप श्रीरामचन्द्र जी जैसे उपकारी का किञ्चिन्मात्र भी बदला कौन चुका सकता है ? ॥६॥

सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम् ।
सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा ॥७॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी तो अपने ही पराक्रम से रावण को मार कर सीता को लावेंगे। मैं तो नाममात्र का उनका सहायक रहूँगा ॥७॥

सहायकृत्यं किं तस्य येन सप्त महाद्रुमाः ।
शैलश्च वसुधा चैव बाणेनैकेन दारिताः ॥८॥

---

* पाठान्तरे—"ख्यातस्य स्वेन कर्मणा । यादृशं किञ्चन कर्तुं प्रतिकर्तुमिहार्हति ।"

जिस वीर ने एक ही बाण से सात सालवृक्षों को वेध कर पहाड़ और पृथिवी को फोड डाला, उसको दूसरे की सहायता की आवश्यकता ही क्या है? ॥८॥

धनुर्विस्फारयाणस्य यस्य शब्देन लक्ष्मण ।

सशैला कम्पिता भूमिः सहायैस्तस्य किं नु वै ॥९॥

हे लक्ष्मण! जिसके धनुष के रोदे की टकार से पहाड़ों सहित पृथिवी भी काँप उठती है, उसको किसी की सहायता की क्या आवश्यकता हो सकती है? ॥९॥

अनुयात्रां नरेन्द्रस्य करिष्येऽहं नरर्षभ ।

गच्छतो रावणं हन्तुं वैरिणं सपुरःसरम् ॥१०॥

हे नरश्रेष्ठ! जिस समय नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी रावण का वध करने को अग्रसर होंगे, उस समय मैं भी उनके पीछे हो लूँगा ॥१०॥

यदि किञ्चिदतिक्रान्तं विश्वासात्प्रणयेन वा ।

प्रेष्यस्य क्षमितव्यं मे न कश्चिन्नापराध्यति ॥११॥

यदि विश्वास अथवा प्रेम के वशवर्ती हो, इस दास से कोई अपराध बन आया हो, तो उस अपराध को वे क्षमा करें। क्योंकि ऐसा दास तो विरला ही होता है, जिससे स्वामी का कोई न कोई अपराध न बन पड़ता हो ॥११॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।

अभवल्लक्ष्मणः प्रीतः प्रेम्णा* चैनमुवाच ह ॥१२॥

महानुभाव सुग्रीव ने जब इस प्रकार कहा, तब लक्ष्मण जी प्रसन्न हुए और प्रीतिपूर्वक उनसे बोले ॥१२॥

---

* पाठान्तरे—"चैव"; "चेद"।

दोषज्ञः सति सामर्थ्ये कोऽन्यो भाषितुमर्हति ।
वर्जयित्वा मम ज्येष्ठं त्वां च वानरसत्तम ॥१७॥

हे वानरोत्तम, मेरे ज्येष्ठ भ्राता को और तुमको छोड़, सामर्थ्य रखने वाला कौन पुरुष ऐसा होगा, जो अपने दोषों को जान कर, उन्हें अपने मुख से कहे ॥१७॥

सदृशश्चासि रामस्य विक्रमेण बलेन च ।
सहायो दैवतैर्दत्तश्चिराय हरिपुङ्गव ॥१८॥

हे कपिश्रेष्ठ ! तुम पराक्रम में और बल में, श्रीरामचन्द्र जी के समान हो। हे वानरश्रेष्ठ ! देवताओं की ओर से तुम हम लोगों को चिरकाल के लिए सहायक दिए गए हो ॥१८॥

किं तु शीघ्रमितो वीर निष्क्राम त्वं मया सह ।
सान्त्वयस्व वयस्यं त्वं भार्याहरणकर्शितम् ॥१९॥

परन्तु हे वीर ! अब तुम मेरे साथ शीघ्र ही इस स्थान से चल कर, सीताहरण से दुःखी और अपने विकल मित्र श्रीरामचन्द्र जी को धीरज बँधाओ ॥१९॥

यच्च शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा रामस्य भाषितम् ।
मया त्वं परुषाण्युक्तस्तच्च त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥२०॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

हे मित्र ! शोक से विकल श्रीरामचन्द्र जी की बातें सुन, मैंने तुमसे जो कठोर वचन कहे—इसके लिए तुम मुझे क्षमा करो ॥२०॥

किष्किन्धाकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—❀—

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना ।
हनुमन्तं स्थितं पार्श्वे सचिवं त्विदमब्रवीत् ॥१॥

महात्मा लक्ष्मण के वचन सुन, सुग्रीव, एक ओर खड़े हुए अपने सचिव हनुमान से बोले ॥१॥

महेन्द्रहिमवद्विन्ध्यकैलासशिखरेषु च ।
मन्दरे पाण्डुशिखरे पञ्चशैलेषु ये स्थिताः ॥२॥

जो वानर महेन्द्राचल, हिमाचल, विन्ध्याचल, कैलासशिखर और श्वेतशिखर वाले मन्दराचल पर रहते हैं ॥२॥

तरुणादित्यवर्णेषु भ्राजमानेषु सर्वतः ।
पर्वतेषु समुद्रान्ते पश्चिमायां तु ये दिशि ॥३॥

तथा जो पश्चिम दिशा में तरुण सूर्य तुल्य वर्ण वाले वानर, सदा प्रकाशमान, समुद्र तटवर्ती पर्वतों पर रहते हैं ॥३॥

आदित्यभवने[1] चैव गिरौ सन्ध्याभ्रसन्निभे ।
पद्मतालवनं भीमं संश्रिता हरिपुङ्गवाः ॥४॥

तथा सन्ध्याकालीन मेघ की तरह उदयाचल और अस्ताचल पर और पद्मताल वन मे जो भयङ्कर आकार वाले श्रेष्ठवानर रहते हैं ॥४॥

---

१ आदित्यभवने—उदयगिरौ । (गो०)

अञ्जनाम्बुदसङ्काशाः कुञ्जरप्रतिमौजसः ।
अञ्जने पर्वते चैव ये वसन्ति प्लवङ्गमाः ॥५॥

तथा काले मेघों के समान डीलडौल वाले और गजेन्द्र की तरह पराक्रमी, जो वानर अञ्जन नामक पर्वत पर रहते हैं ॥५॥

*वनशैलगुहावासा वानराः कनकप्रभाः ।
मेरुपार्श्वगताश्चैव ये धूम्रगिरिसंश्रिताः ॥६॥

तथा जो सुनहली आभा वाले वानर, वनों मे, पर्वत की कन्दराओं में रहते हैं तथा जो मेरुपर्वत की बगल में रहने वाले तथा धूम्रपर्वत पर रहने वाले हैं ॥६॥

तरुणादित्यवर्णाश्च पर्वते च महारुणे ।
पिबन्तो मधु मैरेयं भीमवेगाः प्लवङ्गमाः ॥७॥

तथा जो वानर तरुण सूर्य की तरह रंग वाले हैं और मैरेय नाम की शराब पिया करते हैं और बड़े फुर्तीले हैं ॥७॥

वनेषु च सुरम्येषु सुगन्धिषु महत्सु च ।
तापसानां च रम्येषु वनान्तेषु समन्ततः ॥८॥

तथा जो वानर उन अत्यन्त सुवासित और रमणीय समस्त वनों मे, जहाँ तपस्वियों के रमणीय आश्रम हैं, वास करते हैं ॥८॥

तांस्तान् समानय क्षिप्रं पृथिव्यां सर्ववानरान् ।
सामदानादिभिः †सर्वैराशु प्रेषय वानरान् ॥९॥

---

* पाठान्तरे—" मनःशिला "; " महाशैल । " † पाठान्तरे—" कल्पैराशु ", ,, कल्पैवानरैर्वेगवत्तरैः " ; ,, कल्पैराशु प्रेरय ।"

सारांश यह कि, पृथिवीमंडल पर जहाँ जहाँ वानर हों, उन सब को, समझा बुझा कर, लालच दिखला कर, (जैसे बने वैसे) शीघ्र यहाँ बुला लो ॥९॥

प्रेपिताः प्रथमं ये च मया दूता महाजवाः ।
त्वरणार्थं तु भूयस्त्वं हरीन् सम्प्रेपयापरान् ॥१०॥

मैंने शीघ्रगामी जिन दूतों को पहले भेजा था, उनसे अपने काम शीघ्रतापूर्वक पूरा कराने के लिए, तुम फिर और वानर भेजो ॥१०॥

ये प्रसक्ताश्च कामेषु दीर्घसूत्राश्च वानराः ।
इहानयस्व तान् सर्वान् शीघ्रं तु मम शासनात् ॥११॥

जो वानर कामासक्त हैं या दीर्घसूत्री हैं, उनको मेरी आज्ञा सुना कर, तुरन्त यहाँ बुलवा लो ॥११॥

अहोभिर्दशभिर्ये हि नागच्छन्ति ममाज्ञया ।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो राजशासनदूपकाः ॥१२॥

मेरी आज्ञा से जो वानर दस दिन के भीतर यहाँ न आ जाँयगे, वे दुष्ट राजाज्ञा की अवहेलना करने के अपराध में जान से मार डाले जाँयगे ॥१२॥

शतान्यथ सहस्राणां कोटयश्च मम शासनात् ।
प्रयान्तु कपिसिंहाना निदेशे मम ये स्थिताः ॥१३॥

जो सैकड़ों हजारों और करोड़ों श्रेष्ठ वानर मेरे आज्ञानुवर्ती हैं, वे मेरी आज्ञा से तुरन्त यहाँ चले आवें ॥१३॥

मेरुमन्दरसङ्काशाश्छादयन्त इवाम्बरम् ।
घोररूपाः कपिश्रेष्ठा यान्तु मच्छासनादितः ॥१४॥

आकाश को छा लेने वाले मेघों अथवा पर्वतों के सदृश डील डौल वाले और भयङ्कर रूपधारी श्रेष्ठवानर मेरी आज्ञा से तुरन्त यहाँ से जायँ ॥१४॥

ते गतिज्ञा[1] गतिं गत्वा पृथिव्यां सर्ववानराः ।
आनयन्तु हरीन् सर्वांस्त्वरिताः शासनान्मम ॥१५॥

सब वानरों के वासस्थानों को जानने वाले वे वानर, पृथिवी पर रहने वाले समस्त वानरों के वासस्थानों का पता लगा कर, मेरी आज्ञा से उनक तुरन्त यहाँ लिवा लावें ॥१५॥

तस्य वानरराजस्य श्रुत्वा वायुसुतो वचः ।
दिक्षु सर्वासु विक्रान्तान् प्रेषयामास वानरान् ॥१६॥

वानरराज सुग्रीव के ये वचन सुन पवननन्दन हनुमान जी सब दिशाओं में पराक्रमी वानर भेज दिए ॥१६॥

ते पदं विष्णुविक्रान्तं[2] पतत्रिज्योतिरध्वगाः ।
प्रयाताः प्रहिता राज्ञा हरयस्तत्क्षणेन वै ॥१७॥

सुग्रीव की आज्ञा से वे वानर पक्षियों और नक्षत्रों के आकाशस्थ मार्ग से उस क्षण रवाना हो गए ॥१७॥

ते समुद्रेषु गिरिषु वनेषु च सरःसु च ।
वानरा वानरान् सर्वान् रामहेतोरचोदयन् ॥१८॥

उन वानरो ने समुद्रतटों, पर्वतों, वनों और सरोवरों के रहने वाले वानरों को श्रीरामचन्द्रजी के काम के लिए सुग्रीव की आज्ञा कह सुनाई ॥१८॥

---

१ गतिज्ञा—तत्स्थानभिज्ञाः । (शि०) २ विष्णुविक्रान्तंपद — आकाश । (गो०)

मृत्युकालोपमस्याज्ञां राजराजस्य वानराः ।
सुग्रीवस्याययुः श्रुत्वा सुग्रीवभयदर्शिनः ॥१६॥

मृत्यु की तरह कपिराज सुग्रीव की उस आज्ञा को सुन कर और तदनुसार सुग्रीव के भय से त्रस्त हो सब वानर सुग्रीव के पास जाने को प्रस्थानित हुए ॥१६॥

ततस्तेऽञ्जनसङ्काशा गिरेस्तस्मान्महाजवाः ।
तिस्रः कोट्यः प्लवङ्गानां निर्ययुर्यत्र राघवः ॥२०॥

तदनन्तर कज्जल वर्ण और महाबली तीन करोड वानर अञ्जन गिरि को छोड, श्रीरामचन्द्र जी के पास चल दिए (अर्थात् अञ्जन गिरि से तीन करोड़ वानर आए) ॥२०॥

अस्तं गच्छति यत्रार्कस्तस्मिन् गिरिवरे स्थिताः ।
तप्तहेममहाभासस्तस्मात्कोट्यो दश च्युताः ॥२१॥

पर्वतश्रेष्ठ अस्ताचल पर जो वानर रहा करते थे और जिनके शरीर का सुनहला रंग था और जो संख्या में दस करोड़ थे, वे भी किष्किन्धा के लिए रवाना हुए ॥२१॥

कैलासशिखरेभ्यश्च सिंहकेसरवर्चसाम् ।
ततः कोटिसहस्राणि वानराणामुपागमन् ॥२२॥

कैलास शिखर पर बसने वाले वानर भी जिनके शरीर का रंग सिंह के अयाल जैसा था और जिनकी संख्या कोटिसहस्र थी, किष्किन्धा में आए ॥२२॥

फलमूलेन जीवन्तो हिमवन्तमुपाश्रिताः ।
तेषां कोटिसहस्राणां सहस्रं समवर्तत ॥२३॥

हिमालय-पर्वत-वासी वानर, जो फलमूल खा कर निर्वाह किया करते थे और जिनकी संख्या खर्वों थी, किष्किन्धा में आए ॥२३॥

अङ्गारकसमानानां भीमानां भीमकर्मणाम् ।
विन्ध्याद्वानरकोटीनां सहस्राण्यपतन् द्रुतम् ॥२४॥

विन्ध्याचलपर रहने वाले वानर, जिनके शरीर का रग अंगारे जैसा था और जो देखने में भयङ्कर ही न थे, किन्तु भयङ्कर कर्म करने वाले भी थे और जिनकी सख्या सहस्र करोड़ अर्थात् एक अर्ब थी, तुरन्त आ पहुँचे ॥२४॥

क्षीरोदवेलानिलयास्तमालवनवासिनः ।
नारिकेलाशनाश्चैव तेषां संख्या न विद्यते ॥२५॥

क्षीर समुद्र के तट पर रहने वाले तथा तमाल वन में बसने वाले तथा नारियल खाने वाले जो वानर थे, उनकी गणना नहीं थी अर्थात् वे असख्य थे, ॥२५॥

वनेभ्यो गह्वरेभ्यश्च सरिद्भ्यश्च महाजवाः ।
आगच्छद्वानरी सेना पिबन्तीव दिवाकरम् ॥२६॥

किष्किन्धा में वनों,कन्दराओं और नदियों के तटों से महाबलवान् वानरी सेना ऐसे आने लगी, मानों वह सूर्य हीको पान कर जायगी ॥२६॥

ये तु त्वरयितुं याता वानराः सर्ववानरान् ।
ते वीरा हिमवच्छैलं ददृशुस्त महाद्रुमम् ॥२७॥

जो वानर अन्य सब वानरों को शीघ्रतापूर्वक बुलाने को गए थे, उन वीर वानरों ने हिमालय पर्वत पर एक महावृक्ष देखा ॥२७॥

तस्मिन् गिरिवरे रम्ये यज्ञो माहेश्वरः पुरा ।
सर्वदेवमनस्तोषो बभौ दिव्यो मनोहरः ॥२८॥

उस रमणीक पर्वत पर पूर्वकाल मे सब देवताओं के मन को सन्तुष्ट करने वाला दिव्य मनोहर माहेश्वर यज्ञ हुआ था ॥२८॥

अन्ननिष्यन्दजातानि मूलानि च फलानि च ।
अमृतास्वादकल्पानि ददृशुस्तत्र वानराः ॥२९॥

तदन्नसम्भवं दिव्यं फल मूल मनोहरम् ।
यः कश्चित्सकृदश्नाति मासं भवति तर्पितः ॥३०॥

वहाँ पर अन्न के रस से नाना प्रकार के फूल और फल पैदा हो गए थे । ये अमृत के समान स्वादिष्ट थे और जो कोई एक बार भी इनको खा लेता, तो एक मास तक उसे भूख ही नहीं लगती थी । (अथवा वह एक मास तक अफरा हुआ रहता था) ॥२९॥३०॥

तानि मूलानि दिव्यानि फलानि च फलाशनाः ।
औषधानि च दिव्यानि जगृहुर्हरियूथपाः ॥३१॥

फल फूल भक्षण करने वाले उन प्रधान प्रधान वानरों ने वे सब दिव्य फल मूल लिए और अनेक प्रकार की जड़ी बूटियाँ भी लीं, जो वहाँ पर लगी हुई थीं ॥३१॥

तस्माच्च यज्ञायतनात्पुष्पाणि सुरभीणि च ।
आनिन्युर्वानरा गत्वा सुग्रीवप्रियकारणात् ॥३२॥

कपिराज सुग्रीव को भेंट करने के लिए, उन वानरों ने उस यज्ञस्थान से सुगन्धित फूल भी अपने साथ ले लिए ॥३२॥

ते तु सर्वे हरिवराः पृथिव्यां सर्वयानगान् ।
संचोदयित्वा त्वरिता यूथानां जग्मुरग्रतः ॥३३॥

वे सब कपिश्रेष्ठ, पृथिवी के सब वानरों को सुग्रीव की आज्ञा सुना, बहुत शीघ्र सब यूथों के आने के पहिले ही, किष्किन्धा मे लौट आए ॥३३॥

ते तु तेन मुहूर्तेन यूथपाः शीघ्रगामिनः ।
किष्किन्धां त्वरया प्राप्ताः सुग्रीवो यत्र वानरः ॥३४॥

वे शीघ्र चलने वाले यूथप बात की बात में तुरन्त सुग्रीव के पास किष्किन्धा मे आ पहुँचे ॥३४॥

ते गृहीत्वौषधीः सर्वाः फलं मूलं च वानराः ।
तं प्रतिग्राहयामासुर्वचनं चेदमब्रुवन् ॥३५॥

उन्होंने वे सब जड़ी बूटिया, फल और फूल सुग्रीव को भेंट किए और यह कहा ॥३५॥

सर्वे परिगताः शैलाः समुद्राश्च वनानि च ।
पृथिव्यां वानराः सर्वे शासनादुपयान्ति ते ॥३६॥

हम सब ने पर्वतों, समुद्रों और वनों मे जा कर उन स्थानों मे रहने वाले वानरो को आपका आदेश सुना दिआ । पृथिवी के समस्त वानर आपकी आज्ञा को मान, यहां पहूँचने ही वाले हैं ॥३६॥

एवं श्रुत्वा ततो हृष्टः सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
प्रतिजग्राह तत्प्रीतस्तेषां सर्वमुपायनम् ॥३७॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार वानरों के वचन सुन, वानरराज सुग्रीव प्रसन्न हुए और उनकी भेंट को अंगीकार किया ॥३७॥

किष्किन्धाकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अष्टत्रिंशः सर्गः

—✿—

प्रतिगृह्य च तत्सर्वमुपायनमुपाहृतम् ।
वानरान् सान्त्वयित्वा च सर्वानेव व्यसर्जयत् ॥

उन वानरों की लाई हुई भेंट को अंगीकार कर और (अर्थात् उनके काम की और फुर्ती की) प्रशंसा कर, उन किया ॥१॥

विसर्जयित्वा स हरीन् शूरांस्तान्कृतकर्मणः ।
मेने कृतार्थमात्मानं राघवं च महाबलम् ॥२॥

उन वीर और काम पूरा कर के आए हुए वानरों कर. सुग्रीव ने अपने को तथा महाबलवान् श्रीरामचन्द्र सफल-मनोरथ माना ॥२॥

स लक्ष्मणो भीमबलं सर्ववानरसत्तमम् ।
अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं सम्प्रहर्षयन् ॥३॥

अनन्तर लक्ष्मण जी, सुग्रीव को प्रसन्न करते महाबली वानरराज सुग्रीव से विनम्रभाव से बोले ॥३॥

किष्किन्धाया विनिष्क्राम यदि ते सौम्य रोचते
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य सुभाषितम् ॥४

हे सौम्य ! यदि तुम पसंद करो, तो हम लोग किष्किं बाहिर चले चले । लक्ष्मण जी के ऐसे सुन्दर वचन सुन

सुग्रीवः परमप्रीतो वाक्यमेतदुवाच ह ।

सुग्रीव बहुत प्रसन्न हुए और बोले, बहुत अच्छा। आइए चलें। मैं तो आपका आज्ञापालक हूँ ॥५॥

तमेवमुक्त्वा सुग्रीवो लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
विसर्जयामास तदा तारामन्याश्च योषितः ॥६॥

सुग्रीव ने शुभलक्षण युक्त लक्ष्मण जी से इस प्रकार कहा, तारा तथा अन्य स्त्रियों को वहां से अन्तःपुर में जाने के लिए विदा किआ ॥६॥

एतेत्युच्चैर्हरिवरान् सुग्रीवः समुदाहरत्
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा हरयः शीघ्रमाययुः ॥७॥

तदनन्तर सुग्रीव ने "यहाँ आओ २" कह कर उच्च स्वर से वानरश्रेष्ठ को बुलाया। उनके वचन सुन वे बन्दर तुरन्त वहाँ आ पहुँचे ॥७॥

बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे ये स्युः स्त्रीदर्शनक्षमाः।
तानुवाच ततः प्राप्तान् राजार्कसदृशप्रभः ॥८॥

जो लोग राज्य घराने की स्त्रियों के सामने जा सकते थे वे आ कर हाथ जोड़े हुए खड़े हो गए। तब सूर्य समान प्रभावाले सुग्रीव ने उनसे कहा ॥८॥

[टिप्पणी—"ये स्युः स्त्रीदर्शनक्षमाः" स्पष्ट प्रकट हो रहा है कि, सुग्रीव के रनवास में पर्दा था और रनवास की स्त्रियाँ हरेक वानर के सामने नहीं निकलती थीं। रामायणकालीन भारतवासी अनार्यजन भी पर्दाप्रथा मानते थे।]

उपस्थापयत क्षिप्रं शिबिकां मम वानराः।
श्रुत्वा तु वचनं तस्य हरयः शीघ्रविक्रमाः ॥९॥

समुपस्थापयामासुः शिबिकां प्रियदर्शनाम् ।
तामुपस्थापितां दृष्ट्वा शिबिकां वानराधिपः ॥१०॥

लक्ष्मणारुह्यतां शीघ्रमिति सौमित्रिमब्रवीत् ।
इत्युक्त्वा काञ्चनं यानं सुग्रीवः सूर्यसन्निभम् ॥११॥

बृहद्भिर्हरिभिर्युक्तमारुरोह सलक्ष्मणः ।
पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥१२॥

हे वानरों! तुरन्त जा कर मेरी पालकी ले आओ। सुग्रीव के ये वचन सुन, फुर्तीले और बली वानरों ने बड़ी सुन्दर पालकी लाकर उपस्थित कर दी। सुग्रीव ने पालकी को देख, लक्ष्मण जी से कहा कि, आप इस पर शीघ्र सवार हों। यह कह कर उस सूर्य समान चमकता हुई सोने की पालकी पर, जिसके उठाने को बड़े बड़े वानर नियुक्त थे, सुग्रीव लक्ष्मण जी सहित सवार हुए। सुग्रीव के ऊपर सफेद छत्र ताना गया ॥९॥१०॥११॥१२॥

शुक्लैश्च वालव्यजनैर्धूयमानैः समन्ततः ।
शङ्खभेरीनिनादैश्च वन्दिभिश्चाभिनन्दितः ॥१३॥

उनके ऊपर सफेद बालों का चँवर भी डुलाया जाता था। शङ्ख और नगाड़े बज रहे थे। वन्दीगण विरुदावली पढ़ते जाते थे ॥१३॥

निर्ययौ प्राप्य सुग्रीवो राज्यश्रियमनुत्तमाम् ।
स वानरशतैस्तीक्ष्णैर्बहुभिः शस्त्रपाणिभिः ॥१४॥

सुग्रीव उत्कृष्ट राज्यलक्ष्मी को प्राप्त होकर, रनवास से निकले। उस समय उनकी पालकी को घेरे हुए सैकड़ों बलवान वानर हाथों में बहुत से बड़े पैने हथियार ले चले जाते थे ॥१४॥

परिकीर्णो ययौ तत्र यत्र रामो व्यवस्थितः ।
स तं देशमनुप्राप्य श्रेष्ठं रामनिषेवितम् ॥१५॥

इस प्रकार सिपाहियों से घिरे हुए, सुग्रीव वहाँ गए जहाँ श्रीरामचन्द्र जी ठहरे हुए थे। उस उत्तम स्थान पर जहाँ श्रीरामचन्द्र जी ठहरे हुए थे, पहुँच कर ॥१५॥

अवातरन् महातेजाः शिबिकायाः सलक्ष्मणः ।
आसाद्य च ततो रामं कृताञ्जलिपुटोऽभवत् ॥१६॥

महातेजस्वी सुग्रीव जी, लक्ष्मणसहित पालकी से उतरे और श्रीरामचन्द्र जी के सामने जाकर, हाथ जोड़े खड़े हो गए ॥१६॥

कृताञ्जलौ स्थिते तस्मिन वानराश्चाभवंस्तथा ।
तटाकमिव तद्दृष्ट्वा रामः कुड्मलपङ्कजम् ॥१७॥

अपने राजा को हाथ जोड़े हुए खड़ा देख, अन्य वानर भी हाथ जोड कर खडे हो गए। उस समय श्रीरामचन्द्र जी को ऐसा ज्ञान पड़ा, मानों कमल की कलियों से पूर्ण तालाब हो ॥१७॥

वानराणां महत्सैन्य सुग्रीवे प्रीतिमानभूत् ।
पादयोः पतितं मूर्ध्ना तमुत्थाप्य हरीश्वरम् ॥१८॥

वानरराज की महती सेना को देख, श्रीरामचन्द्र जी सुग्रीव के ऊपर प्रसन्न हुए और पैर पर सीस रखे हुए कपिराज को उठा कर, ॥१८॥

प्रेम्णा च बहुमानाच्च राघवः परिषस्वजे ।
परिष्वज्य च धर्मात्मा निषीदेति ततोऽब्रवीत् ॥१९॥

श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े प्रेम के साथ और सम्मान पूर्वक सुग्रीव को अपनी छाती से लगा लिया और छाती से लगाने के बाद श्रीरामजी ने सुग्रीव से बैठने को कहा ॥१९॥

तं निषण्णं ततो दृष्ट्वा क्षितौ रामोऽब्रवीद्वचः ।
धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते ॥२०॥
विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम ।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते ॥२१॥
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ।
अमित्राणां वधे युक्तो मित्राणां संग्रहे रतः ॥२२॥

सुग्रीव को जमीन पर बैठा हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा। हे कपिश्रेष्ठ! जो राजा अपने समय को बाँट कर धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कार्य किया करता है, वही राजा राज्य करने योग्य होता है और जो धर्म और अर्थ त्याग कर, केवल कामासक्त हो जाता है, वह उस पुरुष की तरह है, जो वृक्ष की डाली पर सो कर, वहाँ से गिरने पर ही सचेत होता है। जो राजा शत्रु के वध में तत्पर और मित्रों के संग्रह में कटिबद्ध रहता है ॥२०॥ २१॥२२॥

त्रिवर्गफलभोक्ता तु राजा धर्मेण युज्यते ।
उद्योगसमयस्त्वेष प्राप्तः शत्रुविनाशन ॥२३॥

वह राजा धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग का भोक्ता और धर्मात्मा कहलाता है। हे शत्रुविनाशन! अब उद्योग का समय आ कर उपस्थित हुआ है ॥२३॥

सञ्चिन्त्यतांहि पिङ्गेश हरिभिः सह मन्त्रिभिः ।
एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामं वचनमब्रवीत् ॥२४॥

अत. आप अपने वानर मन्त्रियों से सलाह करो। जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार सुग्रीव से कहा, तब सुग्रीव श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥२४॥

प्रनष्टा श्रीश्च कीर्त्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
त्वत्प्रसादान्महाबाहो पुनः प्राप्तमिदं मया ॥२५॥

हे महाबाहो ! आप ही की कृपा से मुझे हाथ से निकली हुई यह राज्यलक्ष्मी, कीर्ति और पुस्तैनी कपिराज्य पुन मिला है ॥२५॥

तव देव प्रसादाच्च भ्रातुश्च जयतांवर ।
कृतं न प्रतिकुर्याद्यः पुरुषाणां स दूषकः ॥२६॥

हे देव ! और जीतने वालों मे श्रेष्ठ ! आपके और आपके भाई लक्ष्मण जी के अनुग्रह से ही मुझे राज्य मिला है। जो उपकार के बदले प्रत्युपकार नहीं करता, वह निन्द्य समझा जाता है ॥२६॥

एते वानरमुख्याश्च शतशः शत्रुसूदन ।
प्राप्ताश्चादाय बलिनः पृथिव्यां सर्ववानरान् ॥२७॥

हे शत्रुसूदन ! इन सैकड़ों वानरसेनापतियों के साथ पृथिवी के सम्पूर्ण बलवान वीर वानर एकत्र हुए हैं ॥२७॥

ऋक्षाश्चावहिताः शूरा गोलाङ्गूलाश्च राघव ।
कान्तारवनदुर्गाणामभिज्ञा घोरदर्शनाः ॥२८॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! ये रीछ, वानर, गोलाँगूल, बड़े वीर, डरावने रूप वाले और निर्जन स्थान, वन एवं दुर्गम स्थानों के भेदुआ हैं ॥२८॥

देवगन्धर्वपुत्राश्च वानराः कामरूपिणः ।
स्वैः स्वैः परिवृताः सैन्यैर्वर्तन्ते पथि राघव ॥२९॥

हे राघव ! ये सब के सब वानर कोई देवताओं के और कोई गन्धर्वों के औरस से उत्पन्न हुए हैं । इसीसे जब जैसा चाहें तब ये वैसा रूप धारण कर सकते हैं । इनमें से बहुत से अपनी अधीनस्थ सेनाओं को लिये हुए रास्ते में हैं, अर्थात् चले आ रहे हैं ॥२९॥

शतैः शतसहस्रैश्च कोटिभिश्च प्लवङ्गमाः ।
अयुतैश्चावृता वीराः शङ्कुभिश्च परन्तप ॥३०॥

अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्तैश्च वानराः ।
समुद्रैश्च परार्धैश्च हरयो हरियूथपाः ॥३१॥

आगमिष्यन्ति ते राजन् महेन्द्रसमविक्रमाः ।
मेरुमन्दरसङ्काशा विन्ध्यमेरुकृतालयाः ॥३२॥

हे परन्तप ! सैकड़ों लाखों, करोड़ों, अयुतों, शङ्खों, अर्बुदों, मध्य, अन्त्य समुद्र और अपरार्द्ध सख्यक वानर लोग और इनके यूथपति आने वाले हैं । ये सब इन्द्र के समान पराक्रमी हैं और मेरु अथवा मन्दराचल के समान डीलडौल वाले हैं । इनका वासस्थान विन्ध्याचल है ॥३०॥३१॥३२॥

ते त्वामभिगमिष्यन्ति राक्षसं ये सबान्धवम् ।
निहत्य रावणं संख्ये ह्यानयिष्यन्ति मैथिलीम् ॥३३॥

हे राजन् ! ये सब सीता की खोज में जायँगे और राक्षसों से युद्ध कर सकुटुम्ब रावण को मार, जानकी जी को आपके निकट ले आवेंगे ॥३३॥

ततस्तमुद्योगमवेक्ष्य बुद्धिमा
न्हरिप्रवीरस्य निदेशवर्तिनः ।
बभूव हर्षाद्वसुधाधिपात्मजः
प्रबुद्धनीलोत्पलतुल्यदर्शनः ॥३४॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः

बुद्धिमान् राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी अपने आज्ञाकारी कपिराज सुग्रीव की तैयारी देख, खिले हुए नील कमल की तरह प्रफुल्लित हो गए ॥३४॥

किष्किन्धाकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

इति ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो धर्मभृतां वरः ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य प्रत्युवाच कृताञ्जलिम् ॥१॥

सुग्रीव ने जब इस प्रकार कहा, तब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव को अपनी छाती से लगा लिया । फिर सुग्रीव से, जो हाथ जोड़े हुए थे, वे कहने लगे ॥१॥

यदिन्द्रो वर्षते वर्षं न तच्चित्रं भवेत्क्वचित् ।
आदित्यो वा सहस्रांशुः कुर्याद्वितिमिरं नभः ॥२॥

यदि देवराज इन्द्र जल की वर्षा करें, अथवा सहस्र किरण वाले सूर्य आकाश के अन्धकार को नष्ट कर, उसे प्रकाशित कर दें तो ये कोई आश्चर्य की बातें नहीं हैं ॥२॥

चन्द्रमा रश्मिभिः कुर्यात्पृथिवीं सौम्य निर्मलाम् ।
त्वद्विधो वाऽपि मित्राणां प्रतिकुर्यात्परन्तप ॥३॥
एवं त्वयि न तच्चित्रं भवेद्यत्सौम्य शोभनम् ।
जानाम्यहं त्वां सुग्रीव सततं प्रियवादिनम् ॥४॥

यह भी कोई विस्मयोत्पादिना बात नहीं कि, चन्द्रमा अपनी विमल किरणों से पृथिवी को सुन्दर शोभायुक्त कर दे । इसी प्रकार तुम जैसे सत्पुरुष यदि अपने मित्रों का प्रत्युपकार कर इन्द्र सूर्य, चन्द्रमा की तरह लोकहितकर शुभकर्म करो, तो इसमे कोई आश्चर्य नहीं । हे सुग्रीव ! यह मैं जानता हूँ कि, तुम सदा ही प्रिय बोला करते हो ॥३॥४॥

त्वत्सनाथः सखे संख्ये जेतास्मि सकलानरीन् ।
त्वमेव मे सुहृन्मित्रं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥५॥

मुझे यह विश्वास है कि, तुम्हारे साहाय्य से तो मैं समस्त शत्रुओं को परास्त कर दूँगा । तुम मेरे हितैषी मित्र हो, अत तुम मेरी मदद करो ॥५॥

जहारात्मविनाशाय वैदेहीं राक्षसाधमः ।
वञ्चयित्वा तु पौलोमीमनुह्लादो यथा शचीम् ॥६॥

जिस प्रकार अनुह्लाद, शची के पिता पौलोमी को धोखा दे शची को हर ले गया था और पीछे इन्द्र द्वारा मारा गया था, इसी प्रकार वह राक्षसाधम रावण अपना नाश कराने को सीता जी को हर ले गया है ॥६॥

न चिरात्तं हनिष्यामि रावणं निशितैः शरैः ।
पौलोम्याः पितरं दृप्तं शतक्रतुरिवाहवे ॥७॥

शत्रुहंता इंद्र ने जिस प्रकार शची के हरने वाले और हरने की अनुमति देने वाले शची के पिता को, जो बल के गर्व से गर्वित था, मार डाला था, मैं भी इसी प्रकार शीघ्र पैने बाणों से युद्ध में रावण को मार डालूँगा ॥७॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव रजः समभिवर्तत ।
उष्णां तीव्रां सहस्रांशोश्छादयद्गगने प्रभाम् ॥८॥

दिशः पर्याकुलाश्चासन् रजसा तेन मूर्छिता[1] ।
चचाल च मही सर्वा सशैलवनकानना ॥९॥

इतने ही में ऐसी धूल उड़ी कि, सूर्य ढक गए और ऐसा अंधकार छा गया कि, दिशाओं का ज्ञान न रहा और पर्वतों तथा जंगलों सहित पृथिवी हिल उठी ॥८॥९॥

ततो नगेन्द्रसङ्काशैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाबलैः ।
कृत्स्ना सञ्छादिता भूमिरसङ्ख्येयैः प्लवङ्गमैः ॥१०॥

देखते देखते पहाड़ जैसे विशाल शरीरधारी, पैने पैने दाँतों वाले और महाबली अगणित वानरों से सारी पृथिवी ढक गई ॥१०॥

निमेषान्तरमात्रेण ततस्तैर्हरियूथपैः ।
कोटीशतपरीवारैः कामरूपिभिरावृता ॥११॥

फिर पलक मारते ही इच्छारूपधारी सैकड़ों करोड़ यूथनाथ वानरों से पृथिवी ढक गई ॥११॥

---

१ मूर्छिता—व्याप्तवता । (गो०)

नादेयैः पार्वतीयैश्च सामुद्रैश्च महाबलैः ।
हरिभिर्मेघनिर्ह्रादैरन्यैश्च वनचारिभिः ॥१२॥

ये वानरगण नदियों के तटों पर, पर्वतों पर, समुद्रों के तटों और वनों में रहने वाले और मेघ समान गर्जने वाले थे ॥१२॥

तरुणादित्यवर्णैश्च शशिगौरैश्च वानरैः ।
पद्मकेसरवर्णैश्च श्वेतैर्मेरुकृतालयैः ॥१३॥

इनमें कितने ही तरुण सूर्य की तरह लाल रंग के, कितने ही चन्द्रमा की तरह सफेद रंग के, कितने ही कमल-केसर के (पीले) रंग के थे, (इनमें से) मेरु पर्वत वासी वानरों का श्वेत रंग था ॥१३॥

कोटीसहस्रैर्दशभिः श्रीमान् परिवृतस्तदा ।
वीरः शतबलिर्नाम वानरः प्रत्यदृश्यत ॥१४॥

दस हजार करोड़ वानरों को साथ लिये हुए, शोभायुक्त शतवली नामक वीर वानर देख पड़ा ॥१४॥

ततः काञ्चनशैलाभस्ताराया वीर्यवान् पिता ।
अनेकैर्दशसाहस्रैः कोटिभिः प्रत्यदृश्यत ॥१५॥

तदनन्तर सुमेरु पर्वताकार तारा का पिता अनेक सहस्र कोटि बंदरों को अपने साथ लिये हुए आ कर उपस्थित हुआ ॥१५॥

तथापरेण कोटीनां सहस्रेण समन्वितः ।
पिता रुमायाः सम्प्राप्तः सुग्रीवश्वशुरो विभुः ॥१६॥

एक सहस्र करोड़ वानरों को साथ लिये सुग्रीव के ससुर और रुमा के पिता आए ॥१६॥

पद्मकेसरसङ्काशस्तरुणार्कनिभाननः ।
बुद्धिमान् वानरश्रेष्ठः सर्ववानरसत्तमः ॥१७॥
अनीकैर्बहुसाहस्रैर्वानराणां समन्वितः ।
पिता हनुमतः श्रीमान् केसरी प्रत्यदृश्यत ॥१८॥

कमलकेसर की तरह रंगवाले और तरुण सूर्य की तरह लाल लाल मुख वाले बुद्धिमान और सब वानरों में श्रेष्ठ हनुमान के पिता केसरी नामक वानर अगणित कपिसेना लिये आते देख पड़े ॥१७॥१८॥

गोलाङ्गूलमहाराजो गवाक्षो भीमविक्रमः ।
वृतः कोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यत ॥१९॥

तदनन्तर गोलांगूल (गौ जैसी पूंछ वाले) वंदरों के महाराज और भीम पराक्रमी गवाक्ष नामक वानर एक हजार करोड वानरों को साथ लिये वहाँ आए ॥१९॥

ऋक्षाणां भीमवेगानां धूम्रः शत्रुनिबर्हणः ।
वृतः कोटिसहस्राभ्यां द्वाभ्यां समभिवर्तत ॥२०॥

भीम वेगवान् रीछों के राजा शत्रुहन्ता धूम्र नामक रीछ दो सहस्र करोड़ रीछों की सेना लिये हुए आए ॥२०॥

महाचलनिभैर्घोरैः पनसो नाम यूथपः ।
आजगाम महावीर्यस्तिसृभिः कोटिभिर्वृतः ॥२१॥

पर्वताकार वपुधारी और भयङ्कर पनस नामक यूथपति वानर, महाबलवान् तीन करोड़ वानरों को ले कर उपस्थित हुए ॥२१॥

नीलाञ्जनचयाकारो नीलो नामाथ यूथपः ।
अदृश्यत महाकायः कोटिभिर्दशभिर्वृतः ॥२२॥

नीलपर्वत की तरह विशाल वपुधारी नील नामक यूथपति, दस करोड़ वानरों को ले कर उपस्थित हुए ॥२२॥

ततः काञ्चनशैलाभो गवयो नाम यूथपः ।
आजगाम महावीर्यः कोटिभिः पञ्चभिर्वृतः ॥२३॥

पाँच करोड़ वानरों को लिए हुए सुवर्ण पर्वत की तरह द्युति वाले महाबली गवय नामक यूथपति उपस्थित हुए ॥२३॥

दरीमुखश्च बलवान् यूथपोऽभ्याययौ तदा ।
वृत्तः कोटिसहस्रेण सुग्रीव समुपस्थितः ॥२४॥

एक सहस्र कोटि वानरों की सेना साथ लिए हुए, दरी-मुख नामक बलवान् यूथपति सुग्रीव के समीप आ कर उपस्थित हुए ॥२४॥

मैन्दश्च द्विविदश्चोभावश्विपुत्रौ महाबलौ ।
कोटिकोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यताम् ॥२५॥

मैंद और द्विविद नामक महाबलवान् वानर अश्विनी के पुत्र एक एक हज़ार कोटि सेना साथ ले कर आए ॥२५॥

गजश्च बलवान् वीरः कोटिभिस्तिसृभिर्वृतः ।
आजगाम महातेजाः सुग्रीवस्य समीपतः ॥२६॥

बलवान् वीर गज, तीन करोड़ वानरों को साथ ले कर सुग्रीव के पास उपस्थित हुए ॥२६॥

ऋक्षराजो महातेजा जाम्बवान्नाम नामतः ।
कोटिभिर्दशभिः प्राप्तः सुग्रीवस्य वशे स्थितः ॥२७॥

रीछों के राजा महातेजस्वी जाम्बवान् दस करोड़ भालुओं को साथ ले सुग्रीव के पास आए ॥२७॥

रुमण्वान्नाम विक्रान्तो वानरो वानरेश्वरम् ।
आययौ बलवांस्तूर्णं कोटीशतसमावृतः ॥२८॥

रुमण्वान् नामक तेजस्वी और विक्रमशाली कपिराज शत-कोटि वानरों के साथ आकर अति शीघ्र उपस्थित हुए ॥२८॥

ततः कोटिसहस्राणां सहस्रेण शतेन च ।
पृष्ठतोऽनुगतः प्राप्तो हरिभिर्गन्धमादनः ॥२९॥

महापराक्रमी गन्धमादन नामक यूथपति सैकड़ों हजारों कोटि वानरों को साथ लिए हुए आए ॥२९॥

ततः पद्मसहस्रेण वृतः शङ्कुशतेन च ।
युवराजोऽङ्गदः प्राप्तः पितृतुल्यपराक्रमः ॥३०॥

अपने पिता वालि की तरह पराक्रमी युवराज अङ्गद एक हजार पद्म और एक हजार शङ्ख बदरों को साथ लिए हुए देख पड़े ॥३०॥

ततस्ताराद्युतिस्तारो हरिर्भीमपराक्रमः ।
पञ्चभिर्हरिकोटीभिर्दूरतः प्रत्यदृश्यत ॥३१॥

तारा की तरह द्युतिमान् तार नामक यूथपति पाँच करोड़ वानरी सेना के साथ दूर से आते हुए देख पड़े ॥३१॥

इन्द्रजानुः कपिर्वीरो यूथपः प्रत्यदृश्यत ।
एकादशानां कोटीनामीश्वरस्तैश्च संवृतः ॥३२॥

ग्यारह करोड़ वानरों को साथ लिए हुए वीरवर कपियूथ-इन्द्रजानु आते देख पड़े ॥३२॥

ततो रम्भस्त्वनुप्राप्तस्तरुणादित्यसन्निभः ।
अयुतेनावृतश्चैव सहस्रेण शतेन च ॥३३॥

तरुण सूर्य की तरह तेजस्वी रम्भक यूथपति सौ करोड़ वदरों को साथ लिये हुए देख पड़े ॥३३॥

ततो यूथपतिर्वीरो दुर्मुखो नाम वानरः ।
प्रत्यदृश्यत कोटिभ्यां द्वाभ्यां परिवृतो बली ॥३४॥

दुर्मुख नामक वीर यूथपति वानर, दो करोड़ वदरों को लिये हुए आते देख ॥३४॥

कैलासशिखराकारैर्वानरैर्भीमविक्रमैः ।
वृतः कोटिसहस्रेण हनुमान् प्रत्यदृश्यत ॥३५॥

कैलासशिखर की तरह विशाल शरीर धारी भयङ्कर पराक्रम वाले हनुमान जी सहस्र करोड़ वानरों को साथ ले उपस्थित हुए ॥३५॥

नलश्चापि महावीर्यः संवृतो द्रुमवासिभिः ।
कोटीशतेन सम्प्राप्तः सहस्रेण शतेन च ॥३६॥

फिर महाबली नल नामक यूथनाथ, पेड़ों पर रहने वाले सौ करोड़ एक हज़ार वानरों की सेना साथ लिये हुए आये ॥३६॥

ततो दधिमुखः श्रीमान् कोटिभिर्दशभिर्वृतः

संप्राप्तोऽभिमतस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥३७॥

तदनन्तर शोभायुक्त दधिमुख नामक यूथपति दस करोड़ वानरों के साथ महात्मा सुग्रीव के समीप आए ॥३७॥

शरभः कुमुदो वह्निर्वानरो रंह एव च ।

एते चान्ये च बहवो वानराः कामरूपिणः ॥३८॥

आवृत्य पृथिवीं सर्वां पर्वतांश्च वनानि च ।

यूथपाः समनुप्राप्तास्तेषां सख्या न विद्यते ॥३९॥

इसी तरह यथेच्छरूपधारी शरभ, कुमुद, वह्नि और रंह आदि अनेक अन्य वानरयूथपति अखिल पृथिवी, पर्वतों और वनों को ढकते हुए वहाँ आए। इनकी गिनती नहीं थी ॥३८॥३९॥

आगताश्च विशिष्टाश्च पृथिव्यां सर्ववानराः ।

आप्लुवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ॥४०॥

पृथिवी पर जो मुख्य मुख्य वानर थे, वे सब उछलते कूदते किलकारिया मारते सुग्रीव के पास आ पहुँचे ॥४०॥

अभ्यवर्तन्त सुग्रीवं सूर्यमभ्रगणा इव ।

कुर्वाणा बहुशब्दांश्च*प्रकृष्टा बलशालिनः ॥४१॥

और चारों ओर से सुग्रीव को ऐसे घेर लिया जैसे बादल सूर्य को घेर लेते हैं। आए हुए प्रकृष्ट बलशाली वानर अनेक प्रकार की बोलियाँ बोल रहे थे ॥४१॥

[टिप्पणी—सुग्रीव द्वारा किए गए इस वानरी सैन्य-संग्रह से यह अवगत होता है कि किष्किन्धाराज्य में भी सामन्त प्रथा प्रचलित थी।]

---

* पाठान्तरे "प्रहृष्टा"।

शिरोभिर्वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयन् ।
अपरे वानरश्रेष्ठाः संगम्य च यथोचितम् ॥
सुग्रीवेण समागम्य स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥४२॥

इनमें से कोई तो सिर झुका अपना आना सुग्रीव को जता रहे थे और कोई यथोचित रीति से हाथ जोड़ कर, सुग्रीव के पास जा खड़े हुए थे ॥४२॥

सुग्रीवस्त्वरितो रामे सर्वांस्तान् वानरर्षभान् ।
निवेदयित्वा धर्मज्ञः स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥४३॥

तदनन्तर सुग्रीव ने, तुरन्त ही धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी को उन सब वानरों का आगमन हाथ जोड़ कर निवेदन किया और फिर वानर-यूथपतियों से कहा ॥४३॥

यथासुखं पर्वतनिर्झरेषु
वनेषु सर्वेषु च वानरेन्द्राः ।
निवेशयित्वा विधिवद्बलानि
बलं बलज्ञः प्रतिपत्तुमीष्टे ॥४४॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः

हे समस्त वानरेन्द्रों ! पर्वतों, झरनों और वनों में जहाँ जिसको सुविधा हो, वहाँ समस्त सैनिक वानरों को ठहरा दो। फिर तुममें जो सेना की पद्धति से अभिज्ञ हो, वे सैनिकों को गिन डालें ॥४४॥

किष्किन्धाकाण्ड का उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चत्वारिंशः सर्गः

—※—

अथ राजा समृद्धार्थः[1] सुग्रीवः प्लवगाधिपः* ।
उवाच नरशार्दूलं रामं परबलार्दनम् ॥१॥

फिर समृद्धशाली कपिराज सुग्रीव ने शत्रुहन्ता, नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥१॥

आगता विनिविष्टाश्च बलिनः कामरूपिणः ।
वानरेन्द्रा† महेन्द्राभा ये मद्विषयवासिनः ॥२॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! ये इन्द्र के समान पराक्रमी एवं कामरूपी वानरगण जो मेरे राज्य के अन्तर्गत रहने वाले हैं, आ गए ॥२॥

त इमे बहुविक्रान्तैर्बलिभिः‡ भीमविक्रमैः ।
आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसन्निभाः ॥३॥

ये अनेक स्थानों में अपना बल विक्रम प्रकट कर चुके हैं। ये बड़े भीम पराक्रमी, दैत्य दानवों के समान घोर रूप वाले और बलवान समस्त वानर आ पहुँचे हैं ॥३॥

ख्यातकर्मापदानाश्च बलवन्तो जितक्लमाः ।
पराक्रमेषु विख्याता व्यवसायेषु चोत्तमाः ॥४॥

ये सब युद्धविद्या में प्रसिद्ध हैं, बड़े बलवान और कभी थकने वाले नहीं हैं। ये प्रसिद्ध पराक्रमी भी हैं और अपने कामों में कुशल हैं ॥४॥

---

१ समृद्धार्थः—प्रवृद्धसर्वसम्पत्ति । (गो०) * पाठान्तरे—"प्लवगेश्वरः ।" † पाठान्तरे—"वानरा वारणेन्द्राभा ।" ‡ पाठान्तरे "हरिभिः ।"

पृथिव्यम्बुचरा राम नानानगनिवासिनः ।
कोटयग्रश[1] इमे प्राप्ता वानरास्तव किङ्कराः ॥५॥

हे राम ! ये सब पृथिवी आकाश मे घूमने वाले, अनेक पर्वतों पर रहने वाले हैं। ये असंख्य वानर जो आए हैं, सो ये सब आप के दास हैं ॥५॥

निदेशवर्तिनः सर्वे सर्वे गुरुहिते रताः ।
अभिप्रेतमनुष्ठातुं तव शक्ष्यन्त्यरिन्दम ॥६॥

ये सब अपने बड़ों की आज्ञा मानने वाले और उनके हित में तत्पर रहने वाले हैं। हे अरिन्दम ! ये आपके इच्छानुसार सब काम कर सकते हैं ॥६॥

त इमे बहुसाहस्रैरनीकैर्भीमविक्रमैः ।
यन्मन्यसे नरव्याघ्र प्राप्तकालं तदुच्यताम् ॥७॥

सो ये कितनी ही सहस्र भीमविक्रमी सेना आपकी सेवा में उपस्थित हैं, अब आपका जैसा विचार हो, वैसी समयोचित आज्ञा दीजिए ॥७॥

त्वत्सैन्यं त्वद्वशे युक्तमाज्ञापयितुमर्हसि ।
काममेषामिदं कार्यं विदितं मम तत्वतः ॥८॥

हे राम ! यह आपकी सेना आपकी आज्ञानुवर्तिनी है, आप इसे आज्ञा दें। यद्यपि इनको आगे जो करना है वह मैं तत्वतः (सारांश रूप में) जानता हूँ (अर्थात् इनको सीता जी को ढूँढ़ना होगा) ॥८॥

---

१ कोटयग्रश इति बहुसङ्ख्योपलक्षणं । (गो०)

तथापि तु यथातत्त्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।
तथा* ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो दशरथात्मजः ॥९॥

तथापि आप इनको यथार्थरीत्या आज्ञा दीजिए। जब सुग्रीव ने इस प्रकार कहा, तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ॥९॥

बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत् ।
ज्ञायतां मम वैदेही यदि जीवति वा न वा ॥१०॥

स च देशो महाप्राज्ञ यस्मिन् वसति रावणः ।
अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ॥११॥

प्राप्तकालं विधास्यामि तस्मिन् काले सह त्वया ।
नाहमस्मिन् प्रभुः कार्ये वानरेश न लक्ष्मणः ॥१२॥

त्वमस्य हेतुः कार्यस्य प्रभुश्च प्लवगेश्वर ।
त्वमेवाज्ञापय विभो मम कार्यविनिश्चयम् ॥१३॥

सुग्रीव को गले लगा, यह वचन बोले, पहिले तो यह जान लेना है कि, जानकी जीती हैं या नहीं। फिर उस देश का पता लगानाना है, जहाँ रावण रहता है। जब जानकी जी के जीवित रहने और रावण के निवासस्थान का पता चल जायगा, तब उस समय वहाँ पहुँच कर तुम्हारी सलाह से समयानुसार उचित कार्य किया जायगा। हे वानरेश! मैं या लक्ष्मण इस कार्य को पूरा नहीं कर सकते। तुम्हीं इस कार्य को कराने वाले हो और हे वानरराज! तुम्हीं इस काम को पार लगाने वाले हो। अतः तुम्हीं इस बारे में निश्चित कार्य को समझ बूझ कर, इनको आज्ञा दो ॥१०॥११॥१२॥१३॥

* पाठान्तरे—"इति"

त्वं हि जानासि यत्कार्यं मम वीर न संशयः ।
सुहृद्द्वितीयो विक्रान्तः प्राज्ञः कालविशेषवित् ॥१४॥

हे वीर ! तुम निस्सन्देह मेरे काम को जानते हो । एक तो तुम मेरे हितैषी, दूसरे पराक्रमी, तीसरे बुद्धिमान और चौथे समय को जानने वाले हो ॥१४॥

भवानस्मद्धिते युक्तः सुहृदाप्तोऽर्थवित्तमः ।
एवमुक्तस्तु सुग्रीवो विनतं नाम यूथपम् ॥१५॥
अब्रवीद्रामसान्निध्ये लक्ष्मणस्य च धीमतः ।
शैलाभं मेघनिर्घोषमूर्जितं प्लवगेश्वरः ॥१६॥

[टिप्पणी—ऊपर के श्लोकों में 'त्वं" और १५वें में भवान" है ।]

आप मेरे हित में तत्पर सुहृद हैं तथा अर्थवेत्ता हैं । जब श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से इस प्रकार कहा, तब सुग्रीव ने, बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी ही के आगे, विनत नामक यूथपति से, जो पर्वताकार था और मेघ की तरह गरज रहा था, कहा ॥१५॥१६॥

सोमसूर्यात्मजैः सार्धं वानरैर्वानरोत्तम ।
देशकालनयैर्युक्तः कार्याकार्यविनिश्चये ॥१७॥
वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ।
अधिगच्छ दिशं पूर्वां सशैलवनकाननाम् ॥१८॥

हे वानरोत्तम ! चन्द्र सूर्य की तरह चमकने वाले वानरों को जो देश काल और नीति के जानने वाले तथा जो करने न करने कार्यों के विषय में निश्चय करने की योग्यता रखने वाले एवं

बलवान एक लक्ष वानरों को साथ ले. तुम पूर्व दिशा को जाओ और वहाँ पर पर्वतों और काननों में ॥१७॥१८॥

तत्र सीतां च वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।
मार्गध्वं गिरिशृङ्गेषु वनेषु च नदीषु च ॥१९॥

सीता जी का और रावण के आवासस्थान का पता लगाओ। इनका पता लगाने के लिए वहाँ के समस्त पर्वत-शिखरों, वनों और नदियों को ढूँढ़ो ॥१९॥

नदीं भागीरथीं रम्यां सरयूं कौशिकीं तथा ।
कालिन्दीं यमुनां रम्यां यामुनं च महागिरिम् ॥२०॥

सरस्वतीं च सिन्धुं च शोणं मणिनिभोदकम् ।
महीं कालमहीं चैव शैलकाननशोभिताम् ॥२१॥

भागीरथी गङ्गा, रमणीक सरयू, कौशिकी, कालिन्दी यमुना और रमणीक यमुनातटवर्ती विशाल पर्वत, सरस्वती, सिन्धु, मणि की तरह स्वच्छ जल वाला सोनभद्र, नदी और पर्वतों वनों सहित कालमही नदियों को ढूँढ़ो ॥२०॥२१॥

ब्रह्ममालान्विदेहांश्च मालवान् काशिकोसलाम् ।
मागधांश्च महाग्रामान् पुण्ड्रान् वङ्गांस्तथैव च ॥२२॥

ब्रह्ममाल, विदेह, मालवा काशिराज्य, कोसलराज्य, मगध, महाग्राम, पुण्ड्र, वग आदि देशों के प्रत्येक स्थान को खोजो ॥२२॥

पत्तनं कोशकाराणां भूमिं च रजताकराम् ।
सर्वमेतद्विचेतव्यं मार्गयद्भिस्ततस्ततः ॥२३॥

रामस्य दयितां भार्यां सीतां दशरथस्नुषाम् ।
समुद्रमवगाढांश्च पर्वतान् पत्तनानि च ॥२४॥

उन नगरों को भी खोजो जहाँ रेशम के कीड़े होते हैं और जहाँ चाँदी की खानें हैं। तुम इन सब प्रदेशों में घूम फिर कर सर्वत्र महाराज दशरथ की पुत्रवधू और श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी भार्या सीता को ढूँढ़ो । समुद्र के बीच जो टापू हैं, उनके पहाड़ों और नगरों में भी ढूँढ़ना ॥२३॥२४॥

मन्दरस्य च ये कोटिं संश्रिताः केचिदायताम् ।
[1]कर्णप्रावरणाश्चैव तथा चाप्योष्ठकर्णकाः ॥२५॥

घोरलोहमुखाश्चैव जवनाश्चैकपादकाः ।
अक्षया बलवन्तश्च पुरुषाः पुरुषादकाः ॥२६॥

किराताः कर्णचूडाश्च हेमाङ्गाः प्रियदर्शनाः ।
आममीनाशनास्तत्र किराता द्वीपवासिनः ॥२७॥

अन्तर्जलचरा घोरा नरव्याघ्रा इति श्रुताः ।
एतेषामालयाः सर्वे विचेयाः काननौकसः ॥२८॥

मन्दराचल पर्वत की तलहटी में जो नगर बसे हुए हैं, उन सब में भी ढूँढना । कर्णरहित, ओठों पर कानों वाले, भयङ्कर लोह मुख वाले, बड़ी तेज़ी के साथ चलने वाले, इकटंगे, अक्षय बलवाले, नरमाँसभोजी लोग, कच्ची मछलियाँ खाने वाले किरात, कानों के ऊपर चोटी रखने वाले, सुनहले रंग की देह वाले, देखने में सुन्दर, किरात द्वीपवासी, जो जल के भीतर जलजन्तुओं को

---

१ कर्णप्रावरणाः—प्राच्छादितकर्णाः । निष्कर्णा इत्यर्थः । (गो०)

तरह विचरने वाले हैं और भयङ्कर हैं तथा नख्याघ्र कह कर प्रसिद्ध हैं, उन सब के रहने के स्थानों को, हे वानरो! तुम ढूँढ़ना ॥२५॥२६॥२७॥२८॥

गिरिभिर्ये च गम्यन्ते प्लवनेन प्लवेन च ।
रत्नवन्तं यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् ॥२९॥

जिन स्थानों में पर्वतों पर से मार्ग हो अथवा जहाँ घरनयी या नाव से जा सको, वहाँ जाकर ढूँढ़ना। सात राज्यों से सुशोभित रत्नवान् यवद्वीप में भी जाना ॥२९॥

सुवर्णरूप्यकं चैव सुवर्णाकरमण्डितम् ।
यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः ॥३०॥

इस द्वीप में सोने की खानें होने से लोग इसे सोने चाँदी का द्वीप भी कहा करते हैं। यवद्वीप के आगे शिशिर नामक पर्वत है ॥३०॥

दिवं स्पृशति शृङ्गेण देवदानवसेवितः ।
एतेषां गिरिदुर्गेषु प्रपातेषु वनेषु च ॥३१॥
मार्गध्वं सहिताः सर्वे रामपत्नीं यशस्विनीम् ।
ततो रक्तजलं शोणमगाधं शीघ्रवाहिनम् ॥३२॥

इस पर्वत के शिखर आकाशस्पर्शी हैं और उन पर देवता दानव रहा करते हैं। इन सब गिरिदुर्गों, नदी के मुहानों पर और वनों में तुम सब मिल कर यशस्विनी रामपत्नी सीता का पता लगाना। फिर, लाल रंग का अगाध जल वाला और बड़ी तेज धार वाला शोण नामक नद मिलेगा ॥३१॥३२॥

गत्वा पारं समुद्रस्य सिद्धचारणसेवितम् ।
तस्य तीर्थेषु रम्येषु विचित्रेषु वनेषु च ॥३३॥

रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ।
पर्वतप्रभवा नद्यः सुरम्या बहुनिष्कुटाः* ॥३४॥

फिर समुद्र के उस पार जाना। वहाँ सिद्धों और चारणों से सेवित उसके तटों पर, रम्य विचित्र वनों में रावण सहित जानकी जी को इधर उधर तलाश करना। वहां पर पहाड़ी नदियों के तटों पर बहुत से रमणीक उद्यान हैं ॥३३॥३४॥

मार्गितव्या दरीमन्तः पर्वताश्च वनानि च ।
ततः समुद्रद्वीपांश्च सुभीमान् द्रष्टुमर्हथ ॥३५॥

उनमें तथा घाटियों में, पर्वतों पर और वनों में तुम सीता को तथा रावण के आवास स्थान को तलाश करना। तदनन्तर तुम को बड़े भयानक समुद्री टापू देख पड़ेंगे ॥३५॥

ऊर्मिवन्तं समुद्रं च क्रोशन्तमनिलोद्धतम् ।
तत्रासुरा महाकायाश्छायां गृह्णन्ति नित्यशः ॥३६॥

वहाँ पर बड़ी बड़ी लहरें उठती हैं और वायु के संयोग से समुद्र नाद करता है वहां पर बड़े बड़े शरीर वाले असुर लोग रहते हैं जो सदैव समुद्र के ऊपर वालों की छाया पकड़ लेते हैं ॥३६॥

ब्रह्मणा समनुज्ञाता दीर्घकालं बुभुक्षिताः
तं कालमेघप्रतिमं महोरगनिषेवितम् ॥३७॥

---

* निष्कुटाः—उद्यानविशेषाः। (गो०)

आकाशचारियों की छाय पकड़ने के लिए उनको ब्रह्मा जी की आज्ञा है। वे बहुत दिनों से भूखे हैं। तुम उस प्रलयकालीन मेघों के समान तथाबडे सर्पोंसे युक्त ॥३७॥

अभिगम्य महानादं [१]तीर्थेनैव महोदधिम् ।
ततो रक्तजलं भीमं लोहितं नाम सागरम् ॥३८॥

उस महानाद करते हुए समुद्र के किनारे किनारे ही जाना अथवा बड़ी सावधानी से जाना और उन छायाग्राहियों से सावधान रहना। तदनन्तर तुमको लाल जल का लोहित नामक भयङ्कर समुद्र मिलेगा ॥३८॥

गता द्रक्ष्यथ तां चैव बृहतीं कूटशाल्मलीम् ।
गृहं च वैनतेयस्य नानारत्नविभूषितम् ॥३९॥

वहाँ जाने पर तुन्हें एक बड़ा सेमर का पेड़ देख पड़ेगा। वहीं पर नाना रत्नविभूषित गरुड़ का घर बना हुआ है ॥३९॥

तत्र कैलाससङ्काशं विहितं विश्वकर्मणा ।
तत्र शैलनिभा भीमा मन्देहा नाम राक्षसाः ॥४०॥
शैलशृङ्गेषु लम्बन्ते नानारूपा भयावहाः ।
ते पतन्ति जले नित्यं सूर्यस्योदयनं प्रति ॥४१॥
निहता ब्रह्मतेजोभिरहन्यहनि राक्षसाः ।
अभितप्ताश्च सूर्येण लम्बन्ते स्म पुनः पुनः ॥४२॥

वह घर कैलास की तरह विश्वकर्मा ने बनाया है। वहाँ नानारूप धारी पर्वताकार औरभयङ्कर मन्देह नामी राक्षस पर्वत

---

१ तीर्थेनाभिगम्य—उपायोभिगम्य। (गो०)

शिखरों पर लटका करते हैं। जब सूर्य उदय होते हैं, तब सूर्य के ताप से तप्त हो नित्य ब्राह्मणों की अर्घ्याञ्जलि से ये मारे जाते हैं और सूर्य के ताप से तप्त हो, फिर पर्वतशिखर पर लटक जाते हैं ॥४०॥४१॥४२॥

ततः पाण्डुरमेघाभं क्षीरोदं नाम सागरम् ।
गता द्रक्ष्यथ दुर्धर्षा मुक्ताहारमिवोर्मिभिः ॥४३॥

तदनन्तर सफेद बादल के रंग वाला क्षीरोद नाम का समुद्र है। वहाँ जाने पर तुम देखोगे कि, वह अपनी लहरों से मोती के हार की तरह जान पड़ता है ॥४३॥

तस्य मध्ये महाश्वेत ऋषभो नाम पर्वतः ।
दिव्यगन्धैः कुसुमितै राजतैश्च नगैर्वृतः ॥४४॥

क्षीरोद समुद्र के बीच में ऋषभ नाम का एक पहाड़ है। उस पर दिव्य गन्ध युक्त फले फूले सघन पेड़ लग रहे हैं ॥४४॥

सरश्च राजतैः पद्मैर्ज्वलितैर्हेमकेसरैः ।
नाम्ना सुदर्शनं नाम राजहंसैः समाकुलम् ॥४५॥

उस पर्वत पर ही सुदर्शन नाम का एक तालाब है जिसमें सुनहले रंग के कमल के फूल सुशोभित हो रहे हैं और वहाँ राजहंस किलोलें किया करते हैं ॥४५॥

विबुधाश्चारणा यक्षाः किन्नराः साप्सरोगणाः ।
हृष्टाः समभिगच्छन्ति नलिनीं तां रिरंसवः ॥४६॥

उस सरोवर के तट पर बहुत से चारण, यक्ष किन्नर और अप्सराएँ हर्षित हो क्रीडा करने के लिए घूमा करती हैं ॥४६॥

क्षीरोदं समतिक्रम्य ततो द्रक्ष्यथ वानराः ।
जलोदं सागरश्रेष्ठं सर्वभूतभयावहम् ॥४७॥

हे वानरगण ! क्षीरसागर उतरने के बाद जलोद नामक सागर मिलेगा। यह समुद्र सब प्राणियों को भय उपजाने वाला है ॥४७॥

तत्र तत्कोपजं तेजः कृतं हयमुखं महत् ।
अस्याहुस्तन्महावेगमोदनं सचराचरम् ॥४८॥

उसमें और्व नामक ब्रह्मर्षि के क्रोध से उत्पन्न विशाल हयमुख नामक तेज उत्पन्न हुआ है। उसका अद्भुत तेज है और युगान्त में चर अचर समस्त प्राणी उसमें भात की तरह उबलते हैं ॥४८॥

तत्र विक्रोशतां नादो भूतानां सागरौकसाम् ।
श्रूयते च समर्थानां दृष्ट्वा तद्वडवामुखम् ॥४९॥

समुद्रवासी प्राणी जो उसकी लपटें सह सकते हैं, वे उस वड़वानल को देख कर, मारे डर के चिल्लाया करते हैं। उनके चिल्लाने का शब्द वहाँ सुन पड़ता है ॥४९॥

स्वादूदस्योत्तरे देशे योजनानि त्रयोदश ।
जातरूपशिलो नाम महान् कनकपर्वतः ॥५०॥

स्वाद समुद्र के उत्तर तट पर तेरह योजन विस्तार वाला, सोने की तरह प्रभाववाला एक बड़ा पहाड़ है, जिसका नाम जातरूपशिल है ॥५०॥

तत्र चन्द्रप्रतीकाशं पन्नगं धरणीधरम् ।
पद्मपत्रविशालाक्षं ततो द्रक्ष्यथ वानराः ॥५१॥

हे वानरों ! वहाँ तुम लोग चन्द्रमा की तरह सफेद रंग वाले और कमलपत्र की तरह बड़े नेत्रों वाले एक धरणीधर रूप को देखोगे ॥५१॥

आसीनं पर्वतस्याग्रे सर्वभूतनमस्कृतम् ।
सहस्रशिरसं देवमनन्तं नीलवाससम् ॥५२॥

पहाड़ के शिखर पर सब देवताओं से नमस्कृत, सहस्र मस्तकों वाले अनन्त जो नीलाम्बर धारण किए हुए बैठे रहते हैं ॥५२॥

त्रिशिराः काञ्चनः केतुस्तालस्तस्य महात्मनः ।
स्थापितः पर्वतस्याग्रे विराजति सवेदिकः ॥५३॥

उसी पर्वत के शिखर पर तीन शाखा वाला, सुनहला, ताल का वृक्ष, ध्वजाकी तरह एक वेदी पर लगा हुआ है ॥५३॥

पूर्वस्यां दिशि निर्माणं कृतं तत्त्रिदशेश्वरैः ।
ततः परं हेममयः श्रीमानुदयपर्वतः ॥५४॥

देवताओं ने पूर्व दिशा की सीमा के लिए इस ताल का वृक्ष को चिह्न स्वरूप वहाँ बना रखा है । इसके बाद कान्तिमान (अर्थात् चमकीला) सुवर्णमय उदय पर्वत है ॥५४॥

तस्य कोटिर्दिवं स्पृष्ट्वा शतयोजनमायता ।
जातरूपमयी दिव्या विराजति सवेदिका ॥५५॥

इस पर्वत का अगला शिखर आकाशस्पर्शी है और सौ योजन लंबा है । वह सोने की दिव्य वेदी सहित वहाँ विराजमान है ॥५५॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ।
जातरूपमयैर्दिव्यैः शोभते सूर्यसन्निभैः ॥५६॥

उस पर सुनहले दिव्य सूर्य की तरह चमकीले और फूले हुए साल, ताल तमाल और कनेर के पेड़ लगे हुए हैं ॥५६॥

तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ।
शृङ्गं सौमनसं नाम जातरूपमयं ध्रुवम् ॥५७॥

उस पर्वत पर सुवर्णमय एक सौमनस शिखर है जो एक योजन विस्तार वाला (लम्बा) और दस योजन ऊँचा है ॥५७॥

तत्र पूर्वं पदं कृत्वा पुरा विष्णुस्त्रिविक्रमे ।
द्वितीय शिखरे मेरोश्चकार पुरुषोत्तमः॥५८॥

पूर्वकाल मे पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ने (वामनावतार के समय) तीन पग पृथिवी नापने के समय, पहला पैर इसीके शृङ्ग पर रखा था, और दूसरा पैर मेरु पर्वत के शिखर पर ॥५८॥

उत्तरेण परिक्रम्य जम्बूद्वीप दिवाकरः ।
दृश्यो भवति भूयिष्ठ शिखर तन्महोच्छ्रयम्॥५६॥

सूर्य भगवान् उत्तर की ओर से जम्बद्वीप की परिक्रमा करते हुए इसीके उच्च शिखर पर लोगों को भली भाँति देख पड़ते हैं ॥५६॥

तत्र वैखानसा नाम वालखिल्या महर्षयः ।
प्रकाशमाना दृश्यन्ते सूर्यवर्णास्तपस्विनः ॥६०॥

वहाँ पर सूर्य के समान प्रकाशमान, वैखानस नामक बालखिल्य महर्षि तपस्या करते हुए दिखलाई पड़ते हैं ॥६०॥

अयं सुदर्शनो द्वीपः पुरो यस्य प्रकाशते ।
यस्मिंस्तेजश्च चक्षुश्च सर्वप्राणभृतामपि ॥६१॥

इसीके पास सुदर्शन नामक द्वीप देख पड़ेगा । जब इस सौमनस शिखर पर सूर्योदय होता है, तब सब प्राणियों के नेत्रों में उजाला आता है ॥६१॥

शैलस्य तस्य शृङ्गेषु कन्दरेषु वनेषु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥६२॥

उस शैल के ऊपर की कन्दराओं और वनों में रावण सहित जानकी जी तथा रावण को सर्वत्र तलाश करना ॥६२॥

काञ्चनस्य च शैलस्य सूर्यस्य च महात्मनः ।
आविष्टा तेजसा सन्ध्या पूर्वा रक्ता प्रकाशते ॥६३॥

सुवर्ण के शैल पर जब सूर्य का प्रकाश पड़ता है, तब प्रातः सन्ध्या लाल रंग की देख पड़ती है ॥६३॥

पूर्वमेतत्कृतं द्वारं पृथिव्या भुवनस्य च ।
सूर्यस्योदयनं चैव पूर्वा ह्येषा दिगुच्यते ॥६४॥

ब्रह्मा ने पूर्व में यही पूर्व दिशा रूप पृथिवी और भुवनों का द्वार बनाया । इसी दिशा में सूर्य उदय होते हैं, अतः इसे पूर्व दिशा कहते हैं ॥६४॥

तस्य शैलस्य पृष्ठेषु निर्झरेषु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥६५॥

उस उदयाचल के ऊपर के झरनों और कन्दराओं में सीता और रावण को खोजना ॥६५॥

ततः परमगम्या स्यादिक्पूर्वा त्रिदशावृता ।
रहिता चन्द्रसूर्याभ्यामदृश्या तिमिरावृता ॥६६॥

आगे देवता लोगों का निवासस्थान होने के कारण उस पवत के आगे पूर्व दिशा अगम्य है, अर्थात् जाने के योग्य नहीं है। क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश बिना वहाँ सदैव अंधकार बना रहता है और कुछ सूझ नहीं पड़ता ॥६६॥

शैलेषु तेषु सर्वेषु कन्दरेषु वनेषु च।
ये च नोक्ता मया देशा विचेया तेषु जानकी ॥६७॥

अत तुम उन पर्वतों, गुहाओं और उन नदियों के तटवर्ती स्थानो में तथा उन देशों में, जिनके नाम मैंने नहीं लिए हैं, जा कर जानकी को ढूँढना ॥६७॥

एतावद्वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः ॥६८॥

हेवानरश्रेष्ठो ! बस यहीं तक वानर लोग जा सकते हैं। इसके आगे का हाल सूर्य, का प्रकाश न होने से तथा मर्यादाहीन होने के कारण, मुझे मालूम नहीं ॥६८॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
मासे पूर्णे निवर्तध्वमुदयं प्राप्य पर्वतम् ॥६९॥

देखो सीता और रावण का पता लगा कर और उदयाचल तक जा कर, एक महीने के भीतर ही लौट आना ॥६९॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम ।
सिद्धार्थाः सन्निवर्तध्वमधिगम्य च मैथिलीम् ॥७०॥

महीने से अधिक मत लगाना। जो एक महीने के ऊपर लगा- देगा उसे मैं मार डालूंगा। खबरदार! काम पूरा कर के लौटना। जाओ और सीता का पता लगा कर आओ ॥७०॥

महेन्द्रकान्तां वनषण्डमण्डितां
दिशं चरित्वा निपुणेन वानराः।
अवाप्य सीतां रघुवंशजप्रियां
ततो निवृत्ताः सुखितो भविष्यथ ॥७१॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

इन्द्र की स्त्री, वनादिकों से भूषित, पूर्व दिशा को तुम चतुर वानर भली भांति खोजना, यदि तुम श्रीरामचन्द्र जी की प्रिय जानकी का पता लगा कर लौटोगे तो तुम सब बहुत प्रसन्न होगे ॥७१॥

किष्किन्धाकाण्ड का चालीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

ततः प्रस्थाप्य सुग्रीवस्तन्महद्वानरं बलम्।
दक्षिणां प्रेषयामास वानरानभिलक्षितान्[१] ॥१॥

कपिराज वीरवर सुग्रीव ने उस महती वानरी सेना को पूर्व दिशा की ओर भेज, कार्यसाधन में परीक्षित वानरों को दक्षिण दिशा में भेजा ॥१॥

१ अभिलक्षितान्—कार्यसाधकत्वेन परीक्षितान्। (शि०)

नीलमग्निसुतं चैव हनुमन्तं च वानरम् ।
पितामहसुतं चैव जाम्बवन्तं महाबलम् ॥२॥
सुहोत्रं च शरारिं च शरगुल्मं तथैव च ।
गजं गवाक्षं गवयं सुषेणवृषभं तथा ॥३॥
मैन्दं च द्विविदं चैव विजयं गन्धमादनम् ।
उल्कामुखमनङ्गं* च हुताशनसुतावुभौ ॥४॥
अङ्गदप्रमुखान्वीरान् वीरः कपिगणेश्वरः ।
वेगविक्रमसम्पन्नान् सन्दिदेश विशेषवित् ॥५॥

अग्निसुत नील, हनुमान और ब्रह्मा के पुत्र महाबली जाम्बवान, सुहोत्र, शरारि, शरगुल्म, गज,, गवाक्ष, गवय, सुषेण, वृषभ, मैन्द, द्विविद, विजय, गन्धमादन तथा अग्नि के दोनों पुत्र उल्कामुख और अनङ्ग को, जो वेग और पराक्रम वाले थे, कपिराज और सब देशों को विशेष रूप से जानने वाले सुग्रीव ने दक्षिण दिशा को भेजा ॥२॥३॥४॥५॥

तेषामग्रेसरं चैव महद्बलमथाङ्गदम्† ।
विधाय हरिवीराणामादिशद्दक्षिणां दिशम् ॥६॥

दक्षिण दिशा को जो वानर भेजे, उन सब के मुखिया बड़े बलवान् युवराज अंगद को बना कर, सुग्रीव ने उनको दक्षिण दिशा को भेजा ॥६॥

ये केचन समुद्देशास्तस्यां दिशि सुदुर्गमाः ।
कपीशः कपिमुख्यानां स तेषां तानुदाहरत् ॥७॥

* पाठान्तरे—"अनङ्ग ।" † पाठान्तरे "महद्बलमसङ्गमम् ।"

कपिराज सुग्रीव ने जो दिशा में जो जो देश दुर्गम थे, उनका वृत्तान्त उन वानरों के नेताओं को बतलाया ॥७॥

सहस्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुमलतायुतम् ।
नर्मदां च नदीं रम्यां* महोरगनिषेविताम् ॥८॥

तुमको सहस्र शिखर वाला विविध वृक्षों से युक्त विन्ध्याचल प्रथम मिलेगा। फिर बड़े बड़े सर्पों से युक्त और रमणीय गोदावरी नदी मिलेगी ॥८॥

ततो गोदावरीं रम्यां कृष्णवेणीं महानदीम् ।
वरदां च महाभागां महोरगनिषेविताम् ॥९॥

तदनन्तर गोदावरी और रमणीक कृष्णवेणा नदी मिलेगी। इन वर देने वाली महाभागा नदियों के आस पास बड़े बड़े सर्प रहते हैं ॥९॥

मेखलामुत्कलां चैव दशार्णनगराण्यपि ।
अश्ववन्तीमवन्तीं च सर्वमेवानुपश्यत ॥१०॥

तदनन्तर तुम लोगों को मेखल, उत्कल, दशार्ण देश के नगर, अश्ववन्ती और अवन्ती मिलेगी। इन प्रदेशों मे घूम फिर कर पता लगाना ॥१०॥

विदर्भानृषिकांश्चैव रम्यान्माहिषकानपि ।
तथा वङ्गान् कलिङ्गांश्च कौशिकांश्च समन्ततः ॥११॥

फिर तुमको विदर्भ, ऋषिक, और रमणीक माहिषक भी मिलेगा। फिर वंग, कलिङ्ग और कौशिक देश मिलेंगे। इन देशों में सर्वत्र खोज कर ॥११॥

---

* पाठान्तरे—"दुर्गां।"

अन्वीक्ष्य दण्डकारण्य सपर्वतनदीगुहम् ।
नदीं गोदावरीं चैव सर्वमेवानुपश्यत ॥१२॥

तुम लोग दण्डकारण्य के समस्त पहाड़ों, वहाँ की नदियों, गुफाओं तथा गोदावरी नदी के तटवर्ती स्थानों को खोजना ॥१२॥

तथैवान्ध्राश्च पुण्ड्रांश्च चोलान् पाण्ड्यान् सकेरलान् ।
अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः ॥१३॥

तदनन्तर आन्ध्र, पुण्ड्र चोल, पाड्य और केरल, देशो को देख, अयोमुख नामक धातुओं से मण्डित,पर्वत पर जाना ॥१३॥

विचित्रशिखरः श्रीमांश्चित्रपुष्पितकाननः ।
सचन्दनवनोद्देशो मार्गितव्यो महागिरिः ॥१४॥

यह पर्वत विचित्र शिखरो तथा अनेक फूले हुए वनों से शोभायुक्त है। इसके ऊपर चन्दन वृक्षों का वन है। सो इस महा-पर्वत पर भी ढूढ़ना ॥१४॥

ततस्तामापगां दिव्यां प्रसन्नसलिलां शिवाम् ।
तत्र द्रक्ष्यथ कावेरीं विहितामप्सरोगणैः ॥१५॥

इसके बाद तुम लोगों को दिव्य, स्वच्छ जल वाली, पुण्यतोया कावेरी मिलेगी, जिसके तटों पर अप्सराएँ विहार किया करती हैं ॥१५॥

तस्यासीनं नगस्याग्रे मलयस्य महौजसम् ।
द्रक्ष्यथादित्यसङ्काशमगस्त्यमृषिसत्तमम् ॥१६॥

फिर मलय पर्वत के शिखर पर आसीन महातेजस्वी सूर्य के समान ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्य जी मिलेंगे ॥१६॥

ततस्तेनाभ्यनुज्ञाताः प्रसन्नेन महात्मना ।
ताम्रपर्णीं ग्राहजुष्टां तरिष्यथ महानदीम् ॥१७॥

जब वे प्रसन्न हो तुमको विदा करें, तब वहाँ से चल कर घड़ियालों से परिपूर्ण ताम्रपर्णी महानदी से पार होना ॥१७॥

सा चन्दनवनैर्दिव्यैः प्रच्छन्ना द्वीपशालिनी ।
कान्तेव युवतिः कान्तं समुद्रमवगाहते ॥१८॥

इस नदी के उभय तट और इसके द्वीप (टापू) चन्दन के पेड़ों से आच्छादित हैं । यह नदी समुद्र से, वैसे ही जा कर मिलती है, जैसे कोई युवती स्त्री अपने पति से मिलती है ॥१८॥

ततो हेममयं दिव्यं मुक्तामणिविभूषितम् ।
युक्तं कवाटं पाण्ड्यानां गता द्रक्ष्यथ वानराः ॥१९॥

हे वानरो ! तदनन्तर तुम लोगों को सोने का और दिव्य मोतियों का जड़ाऊ पाण्ड्यवंशियों का फाटक देख पड़ेगा ॥१९॥

ततः समुद्रमासाद्य सम्प्रधार्यार्थनिश्चयम् ।
अगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः ॥२०॥

चित्रनानानगः श्रीमान् महेन्द्रः पर्वतोत्तमः ।
जातरूपमयः श्रीमानवगाढो महार्णवम् ॥२१॥

नानाविधैर्नगैः सर्वैर्लताभिश्चोपशोभितम् ।
देवर्षियक्षप्रवरैरप्सरोभिश्च सेवितम् ॥२२॥

सिद्धचारणसङ्घैश्च प्रकीर्णं सुमनोहरम् ।
तमुपैति सहस्राक्षः सदा पर्वसु पर्वसु ॥२३॥

तदन्तर तुम्हें समुद्र मिलेगा । उस समुद्र के पार जाने के विषय में अपनी सामर्थ्य को विचार कर, उसके पार होना । वहाँ पर अगस्त्य मुनि ने समुद्र के भीतर महेन्द्राचल पहाड़ को खड़ा कर दिया है । यह पर्वत सुवर्णमय है । इसके अनेक प्रकार के शृङ्ग लताओं से सुशोभित हैं । उस पर्वत पर देवर्षि, यक्ष, अप्सराएँ और चारण रहा करते हैं । इससे भी यह बड़ा मनोहर हो गया है । प्रत्येक पर्व पर समुद्रस्नान करने को इस पर्वत पर इन्द्र आया करते हैं ॥२०॥२१॥२२॥२३॥

द्वीपस्तस्यापरे पारे शतयोजनविस्तृतः ।
अगम्यो मानुषैर्दीप्तस्तं मार्गध्व समन्ततः ॥ २४ ॥

इस समुद्र के उस पार सौ योजन लंबा एक द्वीप है । उस द्वीप में कोई मनुष्य नहीं जा सकता उस द्वीप में भी सर्वत्र खोजना ॥२४॥

तत्र सर्वात्मना सीता मार्गितव्या विशेषतः ।
स हि देशस्तु वध्यस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥ २५ ॥
राक्षसाधिपतेर्वासः सहस्राक्षसमद्युतेः ।
दक्षिणस्य समुद्रस्य मध्ये तस्य तु राक्षसी ॥ २६ ॥
अङ्गारकेति विख्याता च्छायामाक्षिप्य भोजनी ।
एवं निःसंशयान् कृत्वा सशयान्नष्टसंशयाः ॥२७॥
मृगयध्वं नरेन्द्रस्य पत्नीममिततेजसः ।
तमतिक्रम्य लक्ष्मीवान् समुद्रे शतयोजने॥२८॥

वहाँ जा कर उसमें सब जगह विशेष कर सीता को ढूँढना । यही स्थान इन्द्रतुल्य दीप्तमान राक्षसपति दुरात्मा और वध करने

योग्य रावण का वासस्थल है। दक्षिणसमुद्र के बीच में अङ्गारिका नाम की प्रसिद्ध राक्षसी है, जो आकाशचारियों को उनकी छाया द्वारा पकड़ कर खा डाला करती है। मेरे बतलाए हुए संशययुक्त (खतरे के) स्थानों को भली भाँति देख भाल कर और सब सन्देहों को दूर कर अमित तेजस्वी नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी की भार्या सीता को खोजना। उस द्वीप को लांघ कर, सौ योजन वाले शोभायुक्त समुद्र के बीच ॥२५॥२६॥२७॥२८॥

गिरिः पुष्पितको नाम सिद्धचारणसेवितः।
चन्द्रसूर्यांशुसङ्काशः सागराम्बुसमावृतः ॥२९॥

पुष्पितक नाम का एक पहाड़ है, इस पर भी सिद्ध और चारण रहा करते हैं। यह सूर्य और चन्द्रमा की तरह कान्तिमान् चारों ओर के सागर के जल से घिरा हुआ है ॥२९॥

भ्राजते विपुलैः शृङ्गैरम्बरं विलिखन्निव।
तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गं सेवते यं दिवाकरः ॥३०॥

इस पर्वत के शिखर आकाशस्पर्शी हैं। इसके एक सोने के शृङ्ग का सूर्य भगवान् सेवन किया करते हैं ॥३०॥

श्वेतं राजतशृङ्गं* च सेवते यं निशाकरः।
न तं कृतघ्नाः पश्यन्ति न नृशंसा न नास्तिकाः॥३१॥

और उसके दूसरे चाँदी के शृङ्ग का निशानाथ चन्द्रमा सेवन किया करते हैं। इस पर्वत को कृतघ्न, नृशंस और नास्तिक लोग नहीं देख पाते ॥३१॥

प्रणम्य शिरसा शैलं तं विमार्गत वानराः।
तमतिक्रम्य दुर्धर्षाः सूर्यवान्नाम पर्वतः ॥३२॥

---

*पाठान्तरे—"राजतमेकं

अध्वना दुर्विगाहेन योजनानि चतुर्दश ।
ततस्तमप्यतिक्रम्य वैद्युतो नाम पर्वतः ॥३३॥

हे वानरो! तुम इस पर्वत को प्रणाम कर सीता जी को ढूढ़ँना। उस पर्वत के आगे जाने पर तुमको दुर्धर्ष सूर्यवान् नाम का पर्वत मिलेगा। पूर्वकथित पर्वत से यह पर्वत चौदह योजन के अन्तर पर है, किन्तु इसका मार्ग बड़ा वेढ़ा है। सूर्यवान् पर्वत के आगे तुम्हें वैद्युत नाम का पहाड़ मिलेगा ॥३२॥३३॥

सर्वकामफलैर्वृक्षैः सर्वकालमनोहरैः ।
तत्र भुक्त्वा वरार्हाणि मूलानि च फलानि च ॥३४॥

यह पर्वत सदा हरा भरा और सुन्दर बना रहता है और इसके ऊपर जो वृक्ष हैं, वे सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले फलों से लदे रहते हैं। वहाँ उन वृक्षों के अत्युत्तम फल मूलों को खा कर ॥३४॥

मधूनि पीत्वा जुष्टानि* परं गच्छत वानराः
तत्र नेत्रमनःकान्तः कुञ्जरो नाम पर्वतः ॥३५॥

और मधुपान करके तथा तृप्त हो कर आगे जाना। तब आँखों को और मन को आनन्द देने वाला कुञ्जर नामक एक पर्वत मिलेगा ॥३५॥

अगस्त्यभवनं यत्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।
तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ॥३६॥

इसी पर्वत पर विश्वकर्मा का बनाया हुआ अगस्त ऋषि का एक भवन है। यह भवन एक योजन लंबा और दस योजन ऊँचा है ॥३६॥

*पाठान्तरे—"मुख्यानि।"

शरणं काञ्चनं दिव्यं नानारत्नविभूषितम् ।
तत्र भोगवती नाम सर्पाणामालयः पुरी ॥३७॥

यह भवन सोने का है और अनेक रत्नों से भूषित है । वहां पर सर्पों की भोगवती नाम की पुरी है ॥३७॥

विशालकक्ष्या दुर्धर्षा सर्वतः परिरक्षिता ।
रक्षिता पन्नगैर्घोरैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाविषैः ॥३८॥

इस पुरी की गलियाँ बड़ी बड़ी हैं । यह दुर्धर्ष है । क्योंकि चारों ओर से बड़े बड़े भयङ्कर और पैने दाँतों वाले महाविषधर सर्पों से यह सुरक्षित है ॥३८॥

सर्पराजो महाप्राज्ञो यस्यां वसति वासुकिः ।
निर्याय मार्गितव्या च सा च भोगवती पुरी ॥३९॥

यहीं पर बड़े बुद्धिमान सर्पों के राजा वासुकि रहा करते हैं । वहाँ जा कर उस भोगवतीपुरी में भी सीता को ढूँढना ॥३९॥

तत्र चानन्तरा देशा ये केचन सुसंवृताः ।
तं च देशमतिक्रम्य महानृषभसंस्थितः ॥४०॥

वहाँ पर अनेक ऐसे देश हैं, जो छिपे हुए हैं अर्थात जिन्हें बहुत कम लोग जानते हैं । उनमें जा कर ढूँढना । इस देश के आगे तुम्हें बैल के आकार का ऋषभ नामक पर्वत देख पड़ेगा ॥४०॥

सर्वरत्नमयः श्रीमानृषभो नाम पर्वतः ।
गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ॥४१॥

शरण—गृहं । (गो०)

इस ऋषभ पर्वत में सब प्रकार के रत्न हैं और यह बड़ा शोभायमान है। इसके ऊपर गोरोचन के रंग का पद्मपत्र के रंग का, तमालदल वर्ण का चन्दन उत्पन्न होता है ॥४१॥

दिव्यमुत्पद्यते यत्र तच्चैवाग्निसमप्रभम्।
न तु तच्चन्दनं दृष्ट्वा स्प्रष्टव्यं च कदाचन ॥४२॥

जहाँ पर यह दिव्य चन्दन उत्पन्न होता है, वहीं पर अग्नि के समान रंग का चन्दन भी पैदा होता है। उस चन्दन को देख कर, उसे कभी मत छूना ॥४२॥

रोहिता नाम गन्धर्वा घोरा रक्षन्ति तद्वनम्।
तत्र गन्धर्वपतयः पञ्च सूर्यसमप्रभाः ॥४३॥

क्योंकि रोहित नामक भयङ्कर गन्धर्व उस वन की रक्षा किया करते हैं। ये पाँच गन्धर्वों के स्वामी सूर्य के समान प्रभा वाले हैं ॥४३॥

शैलूषो ग्रामणीः शिग्रुः शुभ्रो बभ्रुस्तथैव च।
रविसोमाग्निवपुषां निवासः पुण्यकर्मणाम् ॥४४॥

उन पाँच के नाम हैं शैलूष, ग्रामणी, शिग्रु, शुभ्र, और बभ्रु। वहाँ पर सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि जैसे शरीरधारी पुण्यात्मा जन रहा करते हैं ॥४४॥

अन्ते पृथिव्या दुर्धर्षास्तत्र स्वर्गजितः स्थिताः।
ततः परं न वः सेव्यः पितृलोकः सुदारुणः ॥४५॥

इसके आगे पृथिवी का अन्त है। यहाँ पर बड़े दुर्धर्ष लोग जिन्होंने अपने पुण्य के बल से स्वर्ग सम्पादन कर लिया है,

वास करते हैं। इसके आगे दारुण पितृलोक है, जहाँ मनुष्य लोग नहीं जा सकते ॥४५॥

राजधानी यमस्यैषा कष्टेन तमसा वृता।
एतावदेव युष्माभिर्वीरा वानरपुङ्गवाः ॥४६॥

वहाँ पर अंधकार से आच्छादित यमराज की राजधानी (संयमिनी पुरी) है। वहाँ पर तुम क्षणमात्र भी नहीं ठहर सकते हे वानरश्रेष्ठों! बस यहीं तक तुम लोग जा सकोगे ॥४६॥

शक्यं विचेतुं गन्तुं वा नातो गतिमतां गतिः।
सर्वमेतत्समालोक्य यच्चान्यदपि दृश्यते ॥४७॥

इससे आगे और फिर मनुष्यादि कोई भी नहीं जा सकते। जो जो स्थान मैंने बतलाए, वे सब तथ अन्य स्थानों में जो तुम्हें मिलें ढूँढना ॥४७॥

गतिं विदित्वा वैदेह्याः सन्निवर्तितुमर्हथ।
यस्तु मासान्निवृत्तोऽग्रे दृष्टा सीतेति वक्ष्यति ॥
मत्तुल्यविभवो भोगैः सुखं स विहरिष्यति ॥४८॥

सीता जी का पता लगा कर तुम लोग लौट आओ। एक मास के भीतर जो मुझसे सीता के देखने का संवाद देगा वह मेरे सदृश विभव पा कर, अनेक प्रकार के भोगों और सुखों का उपभोग करता हुआ, विहार करेगा ॥४८॥

ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद्विशेषतः।
कृतापराधो बहुशो मम बन्धुर्भविष्यति ॥४९॥

और इससे बढ़ कर मेरा प्राणप्रिय दूसरा न होगा। वह यदि कितना ही अपराध क्यों न करे, मैं उसे अपना बन्धु ही मानूँगा ॥४९॥

[टिप्पणी—सुग्रीव ने अपनी इस प्रतिज्ञा को उस समय अक्षरशः पूरा किया था। जिस समय वानरगण सीता का पता लगा किष्किन्धा में आए और सुग्रीव का मधुवन नामक बाग़ विध्वंस किया था।]

अमितबलपराक्रमा भवन्तो
विपुलगुणेषु कुलेषु च प्रसूताः।
मनुजपतिसुतां यथा लभध्वं
तदधिगुणं पुरुषार्थमारभध्वम् ॥५०॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे वानरो! आप लोग अमित बल विक्रम वाले और बड़े गुणवान हैं तथा आपका जन्म उत्तम कुल में हुआ है। इस समय आप सब ऐसा पुरुषार्थ कर के दिखलाइए जिससे श्रीरामचन्द्र जी की भार्या सीता जी मिल जाँय ॥५०॥

किष्किन्धाकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

अथ प्रस्थाप्य सुग्रीवस्तान्हरीन्दक्षिणां दिशम्।
अब्रवीन्मेघसङ्काशं सुषेणं नाम यूथपम् ॥१॥

उन समस्त वानरों को दक्षिण दिशा में भेज, मेघ के समान डीलडौल वाले सुषेण नामक यूथपति से सुग्रीव कहने लगे ॥१॥

तारायाः पितरं राजा श्वशुरं भीमविक्रमम्।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यमभिगम्य प्रणम्य च ॥२॥

सुषेण, तारा के पिता थे और वालि के ससुर थे बड़े भ विक्रमशाली थे। अतः सुग्रीव उनके पास जा, प्रणाम कर हाथ जोड़ कर उनसे बोले ॥२॥

मरीचिपुत्रं मारीचमर्चिष्मन्तं महाकपिम्।
वृतं कपिवरैः शूरैर्महेन्द्रसदृशद्युतिम् ॥३॥

महर्षि मारीच के पुत्र अर्चिष्मान् नामक महावानर से सुग्रीव ने कहा। यह वानर अति शूर था, इसके अनुयायी से वानर भी थे। इसका शरीर महेन्द्राचल की तरह बड़ा चौड़ा था और इसके चेहरे पर तेज विराजमान था ॥३॥

बुद्धिविक्रमसम्पन्नं वैनतेयसमं जवे*।
मरीचिपुत्रान्मारीचानर्चिर्मालान्महाबलान् ॥४॥

यह बड़ा बुद्धिमान और पराक्रमी था और तेज चल गरुड़ के समान था। यह महर्षि मरीच का पुत्र था। और नाम अर्चिष्मान् था। यह देदीप्यमान माला पहिने हुए था महाबलवान था ॥४॥

ऋषिपुत्रांश्च तान् सर्वान् प्रतीचीमादिशद्दिशम्।
द्वाभ्यां शतसहस्राभ्यां कपीनां कपिसत्तमाः ॥५॥
सुषेणप्रमुखा यूय वैदेहीं परिमार्गत।
सुराष्ट्रान् सहबाह्लीकान् चन्द्र चित्रांस्तथैवं च ॥६
स्फीताजन् नपदान् रम्यान् विपुलानि पुराणि च
पुन्नागगहनं कुक्षिं वकुलोद्दालकाकुलम् ॥७॥

तथा केतकषण्डांश्च मार्गध्वं हरियूथपाः ।
प्रत्यक्स्रोतोगमाश्चैव नद्यः शीतजलः शिवाः ॥८॥
तापसानामरण्यानि कान्तारा गिरयश्च ये ।
ततः स्थलीं मरुप्रायामत्युच्चशिरसः शिलाः ॥९॥
गिरिजालावृतां दुर्गां मार्गित्वा पश्चिमां दिशम् ।
ततः पश्चिममासाद्य समुद्रं द्रष्टुमर्हथ ॥१०॥

इन ऋषिपुत्र को तथा उसके अनुयायी वानरों को पश्चिम दिशा में जाने की सुग्रीव ने आज्ञा दी। सुग्रीव बोले—हे वानरो! तुम लोग सुषेण को अपना नेता बनाकर, दो लाख वानरों के साथ जा कर सीता का पता लगाओ। हे कपियूथपतियो! तुम लोग सौराष्ट्र, बाह्लीक और चन्द्रचित्र नामक बड़े बड़े रमणीय और पुराने जन-पदों में, नागकेसर के जगल वाले देशों में, मौलसिरी तथा लसोड़े के जगलों मे साता को खोजो। पश्चिमवाहिनी नदियों तटवर्ती स्थानों में, तपस्वियों के वनों में, बड़े दुर्गम पर्वतो पर, मरु देशों में अति ऊँची शिलाओं पर तथा पर्वतमाला से युक्त दुर्गम भूमि वाली पश्चिम दिशा को देखने के बाद पश्चिम समुद्र के तट पर आकर ढूँढ़ना ॥५॥६॥७॥८॥९॥१०॥

तिमिनक्रायुतजलमक्षोभ्यमथ वानराः ।
ततः केतकषण्डेषु तमालगहनेषु च ॥११॥

इस समुद्र मे बड़े बड़े तिमिङ्गल मच्छ और नाके मगर भरे हुए हैं। इस समुद्र के तटवर्ती केवड़े और तमालों के वनों मे ॥११॥

कपयां विहरिष्यन्ति नारिकेलवनेषु च ।
तत्र सीतां च मार्गध्वं निलय रावणस्य च ॥१२॥

तथा नारियल के वनो मे, जहाँ वानर घूमाफिरा करते हैं, सीता और रावण के आवास-स्थान की तलाश करना ॥१२॥

वेलातटनिविष्टेषु पर्वतेषु वनेषु च ।
मुरचीपत्तनं चैव रम्यं चैव जटीपुरम् ॥१३॥
अवन्तीमङ्गलोपां च तथा चालक्षितं वनम् ।
राष्ट्राणि च विशालानि पत्तनानि ततस्ततः ॥१४॥

समुद्र तटवर्ती समस्त पर्वत, वन और मुरचीपत्तन, रमणीक जटीपुर, अवती, अगलोपा, अलक्षित नामक वन भी देखना। फिर राष्ट्रों मे तथा बड़े बड़े नगरों मे भी ढूँढना ॥१३॥१४॥

सिन्धुसागरयोश्चैव सङ्गमे तत्र पर्वतः ।
महान् हेमगिरिर्नाम शतशृङ्गो महाद्रुमः ॥१५॥

जहाँ पर सिन्धु नद और बड़े समुद्र का सङ्गम होता है, वहाँ पर एक पहाड़ है। उसका नाम है हेमगिरि और उस पर सौ शिखर हैं। उस पर एक बड़ा वृक्ष है ॥१५॥

तस्य प्रस्थेषु रम्येषु सिंहाः पक्षगमाःस्थिताः ।
तिमिमत्स्यगजांश्चैव नीडान्यारोपयन्ति ते ॥१६॥

उसके रमणीकशिखर पर पक्षधारी सिंह हैं, जो तिमि मच्छ जैसे बड़े भारी जल जीवों और हाथियों को उठा करअपने घोसलों में ले जाते हैं ॥१६॥

तानि नीडानि सिंहानां गिरिशृङ्गगताश्च ये ।
दृप्तास्तृप्ताश्च मातङ्गास्तोयदस्वननिःस्वनाः ॥१७॥

विचरन्ति विशालेऽस्मिंस्तोयपूर्णे समन्ततः
तस्य शृङ्गं दिवस्पर्शं काञ्चनं चित्रपादपम् ॥१८॥

इन सिंहों के घोंसले उसी पहाड़ के शिखरों पर बने हुए हैं। इस पर्वत के चारों ओर जल है। और इसी पर्वत के शिखर पर बड़े मोटे ताजे मदमस्त गज, जो मेघ की तरह चिंघारते हैं घूमा फिरा करते हैं। उसका एक शिखर जो सुवर्णमय आकाशस्पर्शी है और उसके ऊपर चित्रविचित्र पेड़ लगे हुए हैं ॥१७॥१८॥

सर्वमाशु विचेतव्यं कपिभिः कामरूपिभिः।
कोटिं तत्र समुद्रे तु काञ्चनीं शतयोजनाम् ॥१९॥

इस पर्वत पर तुम सब वानर आवश्यक रूप धारण कर भली भाँति ढूँढ लेना। इसी समुद्र में पारिमात्र नामक पहाड़ की सुवर्णमयी चोटी शतयोजन लंबी है ॥१९॥

दुर्दर्शां पारियात्रस्य गता द्रक्ष्यथ वानराः।
कोट्यस्तत्र चतुर्विंशद्गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ॥२०॥

हे वानरो! वहाँ जाने पर इस चोटी का देखना दुर्गम होने पर भी तुम लोग उसे देख सकोगे। उस चोटी पर चौबीस करोड़ बड़े बलवान गन्धर्व रहा करते हैं ॥२०॥

वसन्त्यग्निनिकाशानां महतां कामरूपिणाम्।
पावकार्चिःप्रतीकाशाः समवेताः सहस्रशः ॥२१॥

वहाँ के रहने वाले गन्धर्व अग्नि की तरह दीप्यमान और बड़े इच्छारूपधारी हैं। वे अग्निशिखर की तरह प्रकाशित हो, चारों ओर घूमा करते हैं ॥२१॥

नात्यासादयितव्यास्ते वानरैर्भीमविक्रमैः ।
नादेयं च फलं तस्माद्देशात्किञ्चित्प्लवङ्गमैः ॥२२॥

यद्यपि तुम लोग भी बड़े पराक्रमी हो, तथापि न तो उनके पास जाना और न उनसे छेड़छाड़ करना। वहाँ के फल भी मत लेना ॥२२॥

दुरासदा हि ते वीराः सत्त्ववन्तो महाबलाः
फलमूलानि ते तत्र रक्षन्ते भीमविक्रमाः ॥२३॥

क्योंकि वहाँ के गन्धर्व बड़े वीर दुर्धर्ष और बलवान् हैं। वे भीम पराक्रमी गन्धर्व, वहाँ जो फल हैं, उनकी रखवाली करते हैं ॥२३॥

तत्र यत्नश्च कर्तव्यो मार्गितव्या च जानकी ।
न हि तेभ्यो भयं किञ्चित्कपित्वमनुवर्तताम् ॥२४॥

वहाँ जानकी को भली भाँति यत्नपूर्वक खोजना। उनसे डरना मत। क्योंकि बन्दरपन दिखलाने से वे तुमसे न बोलेंगे ॥२४॥

तत्र वैडूर्यवर्णाभो वज्रसंस्थानसंस्थितः ।
नानाद्रुमलताकीर्णो वज्रो नाम महागिरिः ॥२५॥
श्रीमान् समुदितस्तत्र योजनानां शतं समम् ।
गुहास्तत्र विचेतव्याः प्रयत्नेन प्लवङ्गमाः ॥२६॥

हे वानरो! वहाँ पर वैडूर्यमणि के रंग का और हीरे जैसी चमकवाला तथा अनेक प्रकार के पेड़ों से युक्त शतयोजन चौड़ा और शोभायमान वज्र नाम का एक बड़ा पहाड़ है। उस पर्वत की सब गुफाएँ देखना ॥२५॥२६॥

---

१ नादेयं—नग्रहीतव्यं। (गो०)

चतुर्भागे१ समुद्रस्य२ चक्रवान्नाम पर्वतः ।
तत्र चक्रं सहस्रारं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥२७॥

खारी समुद्र के चतुर्थ भाग में चक्रवान नामक एक पर्वत है। उस पर्वत पर विश्वकर्मा ने हज़ार आरों का एक चक्र बनाया था ॥२७॥

तत्र पञ्चजनं हत्वा हयग्रीवं च दानवम् ।
आजहार ततश्चक्रं शङ्खं च पुरुषोत्तमः ॥२८॥

वहीं पर पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ने पञ्चजन और हयग्रीव नाम के दो दानवों को मार कर, शङ्ख और चक्र ग्रहण किये ॥२८॥

तस्य सानुषु चित्रेषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥२९॥

इस पर्वत के शृङ्गों और इसकी बड़ी बड़ी गुफाओं में सीता जी तथा रावण का पता लगाना ॥२९॥

योजनानां ततः षष्टिर्वराहो नाम पर्वतः ।
सुवर्णशृङ्गः सुश्रीमानगाधे वरुणालये ॥३०॥

इसके आगे अगाध समुद्र में साठ योजन की ऊँचाई वाला सुवर्ण शिखर वाला वराह नाम का एक बड़ा सुन्दर पर्वत है ॥३०॥

---

१ चतुर्भागे—चतुर्थभागे । (गो०) २ समुद्रस्य—लवणसमुद्रस्य (गो०)

तत्र प्राग्ज्योतिषं नाम जातरूपमयं पुरम् ।
यस्मिन् वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः ॥२१॥

इसी पर्वत पर सुवर्णमय प्राग्ज्योतिष नामक एक नगर है, जिसमें नरक नाम का दुष्टात्म दानव रहता है ॥२१॥

तत्र सानुषु चित्रेषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥२२॥

उस पर्वत के चित्रविचित्र शिखरों तथा विशाल गुफाओं में रावणसहित जानकी को ढूंढना ॥२२॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं काञ्चनान्तरनिर्दरः ।
पर्वतः सर्वसौवर्णो धाराप्रस्रवणायुतः ॥२३॥

उस सुवर्णगर्भ पर्वतराज को पार करने पर धाराओं और झरनों से भूषित सर्वसौवर्ण नाम का एक पर्वत मिलेगा ॥२३॥

तं गजाश्च वराहाश्च सिंहा व्याघ्राश्च सर्वतः ।
अभिगर्जन्ति सततं तेन शब्देन दर्पिताः ॥२४॥

उस पहाड़ पर सुअर, सिंह, व्याघ्रादि जंगली जानवर सदा ही अपनी बोली की प्रतिध्वनि सुन और अहङ्कार से युक्त हो, गर्जा करते हैं ॥२४॥

यस्मिन् हरिहयः[१] श्रीमान् महेन्द्रः पाकशासनः ।
अभिषिक्तः सुरै राजा मेघवान्नाम पर्वतः ॥२५॥

---

१ हरिहयः—श्यामवर्णाश्वयुक्त । (गो०)

इसके आगे तुम्हें मेघवान् नाम का एक पहाड़ मिलेगा। इसी पर श्यामवर्ण के घोड़ों से युक्त, शोभायमान इन्द्र का देवताओं ने सुर-राज्य पर अभिषेक किया था ॥३५॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्र महेन्द्रपरिपालितम् ।
षष्टिं गिरिसहस्राणि काञ्चनानि गमिष्यथ ॥३६॥

इन्द्रपालित इस शैलेन्द्र को नाँघने पर, तुमको सोने के साठ हज़ार पर्वत मिलेंगे ॥३६॥

तरुणादित्यवर्णानि भ्राजमानानि सर्वतः ।
जातरूपमयैर्वृक्षैः शोभितानि सुपुष्पितैः ॥३७॥

इस पर्वतमाला का प्रकाश चारों ओर मध्याह्न कालीन सूर्य की तरह बड़ा चमकीला है। यहाँ पर सुवर्णमय और पुष्पित वृक्ष सुशोभित हैं ॥३७॥

तेषां मध्ये स्थितो राजा मेरुरुत्तरपर्वतः ।
आदित्येन प्रसन्नेन शैलो दत्तवरः पुरा ॥३८॥
तेनैवमुक्तः शैलेन्द्रः सर्व एव त्वदाश्रयाः ।
मत्प्रसादाद्भविष्यन्ति दिवा रात्रौ च काञ्चनाः ॥३९॥

इनके मध्य में सुमेरु नामक पर्वतराज है। सूर्य ने प्रसन्न हो कर इसको यह वरदान दिया है कि, तुम्हारे आश्रित जो पर्वत रहेंगे वे भी मेरी कृपा से, क्या दिन में और क्या रात में सदा सुनहले देख पड़ेंगे ॥३८॥३९॥

त्वयि ये चापि वत्स्यन्ति देवगन्धर्वदानवाः ।
ते भविष्यन्ति रक्ताश्च प्रभया काञ्चनप्रभाः ॥४०॥

तेरे ऊपर जो कोई देवता, दानव गन्धर्व रहेंगे, वे सुवर्ण की तरह लाल दिखलाई पड़ेंगे ॥४०॥

विश्वेदेवाश्च मरुतो वसवश्च दिवौकसः ।
आगम्य पश्चिमां सन्ध्यां मेरुमुत्तरपर्वतम् ॥४१॥
आदित्यमुपतिष्ठन्ति तैश्च सूर्योऽभिपूजितः ।
अदृश्यः सर्वभूतानामस्तं गच्छति पर्वतम् ॥४२॥

इस पर्वत पर विश्वेदेव, वसु, और मरुत तथा अन्यदेव सब सन्ध्या के समय आ कर सूर्यदेव की उपासना करते हैं। सूर्य देवता उनसे पूजे जा कर और सब जीवों की दृष्टि से अदृश्य हो अस्ताचलगामी होते हैं ॥४१॥४२॥

योजनानां सहस्राणि दश तानि दिवाकरः ।
मुहूर्तार्धेन तं शीघ्रमभियाति शिलोच्चयम् ॥४३॥

उस समय सूर्य अर्ध मुहूर्त मे बड़ी शीघ्रता से दस हजार योजन चल कर, अस्ताचल पर पहुँच जाते हैं ॥४३॥

शृङ्गे तस्य महद्दिव्यं भवनं सूर्यसन्निभम् ।
प्रासादगणसम्बाधं विहितं विश्वकर्मणा ॥४४॥

उस पर्वत के शिखर पर बड़ा दिव्य, सूर्य के समान चमकीला कई खनों (मञ्जिलों) वाला भवन, विश्वकर्मा का बनाया हुआ है ॥४४॥

शोभितं तरुभिश्चित्रैर्नानापक्षिसमाकुलैः ।
निकेतं पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥४५॥

वह भाँति भाँति के चित्रविचित्र वृक्षों पक्षियों से परिपूर्ण है। यह ही पाशहस्त वरुण जी का स्थान है ॥४५॥

अन्तरा मेरुमस्तं च तालो दशशिरा महान् ।
जातरूपमयः श्रीमान् भ्राजते चित्रवेदिकः ॥४६॥

आगे मेरु और अस्ताचल के बीच मे दश डालियों का, सुवर्णमय, अत्यन्त मनोहर और विचित्र वेदिकायुक्त एक ताल का पेड़ है ॥४६॥

तेषु सर्वेषु दुर्गेषु सरस्सु च सरित्सु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥४७॥

वहाँ के समस्त दुगम स्थानों मे, सरोवरों और नदियों के तटवर्ती प्रदेशों में, सीता सहितरावण को खोजना ॥४७॥

यत्र तिष्ठति धर्मज्ञस्तपसा स्वेन भावितः ।
मेरुसावर्णिरित्येव ख्यातो वै ब्रह्मणा समः ॥४८॥

वहीं पर ब्रह्मा जी के समान तेजस्वी और अपने तेज से प्रकाशित धर्मात्मा मेरुसावर्णि नाम के एक विख्यात महर्षि रहते हैं ॥४८॥

प्रष्टव्यो मेरुसावर्णिर्महर्षिः सूर्यसन्निभः ।
प्रणम्य शिरसा भूमौ प्रवृत्तिं मैथिलीं प्रति ॥४९॥

उन सूर्य के समान तेजस्वी महर्षि मेरुसावर्णि को पृथिवी पर माथा टेक कर प्रणाम करना और उनसे जानकी जी के बारे में पूछना ॥४९॥

एतावज्जीवलोकस्य भास्करो रजनीक्षये ।
कृत्वा वितिमिरं सर्वमस्तं गच्छति पर्वतम् ॥५०॥

बस यहीं तक जीवलोक में, रात के बीत जाने पर, सूर्य नारायण उदयाचल पर्वत से मेरुसावर्णि तक अन्धकार का नाश कर, अस्ताचल को चले जाते हैं ॥५०॥

एतावद्वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥५१॥

हे वानरोत्तम! बस यहीं तक वानरगण जा सकते हैं। इससे आगे का हाल सूर्य का प्रकाश न होने तथा भूभाग की मर्यादा (का पता) न होने के कारण, मुझे नहीं मालूम ॥५१॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च ।
अस्तं पर्वतमासाद्य पूर्णे मासे निवर्तत ॥५२॥

तुम लोग अस्ताचल तक जा कर, सीता का तथा रावण के आवासस्थान का पता लगा कर, एक मास पूरा होते होते लौट आना ॥५२॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन्वध्यो भवेन्मम ।
सहैव शूरो युष्माभिः श्वशुरो मे गमिष्यति ॥५३॥

एक मास से अधिक मत लगाना। जो कोई लगावेगा उसे मैं मार डालूंगा। तुम्हारे साथ मेरे यह शूरवीर ससुर जांयगे ॥५३॥

श्रोतव्यं सर्वमेतस्य भवद्भिर्दिष्टकारिभिः ।
गुरुरेष महाबाहुः श्वशुरो मे महाबलः ॥५४॥

अब आप सब इनके कहने में चलना। जो कुछ यह कहें, उसे सुनना। क्योंकि मेरे यह महाबाहु ससुर पूज्य हैं और महाबलवान् हैं ॥५४॥

भवन्तश्चापि विक्रान्ताः प्रमाणं[१]सर्वकर्मसु ।
प्रमाणमेन संस्थाप्य पश्यध्वं पश्चिमां दिशम् ॥५५॥

यद्यपि आप लोग भी पराक्रमी और सब कार्यों की व्यवस्था करने वाले हैं, तथापि आप इनको अपना व्यवस्थापक बना कर पश्चिम दिशा में सीता और रावण के आवासस्थान की खोज का कार्य करना ॥५५॥

दृष्टायां तु नरेन्द्रस्य पत्न्याममिततेजसः ।
कृतकृत्या भविष्यामः कृतस्य प्रतिकर्मणा ॥५६॥

इन अतुलित तेजसम्पन्न नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी की भार्या का पता लगा देने से हम सब कृतकृत्य हो जाँयगे और इनके उपकार का बदला भी चुक जायगा ॥५६॥

अतोऽन्यदपि *यत्किञ्चित्कार्यस्यास्य हितं भवेत् ।
सम्प्रधार्य भवद्भिश्च देशकालार्थसंहितम् ॥५७॥

अतएव मेरे कथन के अतिरिक्त यदि कोई हितकर काम जान पड़े तो उसे भी देश, काल और अर्थ का विचार कर, करना ॥५७॥

ततः सुषेणप्रमुखाः प्लवङ्गाः
सुग्रीववाक्यं निपुणं निशम्य ।
आमन्त्र्य सर्वे प्लवगाधिपं ते
जग्मुर्दिशं तां वरुणाभिगुप्ताम् ॥५८॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

---

१ प्रमाण—व्यवस्थापक । (गो०) *पाठान्तरे—"यत्कार्यं ।"

तब सुषेणादि निपुण वानर कपिराज सुग्रीव के वचन सुन, और उनसे आज्ञा ले, वरुण से रक्षित पश्चिम दिशा को चले गए ॥५८॥

किष्किन्धाकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—❀—

ततः सन्दिश्य सुग्रीवः श्वशुरं पश्चिमां दिशम् ।
वीरं शतवलिं नाम वानरं वानरर्षभः ॥१॥

सुग्रीव ने अपने ससुर सुषेण को पश्चिम दिशा में भेजा । तदनन्तर शतवलि नामक वानरश्रेष्ठ की ओर देख कर, ॥१॥

उवाच राजा धर्मज्ञः सर्ववानरसत्तमम् ।
वाक्यमात्महितं चैव रामस्य च हितं तथा ॥२॥

धर्मज्ञ कपिराज सुग्रीव ने उन समस्त वानरोत्तमों से ऐसे वचन कहे, जो अपने और श्रीरामचन्द्र जी के हित के लिए थे ॥२॥

वृतः शतसहस्रेण त्वद्विधानां वनौकसाम् ।
वैवस्वतसुतैः सार्धं प्रतिष्ठस्व स्वमन्त्रिभिः ॥३॥

सुग्रीव ने कहा—तुम अपने मेल के या पसंद के एक लाख वानरों को साथ ले तथा अपने समस्त यमसुत मंत्रियों सहित यात्रा करो ॥३॥

दिशं ह्युदीचीं विक्रान्तां हिमशैलावतंसकाम् ।
सर्वतः परिमार्गध्वं रामपत्नीमनिन्दिताम् ॥४॥

तुम हिमालय पर्वत से भूषित उत्तर दिशा में सर्वत्र श्रीरामचन्द्र जी की पत्नी अनिन्दिता सीता का पता लगाओ ॥४॥

अस्मिन् कार्ये विनिर्वृत्ते कृते दाशरथेः प्रिये ।
ऋणान्मुक्ता भविष्यामः कृतार्थार्थविदांवराः ॥५॥

हे विदांवरो (जानने वालों में श्रेष्ठ)! श्रीरामचन्द्र जी का यह प्रिय कार्य पूरा हो जाने पर, हम सब उनके ऋण से उऋण हो, कृतार्थ होंगे ॥५॥

कृतं हि प्रियमस्माकं राघवेण महात्मना ।
तस्य चेत्प्रतिकारोऽस्ति सफलं जीवितं भवेत् ॥६॥

देखो, श्रीरामचन्द्रजी ने हमारा मनोभिलषित कार्य पूरा किया है, सो यदि हमलोग प्रत्युपकार द्वारा उनका कुछ भी बदला चुका सकें, तो हमारा जीवन सफल हो ॥६॥

अर्थिनः कार्यनिर्वृत्तिमकर्तुरपि यश्चरेत् ।
तस्य स्यात्सफलं जन्म किं पुनः पूर्वकारिणः ॥७॥

जिसने अपना कोई उपकार नहीं किया, यदि उसका भी कोई उपकार कर दिया जाय तो भी जीवन सफल होता है। फिर जिसने पहले ही अपने को उपकार द्वारा उपकृत कर दिया है, उसका कार्य करने में तो कहना ही क्या है ॥७॥

एतां बुद्धिं*समास्थाय दृश्यते जानकी यथा ।
तथा भवद्भिः कर्तव्यमस्मत्प्रियहितैषिभिः ॥८॥

आप लोग मेरे हितैषी हैं, अतः इन बातों को सोच समझ कर ऐसा प्रयत्न कीजिए, जिससे जानकी जी का पता लग जाय ॥८॥

---

* पाठान्तरे—"अवस्थाय।"

अयं हि सर्वभूतानां मान्यस्तु नरसत्तमः ।
अस्मासु चागतप्रीती रामः परपुरञ्जयः ॥९॥

वैरी के पुर के जीतने वाले नरोत्तम यह श्रीरामचन्द्र जी सब प्राणियों के मान्य हैं और हम लोगों से प्रीति करते हैं ॥९॥

इमानि वनदुर्गाणि नद्यः शैलान्तराणि च ।
भवन्तः परिमार्गन्तु बुद्धिविक्रमसम्पदा ॥१०॥

अतः आप लोग अपनी बुद्धि और पराक्रम से, जैसे बने वैसे, जिन दुर्गम स्थानों, नदियों और पर्वतों को मैं बतलाऊँ, वहाँ वहाँ जाकर जानकी का पता लगाइए ॥१०॥

तत्र म्लेच्छान् पुलिन्दांश्च शूरसेनांस्तथैव च ।
प्रस्थलान् भरतां[1]श्चैव कुरूंश्च सह मद्रकैः ॥११॥
काम्बोजान् यवनांश्चैव शकानारट्टकानपि ।
बाह्लीकानृषिकांश्चैव पौरवानथ टङ्कणान् ॥१२॥
चीनान् परमचीनांश्च निहारांश्च पुनः पुनः ।
अन्विष्य* दरदांश्चैव हिमवन्तं तथैव च ॥१३॥
लोध्रपद्मकषण्डेषु देवदारुवनेषु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥१४॥

उत्तर दिशा में म्लेच्छ, पुलिन्द, शूरसेन प्रस्थल, इन्द्रप्रस्थादि प्रदेश, दक्षिण कुरु, मद्रक, काम्बोज यवन, शक, आरट्ट बाह्लीक ऋषिक, पौरव, टङ्कण, चीन, परमचीन निहार, दरद, हिमवन्त

---

[1] भरतान्—इन्द्रप्रस्थादिप्रदेशान् । (गो०) *पाठान्तरे—"अन्वीक्ष्य" ।

पर्वत को. लोध के बनों, पद्मक के वनों और देवदारु के वनों में रावण और वैदेही को भली भाँति ढूँढ़ना ॥११॥१२॥ ॥१३॥१४॥

ततः सोमाश्रमं गत्वा देवगन्धर्वसेवितम् ।
कालं नाम महासानु पर्वतं तं गमिष्यथ ॥१५॥

इसके अनन्तर आप लोग सोमाश्रम में जो देवताओं और गन्धर्वों से सेवित तथा बड़े बड़े कंगूरों से युक्त काल नामक पर्वत पर जाना ॥१५॥

महत्सु तस्य शृङ्गेषु* निर्दरेषु गुहासु च ।
विचिनुध्वं महाभागा रामपत्नीं ततस्ततः ॥१६॥

उसके बड़े बड़े शिखरों, घाटियो और कन्दराओं में तुम लोग उन निन्दारहित महाभागा श्रीरामचन्द्र जी की भार्या को भली भाँति ढूढ़ना ॥१६॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं हेमगर्भमहागिरिम् ।
ततः सुदर्शनं नाम गन्तुमर्हथ पर्वतम् ॥१७॥

काल पर्वत के आगे तुमको हेमगर्भ नाम का बड़ा पहाड मिलेगा। इसके बाद तुम सुदर्शन नामक पर्वत पर जाना ॥१७॥

ततो देवसखो नाम पर्वतः पतगालयः ।
नानापक्षिगणाकीर्णो विविधद्रुमभूषितः ॥१८॥

तदनन्तर तुमको देवसखा नाम का पर्वत मिलेगा। इस पर्वत पर बहुत से पक्षी रहा करते हैं और यह भाँति भाँति के वृक्षों से भूषित है ॥१८॥

---

*पाठान्तरे —"शैलस्य ।"

तस्य काननषण्डेषु निर्झरेषु गुहासु च
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥१९॥

देवसखा नाम के पर्वत के वनों में, झरनों पर तथा गुफाओं में रावणसहित जानकी को ढूँढना ॥१९॥

तमतिक्रम्य चाकाशं सर्वतः शतयोजनम् ।
अपर्वतनदीवृक्षं सर्वसत्त्वविवर्जितम् ॥२०॥

देवसखा नाम के पर्वत को नांघने के बाद आपको सौ योजन लंबा चौड़ा जनशून्य एक मैदान मिलेगा । इसमें न तो कोई पर्वत है, न नदी है, न वृक्ष और न कोई जीव ही है ॥२०॥

तं तु शीघ्रमतिक्रम्य कान्तारं रोमहर्षणम् ।
कैलासं पाण्डुरं शैलं प्राप्य हृष्टा भविष्यथ ॥२१॥

इस रोमाञ्चकारी मैदान को शीघ्रतापूर्वक पार करना । तदनन्तर आपको सफेद रंग का कैलास नाम पर्वत मिलेगा जिसे देख आपलोग सब बहुत प्रसन्न होंगे ॥२१॥

तत्रपाण्डुरमेघाभं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
कुबेरभवनं रम्यं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥२२॥

उस कैलास पर्वत पर सफेद बादल जैसा और सुवर्णभूषित, विश्वकर्मा का निर्मित, कुबेर का सुन्दर भवन दिखलाई पड़ेगा ॥२२॥

विशाला नलिनी यत्र प्रभूतकमलोत्पला ।
हंसकारण्डवाकीर्णा ह्यप्सरोगणसेविता ॥२३॥

वहाँ पर एक पुष्करिणी भी है, जिसमें बहुत से कमल उत्पन्न होते हैं । वहाँ पर हंस, कारण्डव पक्षी तथा अप्सराएँ रहा करती हैं ॥२३॥

तत वैश्रवणो राजा सर्वभूतनमस्कृतः ।
धनदो रमते श्रीमान् गुह्यकैः सह यक्षराट् ॥२४॥

उस भवन में धन देने वाले, यक्षराज राजा वैश्रवण (कुबेर) जिनको सब प्रणाम करते हैं, गुह्यों के सहित विहार किआ करते हैं ॥२४॥

तस्य चन्द्रनिकाशेषु पर्वतेषु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥२५॥

उस कैलास पर्वत की चन्द्रतुल्य प्रकाशित पर्वतमाला में और गुफाओं में रावण और सीता को भली भाँति ढूँढना ॥२५॥

क्रौञ्च तु गिरिमासाद्य विलं तस्य सुदुर्गमम् ।
अप्रमत्तैः प्रवेष्टव्यं दुष्प्रवेशं हि तत्स्मृतम् ॥२६॥

कैलास पर्वत के बाद, तुम लोगों को क्रौंच पवत मिलेगा। उस पहाड़ के दुर्गम बिल में बड़ी सावधानी से जाना। क्योंकि लोग उस बिल को दुष्प्रवेश्य बतलाते हैं ॥२६॥

वसन्ति हि महात्मानस्तत्र सूर्यसमप्रभाः ।
देवैरप्यर्चिताः सम्यग्देवरूपा महर्षयः ॥२७॥

इसमें सूर्य जैसे तेज वाले देवरूप बडे बड़े महात्मा महर्षि लोग रहते हैं। उनकी देवता लोग भी पूजा किआ करते हैं ॥२७॥

क्रौञ्चस्य तु गुहाश्चान्याः सानूनि शिखराणि च ।
निर्दराश्च नितम्बाश्च विचेतव्यास्ततस्ततः ॥२८॥

उस क्रौंच पर्वत की अन्य गुफाओं, उसके शिखरों, घाटियों और तलेहटी को भली भाँति ढूँढना ॥२८॥

क्रौञ्चस्य शिखरं चापि निरीक्ष्य च ततस्ततः ।
अवृक्षं कामशैलं च मानसं विहगालयम् ॥२६॥

क्रौंच पर्वत के शिखर के ऊपर भी अच्छी तरह देखना भालना । इसी पर्वत पर मानस नाम का एक कामशैल है । यद्यपि उस पर कोई वृक्ष नहीं है, तथापि वह पक्षियों का घर है ॥२६॥

न गतिस्तत्र भूतानां देवदानवरक्षसाम् ।
स च सर्वैर्विचेतव्यःससानुप्रस्थभूधरः॥३०॥

वहाँ देव, दानव, राक्षसादि कोई भी प्राणी नहीं जा सकता । सो आप सब लोग उस पर्वत के छोटे बड़े शिखरों और कन्दराओं को ढूँढना ॥३०॥

क्रौञ्च गिरिमतिक्रम्य मैनाको नाम पर्वतः ।
मयस्य भवन यत्र दानवस्य स्वयं कृतम् ॥३१॥

क्रौंच गिरि के आगे आपको मैनाक पर्वत मिलेगा । यहीं पर मयदानव का भवन है, जो उसीका बनाया हुआ है ॥३१॥

मैनाकस्तु विचेतव्यः ससानुप्रस्थकन्दरः ।
स्त्रीणामश्वमुखीनां च निकेतास्तत्र तत्र तु ॥३२॥

मैनाक पर्वत के शिखरों और कंदराओं को भी ढूँढना । उस पर्वत पर घुड़मुही औरतों (किम्पुरुषस्त्रियों) के घर बने हुए हैं ॥३२॥

तं देशं समतिक्रम्य आश्रमं सिद्धसेवितम् ।
सिद्धा वैखानसास्तत्र वालखिल्याश्च तापसाः ॥३३॥

वहाँ से आगे जाने पर सिद्धों से सेवित आश्रम मिलेगा। वहाँ पर सिद्ध वैखानस (वाणप्रस्थ) और बालखिल्य ब्रह्मचारी रहते हैं ॥३३॥

वन्द्यास्ते तु तपःसिद्धास्तपसा वीतकल्मषाः।
प्रष्टव्या चापि सीतायाः प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः ॥३४॥

उन तप सिद्ध और पापरहित तपस्वियों को आप लोग विनयपूर्वक प्रणाम करना और उनसे सीता का वृत्तान्त पूछना ॥३४॥

हेमपुष्करसंछन्नं तस्मिन् वैखानसं सरः।
तरुणादित्यसङ्काशैर्हंसैर्विचरितं शुभैः ॥३५॥

वहीं पर वैखानस नाम का एक तालाब है जो सुवर्ण के रंग जैसे कमल के फूलों से ढका रहता है और उसके तट पर, मध्याह्न कालीन सूर्य के समान रंग वाले सुन्दर हंस विचरा करते हैं ॥३५॥

औपवाह्यः कुबेरस्य सार्वभौम इति स्मृतः।
गजः पर्येति तं देशं सदा सह करेणुभिः ॥३६॥

उस तालाब पर कुबेर की सवारी का हाथी, जिसका नाम सार्वभौम है, अपनी हथिनियों सहित विचरा करता है ॥३६॥

तत्सरः समतिक्रम्य नष्टचन्द्रदिवाकरम्।
अनक्षत्रगणं व्योम निष्पयोदमनादितम् ॥३७॥

उस सरोवर के आगे जाने पर आपको ऐसा देश मिलेगा जहाँ यद्यपि सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और मेघ न देख पड़ेंगे, तथापि आदि अन्त रहित आकाश अवश्य देख पड़ेगा ॥३७॥

---

१ प्रवृत्तिः—वृत्तान्तः। (शि०)

गभस्तिभिरिवार्कस्य स तु देशः प्रकाशते ।
विश्राम्यद्भिस्तपःसिद्धैर्देवकल्पैः स्वयंप्रभैः ॥३८॥

और उस देश में सूर्य की किरणों की तरह प्रकाश दिखलाई पड़ेगा। वहाँ पर अपने ही तेज से प्रकाशित देवसमान, सिद्ध लोग तप किया करते हैं ॥३८॥

तं तु देशमतिक्रम्य शैलोदा नाम निम्नगा ।
उभयोस्तीरयोस्तस्याः कीचका नाम वेणवः ॥३९॥

उस देश के आगे शैलोदा नाम की नदी है। उसके दोनों तटों पर कीचक जाति के बाँस उत्पन्न होते हैं ॥३९॥

ते नयन्ति परं तीरं सिद्धान् प्रत्यानयन्ति च ।
उत्तराः कुरवस्तत्र कृतपुण्यप्रतिश्रयाः ॥४०॥

इन बाँसों के बने बेड़े सिद्धपुरुषों का इस तट से उस तट पर उस तट से इस तट पर पहुँचाया करते हैं। उस नदी के उस पार उत्तर-कुरु नामक देश है। वहाँ पुण्यात्मा लोग रहा करते हैं ॥४०॥

ततः काञ्चनपद्माभिः पद्मिनीभिः कृतोदकाः[१] ।
नीलवैदूर्यपत्राभिर्नद्य स्तत्र सहस्रशः ॥४१॥

और वहाँ सुनहले कमलों से युक्त और जल से भरीपूरी एक पुष्करिणी है। वहाँ पर नीलमों और पन्नों के रंग के पत्रों से युक्त लाल कमल के फूलों से विभूषित हजारों नदियाँ हैं ॥४१॥

रक्तोत्पलवनैश्चात्र मण्डिताश्च हिरण्मयैः ।
तरुणादित्यसदृशैर्भान्ति तत्र जलाशयाः ॥४२॥

---

१ कृतोदका.—पर्याप्तोदका. । (गो०)

यहाँ लाल कमलों के वनों से, जो सुनहले देख पड़ते हैं, शोभाय-
। और तरुण सूर्य की तरह चमकदार अनेक तालाव हैं ॥४२॥

महार्हमणिपत्रैश्च काञ्चनप्रभकेसरैः ।
नीलोत्पलवनैश्चित्रैः स देशः सर्वतो वृतः ॥ ४३॥

बड़े मूल्यवान् रत्नों और सुवर्णतुल्य केसर वाले अद्भुत
। कमल के फूलों के जंगल से वह देश चारों ओर से घिरा
। है ॥४३॥

[१]निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च [२]महाधनैः ।
उद्भूतपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निम्नगाः ॥४४॥

इस देश की नदियों के ऊँचे ऊँचे तटों पर, गोल मोती, अत्यन्त
र और महामूल्यवान् रत्न और सोना पड़ा हुआ है ॥४४॥

सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा नगोत्तमैः ।
जातरूपमयैश्चापि हुताशनसमप्रभैः ॥४५॥

यहाँ पर सब रत्नों से भरे पूरे अद्भुत उत्तम उत्तम वृक्ष हैं,
सुवर्णमयी अग्निज्वाला की तरह चमकीले हैं ॥४५॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ।
दिव्यगन्धरसस्पर्शाः सर्वकामान् स्रवन्ति च ॥४६॥

उन वृक्षों में सदा फल फला करते हैं, और उन पर पक्षी भरे
रे हैं। उनकी गन्ध, उनका रस और उनका स्पर्श दिव्य है
र वे सब मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं ॥४६॥

नानाकाराणि वासांसि फलन्त्यन्ये [३]नगोत्तमाः ।
मुक्तावैडूर्यचित्राणि भूषणानि तथैव च ॥४७॥

---

१ निस्तुलाभि —वर्तुलाभि. । (गो०) २ महाधनैः—बहुमूल्यै ।
) ३ नगोत्तमा —वृक्षश्रेष्ठा । (रा०)

स्त्रीणां चाप्यनुरूपाणि पुरुषाणां तथैव च ।
सर्वर्तुसुखसेव्यानि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ॥४८॥

इन पेड़ों मे कितने ही ऐसे पेड हैं, जिनमे तरह तरह के स्त्रियों और पुरुषों के पहिनने योग्य वस्त्र और मोती, पन्ना आदि मणियों के जड़ाऊ गहने फलते हैं और कोई कोई सब ऋतुओं में खाने योग्य फलों को उत्पन्न किआ करते हैं ॥४७।४८॥

*महार्हमणिचित्राणि[१] †फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ।
शयनानि प्रसूयन्ते चित्रास्तरणवन्ति च ॥४९॥

अनेक ऐसे वृक्ष हैं जो बड़ी मूल्यवान् मणियों की तरह फलों को उत्पन्न करते हैं। इन वृक्षों मे से अनेक अच्छे अच्छे चित्र-विचित्र बिछौने से युक्त पलग बनाए जाते हैं ॥४९॥

मनःकान्तानि माल्यानि फलन्त्यत्रापरे द्रुमाः ।
पानानि च महार्हाणि भक्ष्याणि विविधानि च ॥५०॥

किसी किसी में मनोहर फूलों के हार और किसी किसी में मूल्यवान तरह तरह के पीने और खाने योग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥५०॥

स्त्रियश्च गुणसम्पन्ना रूपयौवनलक्षिताः ।
गन्धर्वाः किन्नराः सिद्धा नागा विद्याधरास्तथा ॥५१॥

रमन्ते सहितास्तत्र नारीभिर्भास्करप्रभाः ।
सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे रतिपरायणाः ॥५२॥

---

१ चित्राणि—रत्नानि। (शि०) *पाठान्तरे—"महार्हाणि च"।
† पाठान्तरे "हैमान्यन्ये"।

वहाँ पर गुणवती, रूपवती युवती स्त्रियाँ हैं। वहाँ पर सूर्य की तरह प्रभा वाले गन्धर्व किन्नर, सिद्ध, नाग और विद्याधर अपनी स्त्रियों को लिये हुए विहार करते हैं। वे सब के सब पुण्यवान् और सब के सब रति में तत्पर हैं ॥५१॥५२॥

सर्वे कामार्थसहिता वसन्ति सहयोषितः ।
गीतवादित्रनिर्घोषाः सोत्कृष्टहसितस्वनाः ॥५३॥
श्रूयते सततं तत्र सर्वभूतमनोहरः ।
तत्र नामुदितः कश्चिन्नास्ति कश्चिदसत्प्रियः ॥५४॥

और वे सब के सब कामभोग युक्त हो अपना अपनी स्त्रियों के सहित वास करते हैं। वहाँ पर उत्कृष्ट हास्ययुक्त, स्वरसहित, गाना बजाना सदा सुनाई पड़ता है, जो सब प्राणियों के मन को मुग्ध कर लेता है। वहाँ न तो कोई उदास देख पड़ता है और न कोई बुरे कर्म अथवा वस्तु का प्रेमी देख पड़ता है (अर्थात् वहाँ वेश्याओं अथवा कुलटा स्त्रियों का अभाव है) ॥५३॥५४॥

अहन्यहनि वर्धन्ते गुणास्तत्र मनोरमाः ।
समतिक्रम्य तं देशमुत्तरः [1]पयसां निधिः ॥५५॥

वहाँ दिनों दिन वहाँ के वासियों के सद्गुणों की वृद्धि हुआ करती है। उस देश से आगे उत्तर की ओर जाने पर आपको क्षीर समुद्र मिलेगा ॥५५॥

तत्र सोमगिरिर्नाम मध्ये हेममयो महान् ।
इन्द्रलोकगता ये च ब्रह्मलोकगताश्च ये ॥५६॥

---

१ पयसां निधिः—लवणसमुद्र । (गो०), क्षीराब्धि । (शि०)

उस क्षीर समुद्र के बीच में सुवर्णमय और अतिविशाल सोमगिरि नाम का पर्वत है। जो लोग इन्द्रलोक को अथवा ब्रह्मलोक को जाते हैं ॥५६॥

देवास्तं समवेक्षन्ते गिरिराजं दिवं गताः ।
स तु देशो विसूर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते ॥५७॥

तथा स्वर्ग में आने जाने के समय देवता गण इस सोमगिरि नाम पर्वतराज को देखा करते हैं। (अर्थात् उक्त लोकों के रास्ते में यह है।) यद्यपि इस देश में सूर्य का प्रकाश नहीं है, तथापि सोमगिरि के प्रकाश से वह देश सदा प्रकाशित रहता है ।५७॥

सूर्यलक्ष्म्याभिविज्ञेयस्तपतेव विवस्वता ।
भगवानपि विश्वात्मा शम्भुरेकादशात्मकः ॥५८॥

ब्रह्मा वसति देवेशो ब्रह्मर्षिपरिवारितः ।
न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः ॥५९॥

और ऐसा जान पड़ता है, मानों सूर्य ही का प्रकाश हो रहा हो। वहाँ पर भगवान विश्वरूप एकादश रुद्रात्मक देवेश ब्रह्मा जी ब्रह्मर्षियों के साथ निवास करते हैं। अतः देखिए आप लोग कुरु के उत्तर देश में कभी न जाना ।५८।५९॥

अन्येषामपि भूतानां नातिक्रामन्ति वै गतिः ।
स हि सोमगिरिर्नाम देवानामपि दुर्गमः ॥६०॥

क्योंकि वहाँ पर कोई भी जीवधारी नहीं जा सकता। (अर्थात् ब्रह्मर्षियों को छोड़ अन्य कोई नहीं जा सकता) उस सोमगिरि पर देवता लोग भी नहीं जा सकते ।।६०॥

तमालोक्य ततः क्षिप्रमुपावर्तितुमर्हथ ।
एतावद्वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ॥
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥६१॥

आप लोग तो केवल उसके दर्शन कर तुरन्त लौट आना। हे वानरश्रेष्ठो ? बस, वानर लोग वहीं तक जा सकते हैं। उसके आगे न तो सूर्य का प्रकाश है और न आगे का स्थान पृथिवी की सीमा के भीतर है। अत इसके आगे क्या है सो मैं भी नहीं जानता ॥६१॥

सर्वमेतद्विचेतव्यं यन्मया परिकीर्तितम् ।
यदन्यदपि नोक्तं च तत्रापि क्रियतां मतिः ॥६२॥

किन्तु जो जो स्थान मैंने आप लोगों को बतलाए हैं, उन उन स्थानों मे अच्छी तरह ढूँढ़ना और जो स्थान मेरे बतलाने से छूट गए हैं उन सब को भी आप लोग अपनी बुद्धि के अनुसार खोजना ॥६२॥

ततः कृतं दाशरथेर्महत्प्रियं
महत्तरं चापि ततो मम प्रियम् ।
कृतं भविष्यत्यनिलानलोपमा
विदेहजादर्शनजेन कर्मणा ॥६३॥

हे वायु और अग्नि के समान पराक्रम वालो ! सीता जी का पता लगाने से श्रीरामचन्द्र जी और मैं, दोनों ही बहुत प्रसन्न होवेंगे ॥६३॥

ततः कृतार्थाः सहिताः सबान्धवा
मयार्चिताः सर्वगुणैर्मनोरमैः ।

चरिष्यथोर्वी प्रतिशान्तशत्रवः
सहप्रिया भूतधराः प्लवङ्गमाः ॥६४॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे वानरो! तदनन्तर सफल मनोरथ हो कर और मुझसे सम्मानित हो, तुम सब अपने परिवारसहित, निष्कण्टक हो, अपनी सुविधा का स्थान देख, स्वच्छन्दता से विचरना ॥६४॥

किष्किन्धाकाण्ड का तेंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—※—

विशेषेण तु सुग्रीवो हनुमत्यर्थमुक्तवान्।
स हि तस्मिन् हरिश्रेष्ठे निश्चितार्थोऽर्थसाधने ॥१॥

सुग्रीव ने हनुमान से कुछ विशेष बातें कहीं; क्यों कि उनको विश्वास था कि, यह कार्य कपिश्रेष्ठ हनुमान जी द्वारा ही सिद्ध होगा ॥१॥

अब्रवीच्च हनूमन्तं विक्रान्तमनिलात्मजम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः प्रभुः सर्ववनौकसाम् ॥२॥

समस्त वानरों के अधिपति सुग्रीव, पराक्रमशाली पवनतनय हनुमान जी से परम प्रसन्न हो कहने लगे ॥२॥

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये।
नाप्सु वा गतिसङ्गं ते पश्यामि हरिपुङ्गव ॥३॥

हे वानरश्रेष्ठ ? मै जानता हूँ कि, भूमि में, अन्तरिक्ष में (जहाँ बादल चला करते हैं) अथवा पवन के चलने के स्थान आकाश में, अथवा स्वर्ग मे अथवा जल में—सर्वत्र तुम बेरोक टोक जा सकते हो ॥३॥

सासुराः सहगन्धर्वाः सनागनरदेवताः ।
विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः ॥४॥

तुम असुर, गन्धर्व, नाग मनुष्य, देवता और सागर पहाड़ों सहित समस्त लोकों को जानते हो ॥४॥

गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे ।
पितुस्ते सदृशं वीर मारुतस्य *महात्मनः ॥५॥

हे वीर महाकपे ? गति, वेग, तेज और फुर्ती में तुम अपने पिता महात्मा वायु के समान हो ।५॥

तेजसा वापि ते भूत समं भुवि न विद्यते ।
तद्यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवोपपादय ॥६॥

तुम्हारे समान तेजस्वी इस पृथिवी पर तो दूसरा कोई है नहीं । अत हे वीर ? ऐसा उद्योग करना जिससे सीता का पता लग जाय ॥६॥

त्वय्येव हनुमन् अस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः ।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित॥७॥

हे हनुमान् ? तुम में बल, बुद्धि, विक्रम, तथा देश एवं काल का ज्ञान और नीति का विचार पूर्ण रूप से हैं एव तुम नीति शास्त्र में पण्डित हो ॥७॥

पाठान्तरे—"महौजसः ।,, पाठान्तरे--" हनुमन्स्त्वस्ति" ।

ततः कार्यसमासङ्गमवगम्य हनूमति ।
विदित्वा हनुमन्तं च चिन्तयामास राघवः ॥८॥

तब श्रीरामचन्द्र जी, हनुमान द्वारा कार्य की सिद्धि जान और उनके बल विक्रम को तथा कार्य की गुरुता का मन ही मन विचार करने लगे ॥८॥

सर्वथा निश्चितार्थोऽयं हनूमति हरीश्वरः ।
निश्चितार्थकरश्चापि हनुमान् कार्यसाधने ॥९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने विचारा कि, कपिराज सुग्रीव का यह विश्वास है कि, हनुमान द्वारा कार्य पूरा होगा और मेरा ऐसा ही विचार है कि, हनुमान ही यह काम कर सकेंगे ॥९॥

तदेवं प्रस्थितस्यास्य परिज्ञातस्य कर्मभिः ।
भर्त्रा परिगृहीतस्य ध्रुवः कार्यफलोदयः ॥१०॥

हनुमान्‌जी अपने पहले किए हुए कर्मों द्वारा प्रसिद्ध हैं और सुग्रीव की भी इन पर कृपा है तथा स्वामी की जिस पर विशेष कृपा होती है अथवा, स्वामी जिसका विशेष आदर करता है वह अवश्य कार्य को पूरा करता है ॥१०॥

तं समीक्ष्य महातेजा व्यवसायोत्तरं हरिम् ।
कृतार्थ इव संवृत्तः प्रहृष्टेन्द्रियमानसः ॥११॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी हनुमान जी को कार्यसाधन के लिए श्रेष्ठ समझ, अपना कार्य हुआ सा जान, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥११॥

ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्कोपशोभितम् ।
अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परन्तपः ॥१२॥

तदनन्तर शत्रुघाती श्रीरामचन्द्रजी ने हनुमान जी को अपने नामाक्षर से चिह्नित अँगूठी, सीता जी को विश्वास दिलाने के लिए, दी ॥१२॥

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा ।
मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ॥१३॥

(और कहा कि) हे कपिश्रेष्ठ! इस अँगूठी को देख, जनकनन्दिनी जान जायगी कि, तुम मेरे पास से आए हो और तुम पर विश्वास कर, तुमसे मिलेगी ॥१३॥

व्यवसायश्च ते वीर सत्त्वयुक्तश्च विक्रमः ।
सुग्रीवस्य च सन्देशः सिद्धिं कथयतीव मे ॥१४॥

हे वीर! तुम्हारा व्यवसाय, बल और विक्रम और सुग्रीव का आदेश, ये सब बातें मेरे कार्य की सिद्धि को जनाती हैं ॥१४॥

स तं गृह्य हरिश्रेष्ठः* स्थाप्य मूर्ध्नि कृताञ्जलिः ।
वन्दित्वा चरणौ चैव प्रस्थितः प्लवगोत्तमः ॥१५॥

वानरश्रेष्ठ हनुमानजी उस अँगूठी को माथे चढ़ा और हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्रजी के चरणों को प्रणाम कर, चल दिए ॥१५॥

स तत्प्रकर्षन् हरिणां बलं महद्-
बभूव वीरः पवनात्मजः कपिः ।
गताम्बुदे व्योम्नि विशुद्धमण्डलः
शशीव नक्षत्रगणोपशोभितः ॥१६॥

उस समय वानरी सेना से घिरे हुए पवनतनय कपिवीर हनुमानजी की ऐसी शोभा हुई, जैसी कि, विमल (बादलशून्य)

* पाठान्तरे—"हरिश्रेष्ठः।"

आकाशमण्डल में तारागणसहित चन्द्रमा की शोभा होती है ॥१६॥

अतिबल बलमाश्रितस्तवाहं
हरिवरविक्रम विक्रमैरनल्पैः ।
पवनसुत यथाभिगम्यते सा
जनकसुता हनुमंस्तथा कुरुष्व ॥१७॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे सिंह—जैसे विक्रम वाले ! हे अति बलशालिन् ! मुझको तुम्हारा बड़ा भरोसा है । हे हनुमान ! तुम इस समय ऐसा उद्योग करो जिससे मुझे जानकी जी मिल जायँ ॥१७॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—※—

सर्वांश्चाहूय सुग्रीवः प्लवगान् प्लवगर्षभः ।
समस्तानब्रवीद्भूयो रामकार्यार्थसिद्धये[*] ॥१॥

जिससे श्रीरामचन्द्रजी का कार्य सिद्ध हो जाय, कपिराज सुग्रीव ने फिर सब वानरों को एकसाथ बुला कर, पक्षपातशून्य हो कहा ॥१॥

---

* सम.—सर्वमपक्षपातरहितः । (गो०)

[पहले सुग्रीव ने, अलग अलग बुला कर कहा था—इस बार सब से एक साथ कहा]।

एवमेतद्विचेतव्यं यन्मया परिकीर्तितम् ।
तदुग्रशासनं भर्तुर्विज्ञाय हरिपुङ्गवाः ॥२॥
शलभा इव संछाद्य मेदिनीं सम्प्रतस्थिरे ।
रामः प्रस्रवणे तस्मिन् न्यवसत्सहलक्ष्मणः ॥३॥
प्रतीक्षमाणस्तं मासं यः सीताधिगमे कृतः ।
उत्तरां तु दिशं रम्यां गिरिराजसमावृताम् ॥४॥

हे वानरश्रेष्ठो ! देखो, मैंने जैसे बतलाया है, वैसे ही सीता और रावण को ढूँढ़ना। अपने राजा की या मालिक की यह उग्र आज्ञा सुन कर, वानरश्रेष्ठ टीढ़ी दल की तरह समस्त पृथिवी को प्रस्थानित हुए। उधर सीता जी का समाचार जानने में एक मास की निश्चित की हुई अवधि समाप्ति की प्रतीक्षा करते हुए, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण जी के सहित प्रस्रवण पर्वत पर टिके रहे। इधर हिमालय से छेंकी हुई रमणीय उत्तर दिशा की ओर ॥२॥३॥४॥

प्रतस्थे *हरिभिर्वीरो हरिः शतवलिस्तदा ।
पूर्वां दिशं प्रति ययौ विनतो हरियूथपः ॥५॥

शतवलि नामक यूथपति अपनी वानरी सेना को साथ ले प्रस्थानित हुआ ! उधर विनत नामक यूथपति अपनी सेना को ले पूर्व दिशा की ओर चल दिआ ॥५॥

ताराङ्गदादिसहितः प्लवगः †पवनात्मजः ।
अगस्त्याचरितामाशां दक्षिणां हरियूथपः ॥६॥

* पाठान्तरे—"सहसा"। † पाठान्तरे—"मारुतात्मजः"।

हनुमान्‌जी भी तार अङ्गदादि के साथ अगस्त्यसेवित दक्षिण दिशा की ओर चल दिए ॥६॥

पश्चिमां तु दिशं घोरां सुषेणः प्लवगेश्वरः ।
प्रतस्थे हरिशार्दूलो भृश वरुणपालिताम् ॥७॥

वानरों के मुखिया सुषेण वरुण जी पालित घोर पश्चिम दिशा की ओर सिधारे ॥७॥

ततः सर्वा दिशो राजा चोदयित्वा यथातथम् ।
कपिसेनापतीन् मुख्यान् मुमोद सुखितः[१] सुखम् ॥८॥

तदनन्तर चारों दिशाओं मे यथायोग्य वानर सेनापतियों को भेज, कपिराज सुग्रीव वैसे ही प्रसन्न हुए जैसे वे पहले राज्यप्राप्त कर सुखी हुए थे ॥८॥

एवं *संचोदिताः सर्वे राज्ञा वानरयूथपाः ।
स्वां स्वां दिशमभिप्रेत्य त्वरिताः सम्प्रतस्थिरे ॥९॥

इस प्रकार भेजे जा कर, सब वानर सेनापति अपनी अपनी निर्दिष्ट दिशाओं मे शीघ्रतापूर्वक चल दिए ॥९॥

आनयिष्यामहे सीतां हनिष्यामश्च रावणम् ।
[२]नदन्तश्चोन्नदन्त[३]श्च गर्जन्तश्च[४] प्लवंगमाः ॥१०॥

---

१ सुखितः सुखम्—पूर्वं राज्यलाभेन सुखितो राजा सुखं यथा भवति तथा मुमोद । उत्तरोत्तरं सुख प्राप्तेरर्थः । (गो०) २ नदन्त —शब्दं कुर्वन्तः । गो० ३ उन्नदन्त —पुन मन्दोदात्तिशयेन उच्चैर्नदन्त । (गो०) ४ गर्जन्त—भास्फालनं कुर्वन्तः । * पाठान्तरे—"समादिष्टा" ।

क्ष्वेलन्तो[1] धावमानाश्च विनदन्तो[2] महाबलाः ।
अहमेको हनिष्यामि प्राप्तं रावणमाहवे ॥११॥

वे महाबली वानरगण यह कह कर कि, हम "सीता को लावेंगे, हम रावण का वध करेंगे" गर्जते उच्च स्वर से शब्द करते, अपनी बड़ाई करते, सिंहनाद करते, दौड़ते हुए और किलकारियाँ मारते चले जाते थे। वे लोग आपस में कहते जाते थे, यदि रावण मुझे मिल गया तो मैं अकेला ही युद्ध में उसके प्राण लेलूँगा ॥१०॥११॥

ततश्चोन्मथ्य सहसा हरिष्ये जनकात्मजाम् ।
वेपमानां श्रमेणाद्य भवद्भिः स्थीयतामिति* ॥१२॥

कोई कहता अब आप लोग श्रम न करैं और धीरज धरैं। मैं रावण को मारकर, भय से काँपती हुई जानकी को छीन लाऊँगा ॥१२॥

एक एवाहरिष्यामि पातालादपि जानकीम् ।
विमथिष्याम्यहं वृक्षान् पातयिष्याम्यहं गिरीन् ॥१३॥
धरणीं धारयिष्यामि क्षोभयिष्यामि सागरान् ।
अहं योजनसंख्यायाः प्लविता नात्र संशयः ॥१४॥
शतं योजनसंख्यायाः शतं समधिकं ह्यहम् ।
भूतले सागरे वापि शैलेषु च वनेषु च ॥१५॥
पातालस्यापि वा मध्ये न ममाच्छिद्यते गतिः ॥१६॥

---

१ क्ष्वेलन्त—सिंहनादं कुर्वन्त । गो० २ विनदन्त—नादान्कुर्वन्त । * पाठान्तरे "स्थीयतामिह" ।

कोई कहता यदि जानकी पाताल में भी छिपाई गई होंगी तो, भी मैं अकेला ही उसे ला दूँगा। कोई कहता मैं पेड़ों के टुकड़े टुकड़े कर डालूँगा, पहाड़ों को ढहा दूँगा, पृथ्वी को उठा लूँगा, समुद्र को क्षुब्ध कर डालूँगा। कोई कहता मैं एक छलाँग में एक योजन कूद सकता हूँ। कोई कहता मैं एक छलाँग में सौ योजन नाँघ सकता हूँ। किसी ने कहा मैं सौ से भी अधिक नाँघ सकता हूँ। कोई कहता मैं विना रोकटोक सारी पृथ्वी, समुद्र, पहाड़, वन अथवा पाताल में जा सकता हूँ। मेरी गति को कोई नहीं रोक सकता ॥१३॥१४॥१५॥१६॥

इत्येकैकं तदा तत्र वानरा बलदर्पिताः ।
ऊचुश्च वचनं तत्र हरिराजस्य सन्निधौ ॥१७॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

कपिराज सुग्रीव की सन्निधि में एक एक कर, उन वन्दरों ने बल के गर्व से गर्वित हो, इस प्रकार के वचन कहे ॥१७॥

किष्किन्धाकाण्ड का पैंतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—※—

गतेषु वानरेन्द्रेषु रामः सुग्रीवमब्रवीत् ।
कथं भवान् विजानीते सर्वं वै मण्डलं भुवः ॥१॥

जब वानर सेनापति लोग चले गये, तब श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव से पूछा कि, यह तो बतलाओ आपको समस्त भूमण्डल का हाल किस प्रकार अवगत हुआ ॥१॥

सुग्रीवस्तु ततो राममुवाच प्रणतात्मवान् ।
श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये विस्तरेण नरर्षभ ॥२॥

इसके उत्तर में सुग्रीव ने सिर नवा श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे पुरुषोत्तम ! सुनिए, मैं विस्तारपूर्वक समस्त वृत्तान्त कहता हूँ ॥२॥

यदा तु दुन्दुभिं नाम दानवं महिषाकृतिम् ।
परिकालयते वाली मलयं प्रति पर्वतम् ॥३॥

जब भैंसा का रूप धारण किए हुए दुन्दुभी नामक दानव, वालि से लड़ने किष्किन्धा में आया और वालि के भय से मलय पर्वत की ओर भागा ॥३॥

तदा विवेश महिषो मलयस्य गुहां प्रति ।
विवेश वाली तत्रापि मलयं तज्जिघांसया ॥४॥

और वह मलय पर्वत की गुफा में घुस गया, तब वालि भी उसका वध करने की इच्छा से उस गुफा में घुसा ॥४॥

ततोऽहं तत्र निक्षिप्तो गुहाद्वारि विनीतवत् ।
न च निष्क्रमते वाली तदा संवत्सरे गते ॥५॥

मैं उस गुफा के द्वार पर विनय युक्त हो ठहरा रहा। मुझे वहाँ ठहरे हुए जब एक वर्ष हो गया और तब भी वालि वाहिर न आया ॥५॥

ततः क्षतजवेगेन आपुपूरे तदा बिलम् ।
तदहं विस्मितो दृष्ट्वा भ्रातृशोकविषार्दितः ॥६॥

तदनन्तर रुधिर की धार ऐसे वेग से निकली कि, वह गुफा खून से भर गई। उसको देख मैं विस्मित और भाई के मारे जाने का अनुमान कर, उसके शोक से अत्यन्त दुःखी हुआ ॥६॥

अथाहं कृतबुद्धिस्तु सुव्यक्तं निहतो गुरुः ।
शिला पर्वतसङ्काशा बिलद्वारि मयावृता ॥७॥

मुझे यह विश्वास हो गया कि, वालि अवश्य मारा गया। तब मैंने एक पर्वताकार शिला से उस गुफा के द्वार को बंद कर दिया ॥७॥

अशक्नुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशेदिति ।
ततोऽहमागां किष्किन्धां निराशस्तस्य जीविते ॥८॥

इस लिए कि, यदि दानव बाहिर निकलना चाहेगा तो निकल न सकेगा, बल्कि उसी में मर जायगा। तदनन्तर मैं किष्किन्धा में चला आया और वालि के जीवन से हताश हो गया ॥८॥

राज्यं च सुमहत्प्राप्तं तारया रुमया सह ।
मित्रैश्च सहितस्तत्र वसामि विगतज्वरः ॥९॥

फिर मैं बहुत बड़ा राज्य प्राप्त कर तथा तारा और रुमा एवं अपने मित्रों के साथ, सम्पूर्ण चिन्ताओं को छोड़, रहने लगा ॥९॥

आजगाम ततो वाली हत्वा तं दानवर्षभम् ।
ततोऽहमददां राज्यं गौरवाद्भययन्त्रितः ॥१०॥

इतने में उस दानवश्रेष्ठ को मार कर, वालि आ पहुँचा तब मैंने वालि के बड़प्पन का विचार कर और उससे भयभीत हो राजसिंहासन उसको दिया ॥१०॥

स मां जिघांसुर्दुष्टात्मा वाली प्रव्यथितेन्द्रियः ।
परिकालयते क्रोधाद्धावन्तं सचिवैः सह ॥११॥

किन्तु दुष्टात्मा बालि व्यथित हो, मुझे मार डालने के लिए मेरे ऊपर दौड़ा, तब मैं अपने मन्त्रियों के साथ भागा ॥११॥

ततोऽहं बालिना तेन सानुबंधः[1] प्रधावितः ।
नदीश्च विविधाः पश्यन् वनानि नगराणि च ॥१२॥

तब बालि ने मेरे मंत्रियों सहित मेरा पीछा किया । मैंने भागते भागते रास्ते में विविध नदियाँ वन और नगर देखे ॥१२॥

आदर्शतलसङ्काशा ततो वै पृथिवी मया ।
अलातचक्रप्रतिमा दृष्टा गोष्पदवत्तदा ॥१३॥

उस समय से यह पृथिवी मेरे लिए दर्पण की तरह हो गई है । यह पृथिवी मुझे अलातचक्र के सामने देख पड़ी और मैंने इसे गोष्पद की तरह कर डाला ॥१३॥

[१ अलातचक—प्रज्वलित लूका । २ गोष्पद—समभूमि पर जब गौ चलती है तब उसके चलने से उसके खुर से गढा बन जाता है । उस गढे में भरा हुआ जल ।]

पूर्वां दिशं ततो गत्वा पश्यामि विविधान् द्रुमान् ।
पर्वतांश्च नदी रम्याः सरांसि विविधानि च ॥१४॥

प्रथम मैं पूर्व दिशा में गया और वहाँ विविध प्रकार के पेड़, पर्वत, नदी और विविध रमणीक सरों को देखा ॥१४॥

---

१ सानुबन्धः—आमात्यः । (गो०)

उदयं तत्र पश्यामि पर्वतं धातुमण्डितम् ।
क्षीरोद सागर चैव नित्यमप्सरसालयम् ॥१५॥

उस दिशा में धातुओं से मण्डित उदयाचल को तथा क्षीर-सागर को, जहाँ सदा अप्सराएँ रहा करती हैं, देखा ॥१५॥

परिकालयमानस्तु वालिनाभिद्रुतस्तदा ।
पुनरावृत्य सहसा प्रस्थितोऽहं तदा विभो ॥१६॥

मैं भाग रहा था और वालि भी बड़ी तेजी से मेरा पीछा कर रहा था । तब मैं वहाँ से भाग कर फिर उदयाचल पर्वत पर गया ॥१६॥

पुनरावर्तमानस्तु वालिनाऽभिद्रुतो द्रुतम् ।
दिशस्तस्यास्ततो भूयः प्रस्थितोऽदक्षिणां दिशम् ॥१७॥

किन्तु जब वालि ने फिर भी वहाँ मेरा पीछा बड़ी तेजी से किया, तब मैं पूर्व दिशा का त्याग, दक्षिण दिशा में चला गया ॥१७॥

विन्ध्यपादपसङ्कीर्णां चन्दनद्रुमशोभिताम् ।
द्रुमशैलांस्ततः पश्यन् भूयो दक्षिणतोऽपरान ॥१८॥

दक्षिण दिशा में विन्ध्याचल है और वह चन्दन के वृक्षों से शोभित है । वहाँ मैंने वृक्षों की आड़ से देखा कि, वालि मेरा पीछा किए चला आता है । तब मैं दक्षिण दिशा को त्याग ॥१८॥

पश्चिमां तु दिशं प्राप्तो वालिना समभिद्रुतः ।
सम्पश्यन् विविधान् देशानस्तं च गिरिसत्तमम् ॥१९॥

वालि से पिछियाया हुआ मैं पश्चिम दिशा में गया। वहाँ मैं तरह तरह के देशों को देखता हुआ अस्ताचल तक चला गया ॥१६॥

प्राप्य चास्त गिरिश्रेष्ठमुत्तरां सम्प्रधावितः ।
हिमवन्तं च मेरुं च समुद्रं च तथोत्तरम् ॥२०॥

गिरिश्रेष्ठ अस्ताचल पर पहुँच कर, मैं फिर उत्तर दिशा को भागा। उत्तर दिशा मे पहुँच, हिमालय मेरु और उत्तर समुद्र तक गया ॥२०॥

यदा न विन्दं शरणं वालिना समभिद्रुतः ।
तदा मां बुद्धिसम्पन्नो हनुमान् वाक्यमब्रवीत् ॥२१॥

परन्तु जब वालि के भय से मेरा कहीं भी पिण्ड न छूटा, तब बुद्धिमान हनुमान् जी ने मुझसे कहा ॥२१॥

इदानीं मे स्मृतं राजन् यथा वाली हरीश्वरः ।
मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले ॥२२॥

हे राजन्! इस समय मुझको याद आई है कि, इस वानरराज वालि को मतङ्ग मुनि का शाप है कि, यदि उनके आश्रममण्डल में ॥२२॥

प्रविशेद्यदि वै वाली मूर्धाऽस्य शतधा भवेत् ।
तत्र वासः सुखोऽस्माकं निरुद्विग्नो भविष्यति ॥२३॥

वालि जायगा तो उसके सिर के हजारों टुकड़े हो जायँगे। अतः वहाँ हम लोग सुखपूर्वक बेखटके रहेंगे ॥२३॥

ततः पर्वतमासाद्य ऋश्यमूकं नृपात्मज ।
न विवेश तदा वाली मतङ्गस्य भयात्तदा ॥२४॥

हे राजकुमार! उस पर्वत पर वालि, मतङ्ग ऋषि जी के शाप के डर से नहीं आया ॥२४॥

एवं मया तदा राजन् प्रत्यक्षमुपलक्षितम् ।
पृथिवीमण्डलं कृत्स्नं गुहामस्यागतस्ततः ॥२५॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राजन्! इस प्रकार मैं समस्त पृथिवीमण्डल प्रत्यक्ष देख कर, इस किष्किन्धा नगरी में लौट आया ॥२५॥

किष्किन्धाकाण्ड का छियालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—※—

दर्शनार्थं तु वैदेह्याः सर्वतः कपियूथपाः ।
व्यादिष्टाः कपिराजेन यथोक्तं जग्मुरञ्जसा ॥१॥

जानकी जी को ढूँढने की आज्ञा पा कर सब कपियूथपति, सुग्रीव द्वारा बतलाई हुई निर्दिष्ट दिशाओं को रवाना हुए ॥१॥

सरांसि सरितः [1]कक्षानाकाशं नगराणि च ।
[2]नदीदुर्गांस्तथा शैलान् विचिन्वन्ति समन्ततः ॥२॥

वे सब सरोवरों, नदियों, लतागृहों, (कुञ्जों) आकाश, नदियों के दुर्गम स्थानों और पहाड़ों के चारों ओर खोजने लगे ॥२॥

---

१ कक्षान्—गुल्मान् । लतागृहाणित्यर्थः । (गो०) २ नदीदुर्गान्—नदीभिर्दुर्गमान् । (गो०)

सुग्रीवेण समाख्याताः सर्वे वानरयूथपाः
प्रदेशान् प्रविचिन्वन्ति सशैलवनकाननान् ॥३॥

विचित्य दिवसं सर्वे सीताधिगमने धृताः ।
समायान्ति स्म मेदिन्यां निशाकालेषु वानराः॥४॥

सर्वर्तुकामान् देशेषु वानराः सफलान् द्रुमान् ।
आसाद्य रजनीं शय्यां चक्रुः सर्वेष्वहःसु ते ॥५॥

वे वानर सारे दिन तो सुग्रीव के बतलाए देशों, पहाड़ों और वनों में सीता को ढूढने मे तत्पर रहते थे, किन्तु जब सूरज डूबता तब वे भूमि पर आ ऐसे स्थान पर जहाँ सब ऋतुओं में फल देने वाले फले हुए वृक्ष होते, सो रहते थे ॥३॥४॥५॥

तदहः प्रथमं कृत्वा मासे प्रस्रवणं गताः ।
कपिराजेन सङ्गम्य निराशाः कपियूथपाः ॥६॥

इस प्रकार प्रस्रवण गिरि से प्रस्थान करने के दिन से पूरा एक मास सीता को ढूढने मे लगा तथा हताश हो सब वानर सुग्रीव के पास लौट कर आ गए ॥६॥

विचित्य तु दिशं पूर्वां यथोक्तां सचिवैः सह ।
अदृष्ट्वा विनतः सीतामाजगाम महाबलः ॥७॥

महावीर विनत अपने मंत्रियों सहित जैसा कि, सुग्रीव ने उसे बताया था, पूर्व दिशा मे सीता को ढूँढ कर और सीता का पता न पाकर लौट आया ॥७॥

उत्तरां च दिशं सर्वां विचित्य स महाकपिः ।
आगतः सह सैन्येन वीरः शतबलिस्तदा ॥८॥

इसी प्रकार महाकपि वीर शतबलि भी समस्त उत्तर दिशा में सीता जी को ढूँढ़ कर सेनासहित लौट आया ॥८॥

सुषेणः पश्चिमामाशां विचित्य सह वानरैः ।
समेत्य मासं सम्पूर्णे सुग्रीवमुपचक्रमे ॥९॥

इसी प्रकार सुषेण भी अपनी सेना सहित पूरे एक मास तक पश्चिम दिशा में सीता जी को ढूँढ तथा पता न पा कर, सुग्रीव के पास लौट आया ॥९॥

त प्रस्रवणपृष्ठस्थं समासाद्याभिवाद्य च ।
आसीनं सह रामेण सुग्रीवमिदमब्रुवन् ॥१०॥

उस प्रस्रवण पर्वत पर आ कर, उन सब यूथपतियों ने श्रीराम चन्द्रजी के पास बैठे हुए सुग्रीव को प्रणाम कर उनसे कहा ॥१०॥

विचिताः पर्वताः सर्वे वनानि गहनानि च ।
निम्नगाः सागरान्ताश्च सर्वे जनपदाश्च ये ॥११॥
गुहाश्च विचिताः सर्वास्त्वया याः परिकीर्तिताः ।
विचिताश्च महागुल्मा लताविततिसन्तताः ॥१२॥
गहनेषु च देशेषु दुर्गेषु विषमेषु च ।
सत्त्वान्यतिप्रमाणानि विचितानि हतानि च ॥१३॥

हे राजन् ! हमने आपके बतलाए हुए सब पहाड़, छोटे और बड़े वन, नदियाँ, समुद्रतट, समस्त जनपद, गुफाएँ, लतागृह और फिर समस्त दुष्प्रवेश्य झाड़ियों में, ऊँचे नीचे स्थानों में, जहाँ बड़ी कठिनाई से जा सके थे, जा कर, ढूँढ़ा और वहाँ हमें जो बड़े बड़े

ारीरधारी जीव जन्तु मिले, उनको रावण समझ हमने मार
ाला । किन्तु जानकी का पता न लगा ॥११॥१२॥१३॥

उदारसत्त्वाभिजनो महात्मा
स मैथिलीं द्रक्ष्यति वानरेन्द्रः ।
दिशं तु यामेव गता तु सीता
तामास्थितो वायुसुतो हनूमान् ॥१४॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे कपिराज! महापराक्रमी और श्रेष्ठ कुलोत्पन्न हनुमान् जी सीता का पता अवश्य लगावेंगे। क्योंकि रावण सीता को जिस दक्षिण दिशा मे ले गया था, उसीमें हनुमान जी गए हैं ॥१४॥

किष्किंधाकाण्ड का सैतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—※—

सह ताराङ्गदाभ्यां तु गत्वा स हनुमान् कपिः ।
सुग्रीवेण यथोद्दिष्टं तं देशमुपचक्रमे ॥१॥

सुग्रीव ने जैसा बतलाया था, तदनुसार हनुमान जी तार और अङ्गद के साथ दक्षिण दिशा को गए ॥१॥

स तु दूरमुपागम्य सर्वैस्तैः कपिसत्तमैः ।
विचिनोति स्म विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥२॥

वे सब वानरों को साथ लिये हुए, बहुत दूर चले गए और विन्ध्याचल की गहन गुफाओं में सीता जी को ढूँढ़ने लगे ॥२॥

पर्वताग्रान्नदीदुर्गान् सरांसि विपुलान् द्रुमान्
वृक्षषण्डांश्च विविधान् पर्वतान् घनपादपान् ॥३॥
अन्वेषमाणास्ते सर्वे वानराः सर्वतो दिशम् ।
न सीतां ददृशुर्वीरा मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥४॥

विन्ध्याचल के शिखर प्रदेशों को, नदियों को, दुर्गमस्थानों को, सरोवरों को, अनेक वृक्ष समूहों को, वनों को, विविध पर्वतों को और झाड़ियों को चारों ओर ढूँढ़ते हुए भी, उन वीरों को जनकनन्दिनी मैथिली का पता न चला ॥३॥४॥

ते भक्षयन्तो मूलानि फलानि विविधानि च ।
अन्वेषमाणा दुर्धर्षा न्यवसंस्तत्र तत्र ह ॥५॥

वे विविध प्रकार के मूलों और फलों को खाते और ढूँढ़ते हुए दुर्धर्ष स्थानों में जहाँ तहाँ टिक जाते थे ॥५॥

स तु देशो दुरन्वेषो गुहागहनवान् महान् ।
निर्जलं निर्जनं शून्यं गहनं रोमहर्षणम् ॥६॥

वे सब ऐसे निर्जन और शून्य स्थान को, जिसे देखने से रोमाञ्च हो तथा वैसे ही वनों को भी ढूँढ़ कर बड़े पीड़ित हुए । क्योंकि वहाँ की गुफाओं में और वहाँ के सघन वनप्रदेश में खोजना अत्यन्त दुष्कर कार्य था ॥६॥

त्यक्त्वा तु तं तदा देशं सर्वे वै हरियूथपाः ।
तादृशान्यप्यरण्यानि विचित्य भृशपीडिताः ॥७॥

तदनन्तर वे सब कपियूथपति उस प्रदेश को त्याग कर, वैसे ही अन्य वनों में सीता को ढूँढने लगे, किन्तु वहाँ भी उनको बड़े बड़े कष्ट झेलने पड़े ॥७॥

देशमन्यं दुराधर्षं विविशुश्चाकुतोभयाः ।
यत्र वन्ध्यफला वृक्षा विपुष्पाः पर्णवर्जिताः ॥८॥

वहाँ से अधिक कठिन देश में वे वानर अत्यन्त निर्भीक हो कर गए। वहाँ के वृक्षों में न तो फल थे, न फूल थे और न पत्ते ही थे ॥८॥

निस्तोयाः सरितो यत्र मूलं यत्र सुदुर्लभम् ।
न सन्ति महिषा यत्र न मृगा न च हस्तिनः ॥९॥

वहाँ की नदियों में जल नहीं था और वहाँ मूलों का मिलना भी बहुत कठिन था। वहाँ पर न भैंसे, न मृग और न हाथी ही थे ॥९॥

शार्दूलाः पक्षिणो वापि ये चान्ये वनगोचराः ।
न तत्र वृक्षा नौषध्यो न लता नापि वीरुधः[1] ॥१०॥

वहाँ न शार्दूल, न पक्षी, न कोई अन्य बनैला जीव जन्तु ही था। न वृक्ष थे, न कोई जड़ी बूटी थी, न वृक्षलता और न स्थल लता ही थीं ॥१०॥

स्निग्धपत्राः स्थले यत्र पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ।
प्रेक्षणीयाः सुगन्धाश्च भ्रमरैश्चापि वर्जिताः ॥११॥

---

१ वीरुधः—स्थललता । (गो०)

किन्तु वहाँ की भूमि में हरे हरे पत्तों से युक्त, फूलेहुए कमल के फूलों से शोभायमान, जो देखने में सुन्दर और सुगन्धयुक्त थे, कमल के वृक्ष दिखलाई पड़े, परन्तु उन कमल के फूलों पर भौंरा एक भी न था ॥११॥

कण्डुर्नाम महाभागः सत्यवादी तपोधनः ।
महर्षिः परमामर्षी नियमैर्दुष्प्रधर्षणः ॥१२॥

वहाँ पर महाभाग सत्यवादी तपोधन महाक्रोधी, महर्षि कण्डु रहते थे। वे अपने ब्रह्मकर्म सम्बन्धी नियम पालन में दुधर्ष थे ॥१२॥

तस्य तस्मिन् वने पुत्रो बालः षोडशवार्षिकः ।
प्रनष्टो जीवितान्ताय क्रुद्धस्तत्र महामुनिः ॥१३॥

उन वन में उनका एक सोलह वर्षों का बालक मर गया था। इन पर उन महर्षि को बड़ा क्रोध उपजा ॥१३॥

तेन धर्मात्मना शप्तं कृत्स्नं तत्र महद्वनम् ।
अशरण्यं दुराधर्षं मृगपक्षिविवर्जितम् ॥१४॥

और उन धर्मात्मा ने उस समस्त महावन को शाप दिया कि, आज से इस वन में कोई नहीं रहेगा, यह दुष्प्रवेश्य होगा और यह मृग पक्षी आदि जीवों से रहित होगा ॥१४॥

तस्य ते काननान्तांश्च गिरीणां कन्दराणि च ।
प्रभवाणि नदीनां च विचिन्वन्ति समाहिताः ॥१५॥

उन सब वानरों ने उस वन के समस्त पहाड़ों की कन्दराएँ तथा नदियों के तटवर्ती स्थानों को भली भाँति ढूँढ़ा ॥१५॥

तत्र चापि महात्मानो नापश्यञ्जनकात्मजाम्
हर्तारं रावणं वापि सुग्रीवप्रियकारिणः ॥१६॥

परन्तु उन महात्माओं ने वहाँ भी जनकनन्दिनी को न पाया और सुग्रीव के प्रिय मित्र श्रीरामचन्द्र जी की भार्या के हर्त्ता रावण ही का पता लगा ॥१६॥

ते प्रविश्याशु तं भीमं लतागुल्मसमावृतम् ।
ददृशुः क्रूरकर्माणमसुरं सुरनिर्भयम् ॥१७॥

उन्होंने उस भयङ्कर लता वाले गुल्म से युक्त वन में जा कर देवताओं से भी न डरने वाले भयङ्करकर्मा एक असुर को देखा ॥१७॥

तं दृष्ट्वा वानरा घोरं स्थितं शैलमिवापरम् ।
गाढं परिहिताः[1] सर्वे दृष्ट्वा तं पर्वतोपमम् ॥१८॥

उस पर्वताकार भयङ्कर असुर को देख, वे उससे लड़ने को कटिबद्ध हुए ॥१८॥

सोऽपि तान् वानरान् सर्वान्नष्टाः स्थेत्यब्रवीद्बली ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो मुष्टिमुद्यम्य संहितम् ॥१९॥

वह बलवान् राक्षस भी उन समस्त वानरों को देख बोला कि, मैं अभी तुम सबको नष्ट किए डालता हूँ। तदनन्तर घूँसा तान और अत्यन्त क्रुद्ध हो वह उन सब वानरों की ओर दौड़ा ॥१९॥

तमापतन्तं सहसा वालिपुत्रोऽङ्गदस्तदा ।
रावणोऽयमिति ज्ञात्वा तलेनाभिजघान ह ॥२०॥

---

१ परिहिताः—सन्नद्धाः (शि०)

स वालिपुत्राभिहतो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
असुरो न्यपतद्भूमौ पर्यस्त इव पर्वतः ॥२१॥

उसको आते देख, अंगद ने उसे रावण जान, उसके एक ऐसा थप्पड़ मारा कि, वह मुख से रुधिर उगलता हुआ, उखड़े हुए पर्वत की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥२०॥२१॥

तेऽपि तस्मिन्निरुच्छ्वासे वानरा जितकाशिनः ।
व्यचिन्वन् प्रायशस्तत्र सर्वं तद्गिरिगह्वरम् ॥२२॥

उस असुर के मरने से वे विजयी वानर पहाड़ की समस्त कन्दराओं को और वन को ख्ता ख्ती कर के ढूंढने लगे ॥२२॥

विचितं तु ततः कृत्वा सर्वे ते काननं पुनः ।
अन्यदेवापरं घोरं विविशुर्गिरिगह्वरम् ॥२३॥

उस वन को बार बार ढूंढते ढूंढते वे एक दूसरी विचित्र भयङ्कर पहाड़ी गुफा में घुसे ॥२३॥

ते विचित्य पुनः खिन्ना विनिष्पत्य समागताः ।
एकान्ते वृक्षमूले तु निषेदुर्दीनमानसाः ॥२४॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

उन सब वानरों ने वहां भी सीता जी और रावण को ढूंढा और वहां भी उनको न पा कर, वे दुःखी हुए और उदास हो, एकान्त में एक वृक्ष के नीचे बैठ गए ॥२४॥

किष्किन्धाकाण्ड का अड़तालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—✽—

अथाङ्गदस्तदा सर्वान् वानरानिदमब्रवीत् ।
परिश्रान्तो महाप्राज्ञः समाश्वास्य शनैर्वचः ॥१॥

तदनन्तर महाबुद्धिमान् अङ्गद थक कर समस्त वानरों को क्रमशः समझा बुझा कर कहने लगे ॥१॥

वनानि गिरयो नद्यो दुर्गाणि गहनानि च ।
दर्यो गिरिगुहाश्चैव विचितानि समन्ततः॥२॥

हम लोगों ने बड़े बड़े सघन वन, पर्वत, नदी, दुर्गम स्थान, घाटी, पहाड़ों की कन्दराएँ भली भाँति ढूँढ़ी ॥२॥

तत्र तत्र सहास्माभिर्जानकी न च दृश्यते ।
तद्वा रक्षो हृता येन सीता सुरसुतोपमा ॥३॥

किन्तु इन सब स्थानों में से कहीं भी देवकन्या की तरह सीता को अथवा सीता को हरने वाले राक्षस रावण को न पाया ॥३॥

कालश्च वो महान् यातः सुग्रीवश्चोग्रशासनः ।
तस्माद्भवन्तः सहिता विचिन्वन्तु समन्ततः ॥४॥

खोजते खोजते समय भी बहुत बीत गया और उधर सुग्रीव की आज्ञा भी बड़ी कठोर है। अतः आप सब मिल कर पुनः खोजिए ॥४॥

विहाय [1]तन्द्रीं शोकं च निद्रां चैव समुत्थिताम् ।
विचिनुध्वं यथा सीतां पश्यामो जनकात्मजाम्॥५॥

---

१ तन्द्रीं—प्रमीलाम् । दिद्रामालस्यमिति । (गो०)

आप सब को आलस्य, शोक और निद्रा का त्याग कर देना चाहिए और ऐसी मुस्तैदी से ढूँढना चाहिए, जिससे जानकी जी मिल जाँय ॥५॥

अनिर्वेदं च दाक्ष्यं[1] च मनसश्चापराजयः[2] ।
कार्यसिद्धिकराण्याहुस्तस्मादेतद्ब्रवीम्यहम् ॥६॥

मन की प्रफुल्लता, उत्साह और धैर्य कार्य की सिद्धि के साधन कहे जाते हैं। इसीसे मैं तुम लोगों से यह बात कहता हूँ कि, ॥६॥

अद्यापि तद्वनं दुर्गं विचिन्वन्तु वनौकसः ।
खेदं त्यक्त्वा पुनः सर्वैर्वनमेतद्विचीयताम् ॥७॥

हे वानरो ! तुम लोग खेद को परित्याग कर, पुनः इस वन को तथा दुर्गम स्थानों को भली भाँति ढूँढ़ो ॥७॥

अवश्यं क्रियमाणस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ।
अलं निर्वेदमागम्य न हि नो मीलनं[3] क्षमम् ॥८॥

भली भाँति किए हुए काम का फल अवश्य मिलता हुआ देखा जाता है। अतएव हिम्मत हार कर, हम लोगों को हाथ पर हाथ रख कर, चुपचाप बैठना उचित नहीं ॥८॥

सुग्रीवः कोपनो राजा तीक्ष्णदण्डश्च वानरः ।
भेतव्यं तस्य सततं रामस्य च महात्मनः ॥९॥

१ दाक्ष्यं—उत्साहः। (गो०) २ मनसश्चापराजयः—धैर्यमित्यर्थः। (गो०) ३ मीलनं नेत्रनिमीलनम्। [illegible] कृत्वा तूष्णीं भाव इत्यर्थः। (गो०)

फिर एक तो सुग्रीव क्रोधी स्वभाव के राजा हैं, दूसरे वे कठोर दण्ड देने वाले हैं। अतः उनसे तथा महात्मा श्रीरामचन्द्र जी से हम सब को सदा डरना चाहिए ॥९॥

हितार्थमेतदुक्तं वः क्रियतां यदि रोचते ।
उच्यतां वा क्षमं[1] यन्नः सर्वेषामेव वानराः ॥१०॥

मैंने जो कहा है, सो तुम सब की भलाई के लिए ही कहा है, यदि तुम्हें पसद आवे तो इसके अनुसार कार्य करो। यदि नहीं तो जो तुम लोग उचित समझते हो, वह बतलाओ ॥१०॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा वचनं गन्धमादनः ।
उवाचाव्यक्तया वाचा पिपासाश्रमखिन्नया ॥११॥

अङ्गद के इन वचनों को सुन, गन्धमादन नामक वानर जो बहुत थका हुआ था और प्यास से विकल था, कहने लगा ॥११॥

सदृशं खलु वो वाक्यमङ्गदो यदुवाच ह ।
हितं चैवानुकूलं च क्रियतामस्य भाषितम् ॥१२॥

हे भाइयो! अङ्गद ने जो कुछ कहा है वह निश्चय ही उनके योग्य है, हितकर है और हम लोगों के अनुकूल है। अत. इनके कथनानुसार ही हम लोगों को कार्य करना चाहिए ॥१२॥

पुनर्मार्गामहे शैलान् कन्दरांश्च दरींस्तथा ।
काननानि च शून्यानि गिरिप्रस्रवणानि च ॥१३॥

आओ हम लोग फिर से पहाड़ गुफाएँ, घाटियाँ, वन, शून्य स्थल, पहाड़ी झरनों को ढूँढ़े ॥१३॥

---

[1] क्षम—युक्तं । (शि०)

यथोद्दिष्टानि सर्वाणि सुग्रीवेण महात्मना ।
विचिन्वन्तु वनं सर्वे गिरिदुर्गाणि सर्वशः ॥१४॥

जैसा कि महात्मा सुग्रीव ने बतला दिया है, वैसे ही आओ सब वानर मिल कर वनों और दुर्गम पर्वतों को भली भाँति खोजें ॥१४॥

ततः समुत्थाय पुनर्वानरास्ते महाबलाः ।
विन्ध्यकाननसङ्कीर्णां विचेरुर्दक्षिणां दिशम् ॥१५॥

तदनन्तर सब वानर विन्ध्याचल के जङ्गलों से व्याप्त दक्षिण दिशा में घूम फिर कर ढूँढ़ने लगे ॥१५॥

ते शारदाभ्रप्रतिमं श्रीमद्रजतपर्वतम् ।
शृङ्गवन्तं दरीमन्तमधिरुह्य च वानराः ॥१६॥

अब वे वानरगण शारदीय मेघमाला जैसे शोभायुक्त तथा शिखरों और घाटियों वाले रजत पर्वत पर चढ़ गए ॥१६॥

तत्र *लोध्रवनं रम्यं सप्तपर्णवनानि च ।
व्यचिन्वंस्ते हरिवराः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥१७॥

वे कपिश्रेष्ठ वहाँ सीता जी के दर्शन की कामना से रमणीय लोध्रवन और सतौना के वनों को ढूँढ़ने लगे ॥१७॥

तस्याग्रमधिरूढास्ते श्रान्ता विपुलविक्रमाः ।
न पश्यन्ति स्म वैदेहीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥१८॥

वे इस पर्वत की सब से ऊँची चोटी पर चढ़ कर, ढूँढ़ते ढूँढ़ते हैरान हो गए। किन्तु श्रीरामचन्द्र जी की प्यारी पटरानी सीता को न पाया ॥१८॥

* पाठान्तरे—"लोध्रवन"।

ते तु दृष्टिगतं कृत्वा तं शैलं बहुकन्दरम् ।
अवारोहन्त हरयो वीक्षमाणाः समन्ततः ॥१६॥

इतने में उनको एक पर्वत देख पड़ा, जिसमें बहुत सी गुफाएँ थीं। उस पर्वत पर भी वे चढ़ गए और वहाँ भी सर्वत्र सीता जी को ढूँढा ॥१६॥

अवरुह्य ततो भूमिं श्रान्ता विगतचेतसः ।
स्थित्वा मुहूर्तं तत्राथ वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥२०॥

तदनन्तर वे सब के सब श्रान्त हो मूर्छित से हो गए और घबड़ा कर पर्वत से उतर कर, नीचे भूमि पर चले आए। वहाँ के एक वृक्ष के नीचे बैठ कुछ देर तक सुस्ताए ॥२०॥

ते मुहूर्तं समाश्वस्ताः किञ्चिद्भग्नपरिश्रमाः ।
पुनरेवोद्यताः कृत्स्नां मार्गितुं दक्षिणां दिशम् ॥२१॥

कुछ देर तक विश्राम कर और थकावट मिटा वे फिर समस्त दक्षिण दिशा को ढूँढ़ने के लिए उद्यत हुए ॥२१॥

हनुमत्प्रमुखास्ते तु प्रस्थिताः प्लवगर्षभाः ।
विन्ध्यमेवादितस्तावद्विचेरुस्ते ततस्ततः ॥२२॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

हनुमदादि प्रमुख कपिगण पुनः विन्ध्याचल से ले कर दक्षिण दिशा को ढूँढ़ने लगे ॥२२॥

किष्किन्धाकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चाशः सर्गः

—o—

सह ताराङ्गदाभ्यां तु संगम्य हनुमान् कपिः ।
विचिनोति स्म विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥१॥

हनुमान जी अपने साथ अङ्गद और तार को ले, विन्ध्याचल की गुफाओं और दुर्गम स्थानों अथवा सघन वन को ढूँढने लगे ॥१॥

सिंहशार्दूलजुष्टेषु गुहाश्च सरितस्तथा ।
विषमेषु नगेन्द्रस्य महाप्रस्रवणेषु च ॥२॥

वे वानर विन्ध्य पर्वत की सिंह-शार्दूल-युक्त गुफाओं, सरिताओं और बड़े बड़े दुर्गम झरनों पर जा कर सीता को ढूढ़ने लगे ॥२॥

आसेदुस्तस्य शैलस्य कोटिं दक्षिणपश्चिमाम् ।
तेषां तत्रैव वसतां स कालो व्यत्यवर्तत ॥३॥

वे विन्ध्यपर्वत के दक्षिण और पश्चिम वाले कोने पर खोज करने लगे। इतने ही में सुग्रीव की निर्दिष्ट की हुई अवधि बीत गई ॥३॥

स हि देशो दुरन्वेषो गुहागहनवान् महान् ।
तत्र वायुसुतः सर्वं विचिनोति स्म पर्वतम् ॥४॥

वह स्थान भी बड़ी कठिनाई से खोजने योग्य था, क्योंकि उस पर बड़ी बड़ी दुर्गम गुफाएं थीं और वहाँ जो वन था वह

लंबा चौड़ा और सघन था। परन्तु हनुमान जी ने उस समस्त पर्वत को भी ढूँढ़ डाला ॥४॥

परस्परेण हनुमानन्योन्यस्याविदूरतः ।
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥५॥
मैन्दश्च द्विविदश्चैव सुषेणो जाम्बवान्नलः ।
अङ्गदो युवराजश्च तारश्च वनगोचरः ॥६॥
गिरिजालावृतान् देशान् मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ।
विचिन्वन्तस्ततस्तत्र ददृशुर्विवृतं बिलम् ॥७॥

तदनन्तर एक दूसरे का साथ छोड़ और थोड़ी थोड़ी दूर पर रह कर, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, सुषेण, जाम्बवान, नल युवराज अङ्गद और वानर, तार, पर्वतमाला से छिपे देशों में घुस घुस कर, दक्षिण दिशा में ढूँढ़ने लगे। इतने में ढूँढते ढाँढ़ते वहाँ उनको एक विस्तृत बिल देख पड़ा ॥५॥६॥७॥

दुर्गमृक्षबिलं नाम दानवेनाभिरक्षितम् ।
क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च सलिलार्थिनः ॥८॥
अवकीर्णं लतावृक्षैर्ददृशुस्ते महाबिलम् ।
ततः क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन् ॥९॥
जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः ।
ततस्तद्बिलमासाद्य सुगन्धि दुरतिक्रमम् ॥१०॥

उस बिल का नाम ऋक्षबिल अर्थात् रीछ का बिल था। वह [दुर्ग]म था और दानव से रक्षित था। उन सब के सब वानरों ने जो

१ विवृत—विस्तृत। (गो०)

भूख और प्यास से विकल थे, थके और जलपान की इच्छा किए हुए थे, उस बड़े बिल को, जो लताओं तथा वृक्षों से ढका हुआ था देखा। उस बिल में से क्रौंच हंस, सारस, जल से तराबोर तथा कमल के पराग के पीले रंग से रंगे हुए निकल रहे थे। उस सुवासित और दुष्प्रवेश्य बिल के पास जाने पर ॥८॥९। १०॥

विस्मयव्यग्रमनसो बभूवुर्वानरर्षभाः ।
सञ्जातपरिशङ्कास्ते तद्बिलं प्लवगोत्तमाः ॥११॥

उन सब वानरोत्तमों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे घबड़ाए भी। उन वानरश्रेष्ठों को उस बिल के विषय में बड़ा सन्देह उत्पन्न हुआ ॥११॥

अभ्यपद्यन्त संहृष्टास्तेजोवन्तो महाबलाः ।
नानासत्त्वसमाकीर्णं दैत्येन्द्रनिलयोपमम् ॥१२॥

परन्तु वे लोग बड़े तेजस्वी और महाबलवान थे, अतः बिल के द्वार के समीप जा पहुंचे और, वहाँ जल होने के चिह्न देख कर प्रसन्न हुए। वह बिल उनको नाना जीवों से भरा हुआ, दैत्येन्द्र राजा बलि के आवासस्थल, पाताल की तरह देख पड़ा ॥१२॥

दुर्दर्शमतिघोरं च दुर्विगाहं च सर्वशः ।
ततः पर्वतकूटाभो हनुमान् पवनात्मजः ॥१३॥

अब्रवीद्वानरान् सर्वान् कान्तारवनकोविदः ।
गिरिजालावृतान् देशान् मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ॥१४॥

वयं सर्वे परिश्रान्ता न च पश्याम मैथिलीम् ।
अस्माच्चापि बिलाद्धंसाः क्रौञ्चाश्च सह सारसैः ॥१५॥

जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च निष्पतन्ति स्म सर्वतः ।
नूनं सलिलवानत्र कूपो वा यदि वा ह्रदः ॥१६॥

वह केवल सब ओर से दुष्प्रवेश्य ही न था, किन्तु उसके देखने से ही डर लगता था। पर्वताकार विशाल वपुधारी तथा बड़े बड़े वनों का हाल जानने वाले हनुमान जी, उन सब वानरों से बोले—हम सब लोग पर्वतमाला से पूरित दक्षिण के देशों को ढूँढ़ते ढूँढ़ते थक गए और सीता का पता न लगा सके। इस बिल से हंस, क्रौंच, सारस और चक्रवाक पक्षी जल से तर निकल रहे हैं। इससे निश्चय होता है कि, इसमें या तो जलपूरित कोई कुआँ अथवा तालाब है ॥१३॥१४॥१५॥१६॥

तथा चेमे बिलद्वारे स्निग्धास्तिष्ठन्ति पादपाः ।
इत्युक्त्वा तद्बिलं सर्वे विविशुस्तिमिरावृतम् ॥१७॥

देखो, इस बिल के मुहाने पर भी हरे भरे वृक्ष लगे हुए हैं। (इससे भी वहाँ कुआँ या तालाब का होना निश्चित होता है।) हनुमान जी के यह कहने पर वे सब वानर उस अन्धियारे बिल में घुस गए ॥१७॥

अचन्द्रसूर्यं हरयो ददृशू रोमहर्षणम् ।
निशाम्य तस्मात्सिंहांश्च तांस्तांश्च मृगपक्षिणः ॥१८॥

उस बिल में सूर्य अथवा चन्द्रमा का प्रकाश न था—अतः उसमे जाते ही वानरों के रोंगटे खड़े हो गए। परन्तु उसमें से सिंहों, मृगों और पक्षियों को निकलते देख, ॥१८॥

प्रविष्टा हरिशार्दूला बिलं तिमिरसंवृतम् ।
न तेषां सज्जते चक्षुर्न तेजो न पराक्रमः ॥१९॥

वे सब वानरश्रेष्ठ उस अंधियारे बिल में घुस गए। उस समय उनकी यह दशा थी कि, उनको आँखों से देख नहीं पड़ता था और (प्यासे होने के कारण) उनके शरीर में तेज पराक्रम नहीं रह गया था ॥१९॥

वायोरिव गतिस्तेषां दृष्टिस्तमसि वर्तते ।

ते प्रविष्टास्तु वेगेन तद्बिलं कपिकुञ्जराः ॥२०॥

यद्यपि उस अन्धकार में उनका कुछ भी नहीं देख पड़ता था, तथापि वे कपिकुञ्जर, वायु की तरह बड़बड़ाते हुए उस बिल में घुस गए ॥२०॥

प्रकाशमभिरामं च ददृशुर्देशमुत्तमम् ।

ततस्तस्मिन् बिले दुर्गे नानापादपसङ्कुले ॥२१॥

अन्योन्यं सम्परिष्वज्य जग्मुर्योजनमन्तरम् ।

ते नष्टसंज्ञास्तृषिताः सम्भ्रान्ताः सलिलार्थिनः ॥२२॥

जब वे उस बिल के भीतर पहुँच गए, तब उन्होंने वहाँ सुन्दर प्रकाश और उत्तम स्थान देखा। (किन्तु वहाँ पहुँचने के पूर्व) उस दुर्गम तथा विविध वृक्षों से परिपूर्ण बिल में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए (अर्थात् एक दूसरे का सहारा लिए हुए) वे एक योजन चले थे। सहारा लेने का कारण यह था कि, वे प्यास से विकल थे और प्यास के मारे मूर्छित से हो रहे थे ॥२१॥२२॥

परिपेतुर्बिले तस्मिन् कञ्चित्कालमतन्द्रिताः ।

ते कृशा दीनवदनाः परिश्रान्ताः प्लवङ्गमाः ॥२३॥

वे वानर पहले ही से दुबले पतले, उदास बदन और थके हुए थे। जब उस बिल में पहुँचे, वे थोड़ी देर तक (भूमि पर) पड़े रहे ॥२३॥

आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविते तदा ।
ततस्तं देशमागम्य सौम्यं वितिमिरं वनम् ॥२४॥

जब वे अपने जीवन से निराश हो रहे थे, तब उनको प्रकाश देख पड़ा। वे वानर ऐसे स्थान में जा पहुँचे, जहाँ प्रकाशयुक्त सुन्दर वन था ॥२४॥

ददृशुः काञ्चनान् वृक्षान् दीप्तवैश्वानरप्रभान् ।
सालांस्तालांश्च पुन्नागान् ककुभान् वञ्जुलान् धवान् ॥२५॥
चम्पकान्नागवृक्षांश्च कर्णिकारांश्च पुष्पितान् ।
स्तवकैः काञ्चनैश्चित्रै रक्तैः किसलयैस्तथा ॥२६॥
आपीडैश्च लताभिश्च हेमाभरणभूषितान् ।
तरुणादित्यसङ्काशान् वैडूर्यकृतवेदिकान् ॥२७॥

उस वन मे उन्होंने प्रज्वलित अग्नि की तरह सोने के पेड़ देखे। उनमें साखू, ताड़, तमाल, नागकेसर, मौलसरी, धव, चम्पा, नागवृक्ष और पुष्पित कर्णिकार के वृक्ष भी थे, जो सोने के रंग बिरंगे पुष्पों के गुच्छों, लाल पत्तों, मञ्जरियों और लताओं से ऐसे शोभायमान थे, मानों किसी ने उन्हें सोने के गहनों से सजा दिया हो। उनमें ऐसे भी कितने पेड़ थे, जो मध्याह्न कालीन सूर्य की तरह चमचमाते पन्नों के चबूतरों पर लगे हुए थे ॥२५॥ ॥२६॥२७॥

विभ्राजमानान् वपुषा पादपांश्च हिरण्मयान् ।
नीलवैडूर्यवर्णाश्च पद्मिनीः पतगावृताः ॥२८॥

ये सब वृक्ष काञ्चनमय होने से चमक रहे थे। सरोवरों के तटों पर नीलम और पन्ने के रंग के नीले हरे पक्षी कूज रहे थे ॥२८॥

महद्भिः काञ्चनैः पद्मैर्वृता वालार्कसन्निभैः।
जातरूपमयैर्मत्स्यैर्महद्भिश्च सकच्छपैः ॥२९॥

उनमें प्रातःकालीन सूर्य की तरह रंग वाले बड़े बड़े सोने के कमल के फूल खिले हुए थे और सोने की बड़ी बड़ी मछलियाँ और कछुए इनमें भरे थे ॥२९॥

नलिनीस्तत्र ददृशुः प्रसन्नसलिलावृताः।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि तथैव च ॥३०॥

इस प्रकार की स्वच्छ जल वाली पुष्करिणियों को देखने के अतिरिक्त वहाँ पर सैकड़ों सोने चाँदी के बने हुए सतखने भवन खड़े हुए थे ॥३०॥

तपनीयगवाक्षाणि मुक्ताजालावृतानि च।
हैमराजतभौमानि वैडूर्यमणिमन्ति च ॥३१॥

उनमें सोने के झरोखे थे और द्वारों पर मोतियों की बन्दनवारें लटक रही थीं। भवनों के फर्श सोने चाँदी के थे और यथास्थान उनमें पन्ना नीलम आदि मणियाँ जड़ी हुई थीं ॥३१॥

ददृशुस्तत्र हरयो गृहमुख्यानि सर्वशः।
पुष्पितान् फलिनो वृक्षान् प्रवालमणिसन्निभान् ॥३२॥

वानरों ने इस प्रकार के बड़े बड़े भवन वहाँ चारों ओर देखे। वहाँ जो वृक्ष थे उनमें मूँगों और मणियों की तरह फूल और फल लगे थे ॥३२॥

काञ्चनभ्रमराश्चैव *मधूनि च समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शयनान्यासनानि च ॥३३॥

उन वृक्षों पर सोने के (सुनहले रंग के) भ्रमर गूँज रहे थे और चारों ओर मधु ही मधु दिखलाई पड़ता था। उन भवनों में मणियों के जड़ाऊ और सोने के बने हुए रंग बिरंगे पलंग और आसन पड़े हुए थे ॥३३॥

महार्हाणि च यानानि ददृशुस्ते समन्ततः ।
हैमराजतकांस्यानां भाजनानां च सञ्चयान् ॥३४॥

बहुमूल्य सवारियाँ भी चारों ओर खड़ी हुई देख पड़ती थीं और सोने, चाँदी एवं काँसे के बरतनों के ढेर लगे हुए थे ॥३४॥

अगरूणां च दिव्यानां चन्दनानां च सञ्चयान् ।
शुचीन्यभ्यवहार्याणि मूलानि च फलानि च ॥३५॥

अगरु और दिव्य चन्दनों का ढेर लगा हुआ था। जगह जगह अनेक प्रकार के अतिपवित्र खाद्यपदार्थ (अर्थात्) मूलों और फलों के ढेर लगे हुए थे ॥३५॥

महार्हाणि च पानानि मधूनि रसवन्ति च ।
दिव्यानामम्बराणां च महार्हाणां च सञ्चयान् ॥३६॥

बड़े मूल्यवान पेय पदार्थ और रसीले मधु फल रखे थे। वहाँ बड़े सुन्दर और मूल्यवान पहिनने के वस्त्रों का भी अच्छा सञ्चय था ॥३६॥

कम्बलानां च चित्राणामजिनानां च सञ्चयान् ।
तत्र तत्र च विन्यस्तान् दीप्तान् वैश्वानरप्रभान् ॥३७॥

---

* पाठान्तरे—"वधूनि"।

इनके अतिरिक्त प्रज्वलित अग्नि की तरह चमकीले रंग बिरंगे केवल (शाल दुशाले) तथा मृगचर्मों के ढेर भी जगह जगह लगे हुए थे ॥३७॥

ददृशुर्वानराः शुभ्राञ्जातरूपस्य सञ्चयान् ।
तत्र तत्र विचिन्वन्तो बिले तस्मिन् महाबलाः ॥३८॥

इस प्रकार उन महाबली वानरों ने वहाँ बिल में (इधर उधर) ढूँढ़ते ढूँढ़ते निर्मल सुवर्ण के ढेर के ढेर जहाँ तहाँ देखे ॥३८॥

ददृशुर्वानराः शूराः स्त्रियं काञ्चिददूरतः ।
तां दृष्ट्वा भृशसन्त्रस्ताश्चीरकृष्णाजिनाम्बराम् ॥
तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा ॥३९॥

तदनन्तर उन शूर वानरों ने पास ही एक तपस्विनी स्त्री को, जो काले मृग का चर्म ओढ़े हुए थी और नियत आहार किया करती थी और बड़ी तेजस्विनी थी, देखा। उसको देख वे सब बहुत भयभीत हो गये ॥३९॥

विस्मिता हरयस्तत्र व्यवातिष्ठन्त सर्वशः ।
पप्रच्छ हनुमांस्तत्र कासि त्वं कस्य वा बिलम् ॥४०॥

वे सब के सब वानर उसे देख विस्मित हो खड़े हो गए। तदनन्तर हनुमान जी ने उससे पूछा कि, तुम कौन हो और यह बिल किस का है? ॥४०॥

ततो हनूमान गिरिसंनिकाशः
कृताञ्जलिस्तामभिवाद्य वृद्धाम् ।

पप्रच्छ का त्वं भवनं बिलं च
रत्नानि हेमानि वदस्व कस्य ॥४१॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

पर्वततुल्य देहधारी हनुमान जी ने हाथ जोड़ कर, उस वृद्ध तापसी से पूछा कि, तुम यह तो बतलाओ कि, तुम कौन हो? यह भवन और यह बिल किसके हैं और इन रत्नों और सुवर्ण की ढेरियों का मालिक कौन है? ॥४१॥

किष्किन्धाकाण्ड का पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

एकपञ्चाशः सर्गः

—❀—

इत्युक्त्वा हनुमांस्तत्र पुनः कृष्णाजिनाम्बराम् ।
अब्रवीत्तां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ॥१॥

यह कह हनुमान जी ने फिर उस चीर और कृष्णाजिन (काले हिरन का चाम) के वस्त्र धारण करने वाली, महाभागा तापसी और धर्मचारिणी स्त्री से कहा ॥१॥

इदं प्रविष्टाः सहसा बिलं तिमिरसंवृतम् ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ताः परिखिन्नाश्च सर्वशः ॥२॥

हम सब लोग थके माँदे भूखे प्यासे और सब प्रकार से खिन्न हो कर, सहसा इस अंधकारपूर्ण बिल में चले आए हैं ॥२॥

महद्धरण्या विवरं प्रविष्टाः स्म पिपासिताः ।
इमांस्त्वेवंविधान् भावान् विविधानद्भुतोपमान् ॥३॥
दृष्ट्वा वयं प्रव्यथिताः सम्भ्रान्ता नष्टचेतसः ।
कस्यैते काञ्चना वृक्षास्तरुणादित्यसन्निभाः ॥४॥

हम लोग विशेष कर प्यासे होने के कारण ही इस बड़े भारी बिल में चले आए हैं, परन्तु यहाँ पर इन अनेक प्रकार के अद्भुत पदार्थों को देख कर, अधिक व्यथित और विकल होने के कारण, हम सब अचेत से हो रहे हैं। ये सब मध्याह्नकालीन सूर्य की तरह चमकीले सोने के वृक्ष किसके हैं? ॥३॥४॥

शुचीन्यभ्यवहार्याणि मूलानि च फलानि च ।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि गृहाणि च ॥५॥

ये सब पवित्र भोज्य पदार्थ फल मूलादि किसके हैं? ये सोने के चमकने भवन और चाँदी के घर ॥५॥

तपनीयगवाक्षाणि मणिजालावृतानि च ।
पुष्पिताः फलवन्तश्च पुण्याः सुरभिगन्धिनः ॥६॥

जो सोने के झरोखों से युक्त हैं और जिन पर मणियों के पर्दे पड़े हैं, किसके हैं? ये सब फल-फूल-युक्त पेड़, जिनकी पवित्र सुगन्ध फैली हुई है, ॥६॥

इमे जाम्बूनदमयाः पादपाः कस्य तेजसा ।
काञ्चनानि च पद्मानि जातानि विमले जले ॥७॥

ये सब सुवर्णमय वृक्ष तथा निर्मल जल में ये सब सुवर्णमय कमल, किसके तेज से फूल रहे हैं ॥७॥

कथं मत्स्याश्च सौवर्णाश्चरन्ति सह कच्छपैः ।
आत्मानमनुभावं च कस्य चैतत्तपोबलम् ॥८॥

ये सोने की मछलियाँ कछुओं सहित जल में क्योंकर विचरती हैं ? क्या ये सब चमत्कार आपके तपःप्रभाव के फलस्वरूप हैं अथवा किसी अन्य के ॥८॥

अजानतां नः सर्वेषां सर्वमाख्यातुमर्हसि ।
एवमुक्ता हनुमता तापसी धर्मचारिणी ॥९॥

हम लोगों को इसका हाल नहीं मालूम । अतः आप हमें इसका समस्त वृत्तान्त बतलाइए । जब हनुमान जी ने इस प्रकार पूछा, तब वह धर्मचारिणी तापसी, ॥९॥

प्रत्युवाच हनूमन्तं सर्वभूतहिते रता ।
मयो नाम महातेजा मायावी दानवर्षभः ॥१०॥

जो सब प्राणियों के ऊपर दया करने वाली थी, हनुमान जी के प्रश्नों का उत्तर देती हुई कहने लगी । महातेजस्वी मय नाम का एक मायावी श्रेष्ठ दानव था ॥१०॥

तेनेदं निर्मितं सर्वं मायया काञ्चनं वनम् ।
पुरा दानवमुख्यानां विश्वकर्मा बभूव ह ॥११॥

उसने ही यह सब सुवर्णमय वन अपनी माया के बल से बनाया है । पहले यह दानव, मुख्यदानवों का विश्वकर्मा अर्थात् शिल्पी था ॥११॥

येनेदं काञ्चनं दिव्यं निर्मितं भवनोत्तमम् ।
स तु वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ॥१२॥

जिसने यह सुवर्णमय दिव्य भवन बनाया है, उसने महावन में एक हजार वर्षों तक तप कर. ॥१२॥

पितामहाद्वरं लेभे सर्वमौशनसं धनम् ।
वनं विधाय बलवान सर्वकामेश्वरस्तदा ॥१३॥

पितामह ब्रह्मा जी से यह वर पाया कि शिल्पविद्या सम्बन्धी जो विद्या शुक्राचार्य ने बनाई है, उसका समस्त ज्ञान उसको हो। वह महाबली इस वन को बना वहाँ की समस्त भोग्य वस्तुओं का स्वामी हो गया ॥१३॥

उवास सुखितः कालं कञ्चिदस्मिन् महावने ।
तमप्सरसि हेमायां शक्तं दानवपुङ्गवम् ॥१४॥

वह इस महावन में कुछ दिनों तक सुखपूर्वक रहा। फिर वह हेमा नामक एक अप्सरा पर आसक्त हो गया ॥१४॥

विक्रम्यैवाशनिं गृह्य जघानेशः पुरन्दरः ।
इदं च ब्रह्मणा दत्तं हेमायै वनमुत्तमम् ॥१५॥

तब इन्द्र ने युद्ध में अपने वज्र से उसको मार डाला। तब ब्रह्मा जी ने यह उत्तम वन हेमा को दे डाला ॥१५॥

शाश्वताः कामभोगाश्च गृहं चेदं हिरण्मयम् ।
दुहिता मेरुसावर्णेरहं तस्याः स्वयंप्रभा ॥१६॥

यहाँ के पदार्थों का उपभोग करने का अधिकार और यह सुवर्णमय भवन भी हेमा को दिया। मैं मेरुसावर्णि की बेटी स्वयंप्रभा हूँ ॥१६॥

इदं रक्षामि भवनं हेमायाः वानरोत्तम ।
मम प्रियसखी हेमा नृत्तगीतविशारदा ॥१७॥

हे वानरोत्तम! मैं हेमा के इस भवन की रखवाली किया करती हूँ। मेरी प्यारी सखी हेमा नाचने गाने मे बड़ी निपुण है ॥१७॥

तया दत्तवरा चास्मि रक्षामि भवनोत्तमम् ।
किं कार्यं कस्य वा हेतोः कान्ताराणि प्रपश्यथ ॥
कथं चेदं वन दुर्गं युष्माभिरुपलक्षितम् ॥१८॥

उसीके दिए हुए वर से मैं इस उत्तम वन की रक्षा करती हूँ। अब तुम बतलाओ तुम किस कार्य के लिये अथवा किस कारणवश इस वन में आए हो। इस दुर्गमवन को तुमने किस प्रकार देखा ॥१८॥

इमान्यभ्यवहार्याणि मूलानि च फलानि च ।
भुक्त्वा पीत्वा च पानीय सर्वं मे वक्तुमर्हथ ॥१९॥

इति एकपञ्चाश. सर्ग ॥

तुम सब लोग इन खाने पीने योग्य पदार्थों को खा कर और पानी पीकर अपने यहाँ आने का समस्त वृत्तान्त मुझसे कहो ॥१९॥

किष्किन्धाकाण्ड का इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—※—

अथ तानब्रवीत्सर्वान् विक्रान्तान् हरिपुङ्गवान् ।
इदं वचनमेकाग्रा तापसी धर्मचारिणी ॥१॥

जब वे सब पराक्रमी वानरश्रेष्ठ खा पी कर विश्राम कर चुके तब तापसी धर्मचारिणी स्वयंप्रभा ने एकाग्रचित्त हो, उनसे ये वचन कहे ॥१॥

वानरा यदि वः खेदः प्रणष्टः फलभक्षणात् ।
यदि चैतन्मया श्राव्यं श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥२॥

हे वानरो! यदि फल खा कर तुम्हारी थकावट मिट गई हो, और यदि यह बात मेरे सुनने योग्य हो, तो मैं चाहती हूँ कि, तुम अपना वृत्तान्त मुझे कह सुनाओ ॥२॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा हनुमान् मारुतात्मजः ।
आर्जवेन[1] यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥३॥

पवनतनय हनुमान जी उस तापसी के ये वचन सुन, निष्कपट भाव से सारा वृत्तान्त ज्यों का त्यों कहने लगे ॥३॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ।
रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥४॥

इन्द्र और वरुणतुल्य, सर्वलोक के राजा दशरथ जी के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी दण्डक वन में गये ॥४॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या चापि भार्यया ।
तस्य भार्या जनस्थानाद्रावणेन हृता बलात् ॥५॥

उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण और उनकी पत्नी वैदेही थी। जनस्थान से उनकी भार्या को बरजोरी रावण हर कर ले गया ॥५॥

वीरस्तस्य सखा राज्ञः सुग्रीवो नाम वानरः ।
राजा वानरमुख्यानां येन प्रस्थापिता वयम् ॥६॥

उनके मित्र राजा सुग्रीव हैं जो बड़े वीर हैं। उन्हीं वानरों के राजा सुग्रीव ने हमको सीता को ढूँढ़ने के लिए भेजा है ॥६॥

अगस्त्याचरितामाशां दक्षिणां यमरक्षिताम् ।
सहैभिर्वानरैर्घोरैरङ्गदप्रमुखैर्वयम् ॥७॥

हम लोग अङ्गदादि प्रधान वानरों के साथ अगस्त्यसेवित यमरक्षित दक्षिण दिशा में आए हैं ॥७॥

रावणं सहिताः सर्वे राक्षसं कामरूपिणम् ।
सीतया सह वैदेह्या मार्गध्वमिति चोदिताः ॥८॥

सुग्रीव ने हम लोगों को आज्ञा दी है कि, हम सब मिल कर सीता जी का तथा कामरूपी राक्षस रावण का पता लगावें ॥८॥

विचित्य तु वयं सर्वे समग्रां दक्षिणां दिशम् ।
बुभुक्षिताः परिश्रान्ता वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥९॥

तदनुसार हमने सारी दक्षिण दिशा ढूँढ़ डाली। अन्त में भूखे प्यासे और थके माँदे हो, हम लोग वृक्ष के नीचे बैठ गए ॥९॥

विवर्णवदनाः सर्वे सर्वे ध्यानपरायणाः ।
नाधिगच्छामहे पारं मग्नाश्चिन्तामहार्णवे ॥१०॥

हमारे सब के चेहरे पीले पड़ गए और हम लोग अत्यन्त चिन्तित हुए। हम चिन्ता के समुद्र में ऐसे डूबे कि, किसी तरह उसके पार न जा सके ॥१०॥

चारयन्तस्ततश्चक्षुर्दृष्टवन्तो वयं विलम् ।
लतापादपसंछन्नं तिमिरेण समावृतम् ॥११॥

जब हम चारों ओर दृष्टि दौड़ा कर खोज रहे थे, तब हमको यह बिल देख पड़ा, जो लता और वृक्षों से ढका था और जिसमें अन्धकार छाया था ॥११॥

अस्माद्धंसा जलक्लिन्नाः पक्षैः सलिलरेणुभिः* ।
कुररः सारसाश्चैव निष्पतन्ति पतत्रिणः ॥१२॥

उस समय इस बिल से जल में भीगे और पुष्पराग से रंगे हंस कुरर और सारस पक्षी निकल रहे थे ॥१२॥

साध्वत्र प्रविशामेति मया तूक्ताः प्लवङ्गमाः ।
तेषामपि हि सर्वेषामनुमानमुपागतम् ॥१३॥

यह देख हमने वानरों से कहा कि अच्छा चलो इसमें चलें। मेरी यह बात सब वानरों को रुची अथवा जल से भीगे पक्षियों को देख उसमें जल का अनुमान कर सब वानर उस बिल में आने को राजी हो गए ॥१३॥

गच्छाम प्रविशामेति भर्तृकार्यत्वरान्विताः ।
ततो गाढं निपतिता गृह्य हस्तौ परस्परम् ॥१४॥

---

* पाठान्तरे—"सलिल विन्नेः।"

हम सब को कार्य पूरा करने की उतावली थी, अतएव हम सब बड़ी शीघ्रता से इस बिल में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए घुस आए ॥१४॥

इदं प्रविष्टाः सहसा बिलं तिमिरसंवृतम् ।
एतन्नः कार्यमेतेन कृत्येन वयमागताः ॥१५॥

इस प्रकार हम इस अन्धकाराच्छन्न बिल में सहसा घुसे। बस यही हमारा कार्य है और इसी कार्य के लिए हम यहाँ आए हैं ॥१५॥

त्वां चैवोपगताः सर्वे परिद्यूना[१] बुभुक्षिताः ।
आतिथ्यधर्मदत्तानि मूलानि च फलानि च ॥१६॥

हम सब भूख और प्यास से क्षीण हो, तुम्हारे पास आए और तुमने आतिथ्य धर्मानुसार हमें फल मूल खाने को दिए ॥१६॥

अस्माभिरुपभुक्तानि बुभुक्षापरिपीडितैः ।
यत्त्वया रक्षिताः सर्वे म्रियमाणा बुभुक्षया ॥१७॥

भूख से पीड़ित, हम लोगों ने उन फलों को खाया। सो तुमने मानों भूख से मरते हुए हम लोगों की जान बचा ली ॥१७॥

ब्रूहि प्रत्युपकारार्थं किं ते कुर्वन्तु वानराः ।
एवमुक्ता तु सर्वज्ञा वानरैस्तैः स्वयंप्रभा ॥१८॥

अब बतलाओ इसके बदले में हम सब वानर तुम्हारा क्या प्रत्युपकार करें। जब उन वानरों ने सर्वज्ञ स्वयंप्रभा से इस प्रकार कहा ॥१८॥

---

[१] परिद्यूना—परिक्षीणा। (गो०)

प्रत्युवाच ततः सर्वानिदं वानरयूथपान् ।
सर्वेषां परितुष्टास्मि वानराणां तरस्विनाम् ।
चरन्त्या मम धर्मेण न कार्यमिह केनचित् ॥१९॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः

तब वह उन सब वानरयूथपतियों से यह बोली कि, मैं तुम समस्त बलवान वानरों से सन्तुष्ट हूँ। मैं यहाँ धर्मानुष्ठान कर रही हूँ। मुझे किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥१९॥

किष्किन्धाकाण्ड का बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—*—

एवमुक्तः शुभं वाक्यं तापस्या धर्मसंहितम् ।
उवाच हनुमान् वाक्यं तामनिन्दितचेष्टिताम् ॥१॥

जब उस तपस्विनी ने इस प्रकार शुभ एवं धर्मयुक्त वचन कहे, तब हनुमान् जी ने उस अनिन्दित कार्य करने वाली से कहा ॥१॥

शरणं त्वा प्रपन्नाः स्मः सर्वे वै धर्मचारिणि ।
यः कृतः समयोऽस्माकं सुग्रीवेण महात्मना ॥२॥

हे धर्मचारिणी! हम सब तेरे शरण हैं। महात्मा सुग्रीव ने हमारे लिए जो अवधि बाँध दी थी ॥२॥

स तु कालो ह्यतिक्रान्तो बिले च परिवर्तताम् ।
सा त्वमस्माद्बिलाद्घोरादुत्तारयितुमर्हसि ॥३॥

वह इस बिल में रहते रहते ही बीत गई। सो तुम शीघ्रता-पूर्वक हम सब को इस बिल से बाहर पहुँचा दो ॥३॥

तस्मात्सुग्रीववचनादतिक्रान्तान् गतायुषः ।
त्रातुमर्हसि नः सर्वान् सुग्रीवभयकर्शितान् ॥४॥

क्योंकि हम सब ने सुग्रीव की बाँधी हुई अवधि बिता दी है सो हमारा सब का मरण अब निकट ही है। अतः सुग्रीव के भय से भीत हम सब की तुम रक्षा करो ॥४॥

महच्च कार्यमस्माभिः कर्तव्यं धर्मचारिणि ।
तच्चापि न कृतं कार्यमस्माभिरिहवासिभिः ॥५॥

हे धर्मचारिणी! हमको बड़ा भारी काम करना था—वह काम हम यहाँ रहने के कारण नहीं कर सके ॥५॥

एवमुक्ता हनुमता तापसी वाक्यमब्रवीत् ।
जीवता दुष्करं मन्ये प्रविष्टेन निवर्तितुम् ॥६॥

हनुमान् जी के इस प्रकार कहने पर तापसी ने कहा—इस बिल में जो घुस आता है, यद्यपि उसका जीवित यहाँ से लौटना दुष्कर है ॥६॥

तपसस्तु प्रभावेण नियमोपार्जितेन च ।
सर्वानेव बिलादस्मादुद्धरिष्यामि वानरान् ॥७॥

तथापि मैं नियमोपार्जित अपनी तपस्या के प्रभाव से तुम सब वानरों को इस बिल के बाहर निकाल दूँगी ॥७॥

निमीलयत चक्षूंषि सर्वे वानरपुङ्गवाः ।
न हि निष्क्रमितुं शक्यमनिमीलितलोचनैः ॥८॥

तुम सब कपिश्रेष्ठ अपनी अपनी आँखें बंद कर लो—क्योंकि बिना नेत्र बंद किए इस बिल से कोई नहीं निकल सकता ॥८॥

ततः संमीलिताः सर्वे सुकुमाराङ्गुलैः करैः ।
सहसा पिदधुर्दृष्टिं हृष्टा गमनकाङ्क्षिणः* ॥९॥

तब अपने अपने हाथों की कोमल अँगुलियों से सब वानरों ने अपनी अपनी आँखे ढक लीं। क्योंकि उस बिल से निकलने की उन सब को बड़ी प्रसन्नता और उत्सुकता थी ॥९॥

वानरास्तु महात्मानो हस्तरुद्धमुखास्तदा ।
निमेषान्तरमात्रेण बिलादुत्तारितास्तया ॥१०॥

जब उन सब महात्मा वानरों ने अपनी अपनी आँखें हाथों से ढक लीं, तब उस तपस्विनी ने एक पल में उन सब वानरों को बिल के बाहर पहुँचा दिया। १०॥

ततस्तान् वानरान् सर्वांस्तापसी धर्मचारिणी ।
निःसृतान् विषमात्तस्मात्समाश्वास्येदमब्रवीत् ॥११॥

उस धर्मचारिणी तापसी स्वयप्रभा ने जब उन सब के सब वानरों को उस बेढब स्थान से बाहिर पहुँचा दिया, तब वह उनको धीरज बँधाती हुई कहने लगी ॥११॥

एष विन्ध्यो गिरिः श्रीमान् नानाद्रुमलताकुलः ।
एष प्रस्रवणः शैलः सगरोऽयं महोदधिः ॥१२॥

अनेक प्रकार के वृक्षलता आदि से शोभायमान विन्ध्याचल पर्वत यही है, यह प्रस्रवण पर्वत है और यह महासागर है ॥१२॥

*पाठान्तरे—गमनकाङ्क्षया ।

स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि भवनं वानरर्षभाः ।
इत्युक्त्वा तद्बिलं श्रीमत्प्रविवेश स्वयंप्रभा ॥१३॥

तुम्हारा मङ्गल हो, मैं अब अपने भवन को जाऊँगी। यह कह कर तापसी स्वयप्रभा उस परम सुन्दर बिल में घुस गई ॥१३॥

ततस्ते ददृशुर्घोरं सागरं वरुणालयम् ।
अपारमभिगर्जन्तं घोरैरूर्मिभिराव्रतम् ॥१४॥

जब सब वानर बिल के बाहिर आए, तब उन्होंने उस भयङ्कर वरुणालय (वरुण जी का घर) सागर को देखा, जिसका पारावार न था, जो गर्ज रहा था तथा जिसमें बड़ी बड़ी भयङ्कर लहरें उठ रही थीं ॥१४॥

मयस्य मायाविहितं गिरिदुर्गं विचिन्वताम् ।
तेषां मासो व्यतिक्रान्तो यो राज्ञा समयः कृतः ॥ १५॥

मय के मायारचित बिल, पर्वतों तथा दुर्गम स्थानों को ढूँढते ढूँढते ही सुग्रीव का निर्दिष्ट किया हुआ एक मास, व्यतीत हो ॥१५॥

विन्ध्यस्य तु गिरेः पादे सम्प्रपुष्पितपादपे ।
उपविश्य महात्मानश्चिन्तामापेदिरे तदा ॥१६॥

अतएव वे सब महात्मा वानर विन्ध्यपर्वत की तलहटी में जहाँ फूले हुए वृक्ष लगे हुए थे, बैठ कर चिन्तित हो, सोचने लगे ॥१६॥

ततः पुष्पातिभाराग्रॉलताशतसमावृतान् ।
द्रुमान् वासन्तिकान् दृष्ट्वा बभूवुर्भयशङ्किताः॥१७॥

वसन्त ऋतु में फूलने वाले वृक्षों को फूलों से लदे और सैकड़ों लताओं से वेष्टित देख, वे सब वानर बहुत भयभीत हुए (अतिकाल व्यतीत हो जाने के कारण) ॥१७॥

ते वसन्तमनुप्राप्तं प्रतिबुद्ध्वा परस्परम् ।
नष्टसन्देशकालार्था निपेतुर्धरणीतले ॥१८॥

आपस में यह कहते हुए कि, वसन्तकाल आ पहुँचा और सुग्रीव का नियत किया हुआ समय बीत गया, वे पृथिवी पर गिर पड़े ॥१८॥

[टिप्पणी—मार्गशीर्ष में यह वानर दल चला था और अगहन में उसे लौटना था ! किन्तु अगहन की जगह अब चैत मास आगया ।]

ततस्तान्कपिवृद्धांस्तु शिष्टांश्चैव वनौकसः ।
वाचा मधुरयाऽऽभाष्य यथावदनुमान्य च ॥१९॥
स तु सिंहवृषस्कन्धः पीनायतभुजः कपिः ।
युवराजो महाप्राज्ञ अङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥२०॥

तदनन्तर यथावत् अनुमान कर सिंह वृषभ सदृश कंधों वाले, मोटी और लम्बी भुजाओं वाले और बड़े बुद्धिमान् युवराज अङ्गद बड़े बूढ़े और शिष्ट वानरों से मधुर वाणी से बोले ॥१९॥२०॥

शासनात्कपिराजस्य वयं सर्वे विनिर्गताः ।
मासः पूर्णो बिलस्थानां हरयः किं न बुध्यते ॥२१॥

हम सब लोग कपिराज सुग्रीव की आज्ञा से किष्किन्धा से निकले थे। सुग्रीव ने एक मास की जो अवधि बाँधी थी, वह तो इस बिल ही में बीत गयी। सो हे वानरो! तुमको यह बात क्यों नहीं खटकती ॥२१॥

वयमाश्वयुजे मासि कालसंख्याव्यवस्थिताः ।
प्रस्थिताः सोऽपि चातीतः किमतः कार्यमुत्तरम् ॥२२॥

देखो हम सब एकत्र कर एक मास में कार्य कर लौट आने का समय निर्दिष्ट कर, कार्तिक मास में भेजे गए थे। सो वह अवधि तो बीत गई। अब आप लोग बतलाइए आगे क्या किआ जाय ॥२२॥

भवन्तः प्रत्ययं प्राप्ता नीतिमार्गविशारदाः ।
हितेष्वभिरता भर्तुर्निसृष्टाः सर्वकर्मसु ॥२३॥

आपलोग कपिराज के विश्वासपात्र हैं, नीतिविशारद हैं, स्वामी के हित में तत्पर हैं और सब कार्यों के करने में निपुण हैं ॥२३॥

कर्मस्वप्रतिमाः सर्वे दिक्षु विश्रुतपौरुषाः ।
मां पुरस्कृत्य निर्याताः पिङ्गाक्षप्रतिचोदिताः ॥२४॥

कार्य कौशल मे आप बेजोड़ हैं, आप अपने पुरुषार्थ के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। पीले नेत्र वाले कपिराज की आज्ञा से आप लोग मुझे अपना प्रधान बना कर, घर से निकले हैं ॥२४॥

इदानीमकृतार्थानां मर्तव्यं नात्र संशयः ।
हरिराजस्य सन्देशमकृत्वा कः सुखी भवेत् ॥२५॥

किन्तु जिस कार्य के लिए हम आए हैं, वह अभी तक पूरा नहीं हुआ। अतः हम लोग निस्सन्देह मारे जॉयगे। क्योंकि कपिराज की आज्ञा की अवहेलाकर, कौन सुखी हो सकता है ॥२५॥

तस्मिन्नतीते काले तु सुग्रीवेण कृते स्वयम् ।
प्रायोपवेशनं युक्तं सर्वेषां च वनौकसाम् ॥२६॥

जो अवधि स्वयं सुग्रीव ने बाँधी थी, उसे बीत जाने पर अब सब वानरों को उचित है कि, खाना पीना छोड़ दें अर्थात अनशन करें ॥२६॥

तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः स्वामिभावे व्यवस्थितः ।
न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान् ॥२७॥

क्योंकि सुग्रीव का स्वभाव वैसे बड़ा कठोर है, तिस पर वह इस समय हम लोगों के राजा हैं। अतः अपराध होने पर वे किसी तरह हम लोगों को क्षमा नहीं करेंगे ॥२७॥

अप्रवृत्तौ च सीतायाः [1]पापमेव करिष्यति ।
तस्मात्क्षममिहाद्यैव प्रायोपविशनं हि नः ॥२८॥

बल्कि सीता का पता न लगाने के कारण वे हमें अवश्य मार डालेंगे। अतः उस मारे जाने से तो यहाँ भूखे प्यासे रह कर मर जाना कहीं अच्छा है ॥२८॥

त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च धनानि च गृहाणि च ।
ध्रुवं नो हिंसिता राजा सर्वान् प्रतिगतानितः ॥२९॥

वधेनाप्रतिरूपेण श्रेयान् मृत्युरिहैव नः ।
न चाहं यौवराज्येन सुग्रीवेणाभिषेचितः ॥३०॥

यदि हम लोग यहाँ से किष्किन्धा में लौट कर चले जायँगे तो, स्त्री, धन और गृहादि की मोहममता त्याग कर, सुग्रीव के हाथ से मारे जाने की अपेक्षा, यहाँ ही मरना हम लोगों के लिए श्रेयस्कर है। सुग्रीव ने मुझे युवराजपद पर स्वयं अभिषिक्त नहीं किया ॥२९॥३०॥

---

१ पापं—वधं (शि०)

नरेन्द्रेणाभिषिक्तोऽस्मि रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
स पूर्वं बद्धवैरो मां राजा दृष्ट्वा व्यतिक्रमम् ॥३१॥
घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः ।
किं मे सुहृद्भिर्व्यसनं पश्यद्भिर्जीवितान्तरे ॥३२॥

बल्कि अक्लिष्टकर्मा महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने मुझको अभिषिक्त किया है (अर्थात् इसके लिए श्री रामचन्द्र जी का कृतज्ञ हूँ सुग्रीव का नहीं)। सुग्रीव तो पहले ही से अपना बैरी माने बैठा है। फिर जब उसे मालूम होगा कि, मैंने काम पूरा नहीं किया तो वह अवश्य ही मुझे बड़ी निठुरता से मरवा डालेगा। अपने इष्ट मित्रों के सामने, निन्द्य मृत्यु की अपेक्षा ॥३१॥३२॥

इहैव प्रायमासिष्ये पुण्ये सागररोधसि ।
एतच्छ्रुत्वा कुमारेण युवराजेन भाषितम् ॥३३॥

इस पुण्यप्रद सागरतट पर प्राण त्यागना हमारे लिए ठीक है जब युवराज के इन वचनों को उन सब वानरों ने सुना ॥३३॥

सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः करुणं वाक्यमब्रुवन् ।
तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः प्रियासक्तश्च राघवः ॥३४॥

तब वे सब के सब वानरगण करुणापूर्ण वाणी से बोले, सुग्रीव तो उग्र प्रकृति के हैं और श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्रिया में अनुरक्त हो रहे हैं ॥३४॥

अदृष्टायां तु वैदेह्यां दृष्ट्वा चैव समागतान् ।
राघवप्रियकामार्थं घातयिष्यत्यसंशयम् ॥
न क्षमं चापराद्धानां गमनं स्वामिपार्श्वतः ॥३५॥

हम लोगों को जब वे देखेंगे कि, वानर (अकृतकार्य हो) लौट आए, तब श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिए अवश्य ही हम लोगों को मार डालेंगे। अतः अपराध करके पहले स्वामी के पास जाना उचित नहीं ॥२५॥

इहैव सीतामन्विष्य प्रवृत्तिमुपलभ्य वा।
नो चेद्गच्छाम तं वीरं गमिष्यामो यमक्षयम् ॥२६॥

हम लोग यहीं रह कर सीता को ढूँढेंगे अथवा सीता का वृत्तान्त जानने का प्रयत्न करेंगे। यदि बिना पता पाए हम लोग उस वीर के पास गए तो हमें यमालय जाना पड़ेगा ॥२६॥

प्लवङ्गमानां तु भयार्दितानां
श्रुत्वा वचस्तार इदं बभाषे।
अलं विषादेन बिलं प्रविश्य
वसाम सर्वे यदि रोचते वः ॥२७॥

उन भयभीत वानरों के ये वचन सुन, तार ने यह कहा, तुम लोग दुःखी न हो यदि तुम लोगों की इच्छा हो, तो हम सब उस बिल में फिर चले चलें और वहीं चलकर बस जायँ ॥ ३७॥

इदं हि मायाविहितं सुदुर्गमं
प्रभूतवृक्षोदकभोज्यपेयकम्।
इहास्ति नो नैव भयं पुरन्दरा-
न्नराघवाद्वानरराजतोऽपि वा ॥२८॥

क्योंकि यह माया द्वारा निर्मित बिल बड़ा दुर्गम है वहाँ बसने पर भोजन की भी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। क्योंकि वहाँ

पर खाने के लिए अनेक फल उत्पन्न करने वाले वृक्ष हैं और पीने के लिए बहुत सा जल भी है। वहाँ रहने पर न तो इन्द्रका न कपिराज सुग्रीव का और न श्री रामचन्द्र जी ही का कुछ भय है ॥३८॥

श्रुत्वाङ्गदस्यापि वचोऽनुकूल—
मूचुश्च सर्वे हरयः प्रतीताः ।
यथा न हिंस्येम तथा विधान—
मसक्तमद्यैव विधीयतां नः ॥३९॥

इति त्रिपञ्चाश सर्ग ॥

इसके अनुकूल अगद सभी वचन सुन, सब वानर उनकी बातें पर विश्वास कर, बोले कि हे युवराज! आप ऐसा प्रबन्ध करें, जिससे हम लोग न मारे जॉय ॥३९॥

किष्किन्धाकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—❀—

तथा ब्रुवति तारे तु ताराधिपतिवर्चसि ।
अथ मेने हृतं राज्यं हनुमानङ्गदेन तत् ॥१॥

चन्द्रमा के समान प्रभाशाली तार के इस प्रकार कहने पर हनुमान् जी ने अनुमान द्वारा जाना कि, बस वानरो का राज्य अगद ने लिआ, अर्थात् सब वन्दर अगद के कहने मे आ गये ॥१॥

बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं चतुर्बलसमन्वितम् ।
चतुर्दशगुणं मेने हनुमान् वालिनः सुतम् ॥२॥

क्योंकि हनुमान् जी ने देखा कि अंगद *अष्टाङ्ग बुद्धि से सम्पन्न हैं †चार प्रकार के सैनिक बल से युक्त हैं और ‡चौदह गुणों से भूषित हैं ॥२॥

आपूर्यमाणं शश्वच्च तेजोबलपराक्रमैः ।
शशिनं शुक्लपक्षादौ वर्धमानमिव श्रिया ॥३॥

हनुमान जी ने देखा कि अंगद सदा ही तेज, बल और पराक्रम में, शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह उत्तरोत्तर शोभा के आधिक्य से शोभायमान हो रहे हैं ॥३॥

बृहस्पतिसमं बुद्ध्या विक्रमे सदृशं पितुः ।
शुश्रूषमाणं तारस्य शुक्रस्येव पुन्दरम् ॥४॥

अंगद बुद्धि में बृहस्पति के समान, पराक्रम में अपने पिता के समान और तार की बातों को वे उसी प्रकार मानते हैं, जैसे इन्द्र ने शुक्र की बात को माना था ॥४॥

---

*अष्टाङ्गबुद्धिः—
"ग्रहणं धारणं चैव स्मरणं प्रतिपादनम् ।
ऊहोपोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च गुणाः ॥" (गो०)

†चार प्रकार के बल :—
१ बाहुबल, २ मनोबल ३ उपायबल और ४ बन्धुबल । (गो०)

‡चौदहगुण—
"देशकालज्ञता दार्ढ्यं सर्वक्लेशसहिष्णुता ।
सर्वविज्ञानिता दाक्ष्यमूर्जः संवृतमन्त्रता ।
अविसंवादिता शौर्यं शक्तिज्ञत्वं कृतज्ञता ।
शरणागतवात्सल्यममर्षित्वमचापलम् ॥" (गो०)

भर्तुरर्थे परिश्रान्तं सर्वशास्त्रविदां वरम् ।
अभिसन्धातुमारेभे हनुमानङ्गदं ततः ॥५॥

तब ऐसे अंगद को अपने स्वामी के कार्य के साधन में परिश्रान्त अथवा शिथिल देख, सर्वशास्त्र विशारद हनुमान् जी उनको रास्ते लाने के लिए कहने लगे ॥५॥

स चतुर्णामुपायानां तृतीयमुपवर्णयन् ।
भेदयामास तान् सर्वान् वानरान् वाक्यसम्पदा ॥६॥

इस प्रकार अपने मन में विचार, हनुमान् जी ने चार प्रकार के (१ साम, २ दाम, ३ भेद, ४ दण्ड) उपायों में से तीसरे उपाय से काम लिया और अपनी वाणी की चतुराई से वानरों में आपस में भेद डाला अर्थात् फूट फैलाई ॥६॥

तेषु सर्वेषु भिन्नेषु ततोऽभीषयदङ्गदम् ।
भीषणैर्बहुभिर्वाक्यैः कोपोपायसमन्वितैः ॥७॥

जब वे अंगद से फूट कर उनसे अलग हो गए, तब हनुमान् जी ने दण्डनीति का आश्रय ले, अनेक भयप्रद वाक्यों से अंगद को भय दिखला कर, कहा ॥७॥

त्वं समर्थतरः पित्रा युद्धे तारेय वै धुरम् ।
दृढं धारयितुं शक्तः कपिराज्यं यथा पिता ॥८॥

हे तारेय (तारा के पुत्र)! तुम युद्ध करने में पिता से भी बढ़ कर सामर्थ्य रखते हो और कपियों के राजसिंहासन पर अभिषिक्त होने पर तुम अपने पिता की तरह ही दृढ़ता से राज्य कर सकते हो ॥८॥

नित्यमस्थिरचित्ता हि कपयो हरिपुङ्गव ।
नाज्ञाप्यं विसहिष्यन्ति पुत्रदारान् विना त्वया ॥९॥

किन्तु, हे वानरश्रेष्ठ! ये वानर सदा चञ्चल चित्त स्वभाव के होते हैं, सो ये अपने पुत्रों और स्त्रियों को छोड़, तुम्हारे आज्ञाकारी कभी नहीं बने रहेंगे ॥९॥

त्वां नैते ह्यनुयुञ्जेयुः प्रत्यक्षं प्रवदामि ते ।
यथायं जाम्बवान्नीलः सुहोत्रश्च महाकपिः ॥१०॥

न ह्यहं त इमे सर्वे सामदानादिभिर्गुणैः ।
दण्डेन वा त्वया शक्याः सुग्रीवादपकर्षितुम् ॥११॥

मैं तुमसे इन सब के मुँह पर ही कहता हूँ कि, ये लोग (अपनी स्त्रियों और पुत्रों को छोड़, तुम्हारे ऊपर अनुरागवान् नहीं होंगे।) ये जाम्बवान्, नील, महाकपि सुहोत्र और मुझको तथा इन समस्त वानरों के मन को तुम साम, दाम, भेद, दण्ड द्वारा सुग्रीव की ओर से कभी नहीं फेर सकते ॥१०॥११॥

विगृह्यासनमप्याहुर्दुर्बलेन बलीयसः ।
आत्मरक्षाकरस्तस्मान्न विगृह्णीत दुर्बलः ॥१२॥

देखो बलवान् दुर्बल को जीत कर, उसका आसन ले सकता है, अतएव दुर्बल को अपनी रक्षा के लिए बलवान् से वैर करना उचित नहीं ॥१२॥

यां चेमां मन्यसे धात्रीमेतद्बिलमिति श्रुतम् ।
एतल्लक्ष्मणबाणानामीषत्कार्यं विदारणे ॥१३॥

और जो तुम इस बिल को अपनी रक्षा करने वाला समझ बैठे हो, सो यह भी व्यर्थ ही है, क्योंकि इस गुफा को बाणों से नष्ट कर देना लक्ष्मण जी के लिए एक खेल सरीखा है ॥१३॥

स्वल्पं[1] हि कृतमिन्द्रेण क्षिपता ह्यशनिं पुरा ।
लक्ष्मणो निशितैर्बाणैर्भिन्द्यात्पत्रपुटं यथा ॥१४॥

जब इन्द्र ने क्रुद्ध हो इस पर वज्र मारा, तब इसमें एक छोटा सा छेद ही हो कर रह गया था, किन्तु जब लक्ष्मण जी क्रुद्ध होंगे, तब पैने बाणों से पत्ते के दोने की तरह इस बिलको नष्ट कर डालेंगे ॥१४॥

लक्ष्मणस्य तु नाराचा बहवः सन्ति तद्विधाः ।
वज्राशनिसमस्पर्शा गिरीणामपि दारणाः ॥१५॥

लक्ष्मण जी के पास पर्वतों तक को तोड़ने वाले वज्र तुल्य बहुत से बाण विद्यमान हैं ॥१५॥

अवस्थाने यदैव त्वमासिष्यसि परन्तप ।
तदैव हरयः सर्वे त्यक्ष्यन्ति कृतनिश्चयाः ॥१६॥

हे परन्तप ! तुम जैसे ही इस बिल में अपना वास स्थान बनाओगे, वैसे ही ये सब वानर अपना पक्का इरादा त्याग कर, तुमको छोड़ कर चल देंगे ॥१६॥

स्मरन्तः पुत्रदाराणां नित्योद्विग्ना बुभुक्षिताः ।
खेदिता दुःखशय्याभिस्त्वां करिष्यन्ति पृष्ठतः ॥१७॥

ये सब वानर अपनी अपनी स्त्रियों और अपने अपने बाल बच्चों को याद कर, सदा उद्विग्न चित्त रहने के कारण, न तो खायँगे

---

१ स्वल्पकृत—द्वारमात्रे कृत । (गो०)

और न मारे दुःख के सोवेंगे ही। परिणाम यह होगा कि, तुम्हें प'ठ दिखा ये चल देंगे। अर्थात् तुम्हे पीछे छोड़ दगे ॥१७॥

स त्वं हीनः सुहृद्भिश्च हितकामैश्च बन्धुभिः।
तृणादपि भृशोद्विग्नः स्पन्दमानाद्भविष्यसि ॥१८॥

इस प्रकार तुम मित्र और हितैषी बन्धुओं से रहित हो कर, तिनके से भो गए बीते हो जाओगे और उद्विग्नता के कारण तुम्हारा हृदय जोर जोर से धड़कने लगेगा ॥१८॥

*अत्युग्रवेगा निशिता घोरा लक्ष्मणसायकाः।
अपावृत्तं जिघांसन्तो महावेगा दुरासदाः ॥१६॥

स्मरण रखना, लक्ष्मण के अति वेगयुक्त, भयङ्कर और बड़े कष्ट से सहने योग्य बाणों को तुम रोक न सकोगे और वे तुम्हारे शरार को विदार्ण कर डालेंगे ॥१६॥

अस्माभिस्तु गतं सार्धं विनीतवदुपस्थितम्।
आनुपूर्व्यात्तु सुग्रीवो राज्ये त्वां स्थापयिष्यति ॥२०॥

और यदि तुम हमारे साथ चलोगे और विनीत भाव से सुग्रीव के सामने खड़े हो जाओगे, तो सुग्रीव क्रमागत प्राप्त राज्य पर, तुमको अभिषिक्त कर देंगे ॥२०॥

+धर्मकामः पितृव्यस्ते प्रीतिकामो दृढव्रतः।
शुचिः सत्यप्रतिज्ञश्च न त्वां जातु जिघांसति ॥२१॥

तुम्हारे चचा सुग्रीव धर्मात्मा, प्रीतिमान् दृढ़व्रत, पवित्र और सत्यप्रतिज्ञ हैं। वे कभी तुम्हारा वध न करेंगे ॥२१॥

---

* पाठान्तरे—" न च आतुरदिस्युस्त्वा। + पाठान्तरे—"धर्मराज "।

प्रियकामश्च ते मातुस्तदर्थं चास्य जीवितम् ।
तस्यापत्यं च नास्त्यन्यत्तस्मादङ्गद गम्यताम् ॥२२॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

फिर वे कभी ऐसा काम न करेंगे जो तुम्हारी माता तारा के प्रीतिकर न हो, क्योंकि सुग्रीव का जीवन तारा के अधीन है (फिर सुग्रीव के कोई दूसरा पुत्र भी नहीं है कि, वे तुम्हें मार कर उसे राज्य दे देंगे । अतएव हे अंगद ! तुम अवश्य किष्किन्धा चलो ॥२२॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—❀—

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ।
स्वामिसत्कारसंयुक्तमङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

हनुमान जी के विनम्र एवं धर्मयुक्त तथा स्वामी के प्रति सम्मान-सूचक वचनों को सुन, अंगद बोले ॥१॥

स्थैर्यमात्ममनःशौचमानृशंस्यमथार्जवम् ।
विक्रमश्चैव धैर्यं च सुग्रीवे नोपपद्यते ॥२॥

हे हनुमान् ! स्थिरबुद्धिता, आत्मशुद्धि, अन्तःकरण की पवित्रता, कोमलता, विनम्रता, विक्रम और गम्भीरता, ये सब गुण सुग्रीव में हैं ही नहीं ॥२॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम् ।
धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः ॥३॥

देखो, सुग्रीव ने तो अपने जीवित ज्येष्ठ भ्राता की स्त्री को, जो धर्म से उसकी माता के समान है, अपनी स्त्री बना लिया यह तो महानिन्द्य कर्म है ॥३॥

कथं स धर्मं जानीते येन भ्रात्रा महात्मना ।
युद्धायाभिनियुक्तेन बिलस्य पिहितं मुखम् ॥४॥

वह दुरात्मा क्यों कर धर्म का जानने वाला कहा जा सकता है, जिसने युद्ध करते हुए अपने बड़े भाई की आज्ञा के विरुद्ध, बिल का द्वार बंद कर दिया था ॥४॥

सत्यात्पाणिगृहीतश्च कृतकर्मा महायशाः ।
विस्मृतो राघवो येन स कस्य तु कृतं स्मरेत् ॥५॥

जिसने सत्य को आगे कर (अर्थात् सत्यप्रतिज्ञा कर) हाथ पकड़ मैत्री की और फिर वही अपने उपकारी और महायशस्वी मित्र श्रीरामचन्द्र जी को भूल गया उसे कौन कृतज्ञ कह सकता है ॥५॥

लक्ष्मणस्य भयाद्येन नाधर्मभयभीरुणा ।
आदिष्टा मार्गितुं सीतां धर्मस्मिन् कथं भवेत् ॥६॥

जिसने लक्ष्मण के भय से न कि अधर्म के भय से भीत हो सीता को ढूँढ़ने के लिए हमको भेजा, भला उसमें धर्म कहाँ हो सकता है ॥६॥

तस्मिन् पापे कृतघ्ने तु स्मृतिहीने चलात्मनि ।
आर्यः को विश्वसेज्जातु तत्कुलीनो जिजीविषुः ॥७॥

ऐसे पापी कृतघ्नी शास्त्रोक्त धर्महीन और चञ्चलमना में कौन श्रेष्ठ पुरुष और विशेष कर, इसी कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष, क्यों कर विश्वास कर सकता है ॥७॥

राज्ये पुत्रः प्रतिष्ठाप्यः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
कथं शत्रुकुलीनं मां सुग्रीवो जीवयिष्यति ॥८॥

फिर सुग्रीव चाहे गुणवान् हो अथवा गुणरहित, परन्तु वह अपने शत्रु के पुत्र को राज्य दे कर भी क्योंकर मुझे जीवित रहने देगा ? ॥८॥

भिन्नमन्त्रोऽपराद्धश्च हीनशक्तिः कथं ह्यहम् ।
किष्किन्धां प्राप्य जीवेयमनाथ इव दुर्बलः ॥९॥

बिल में जा कर रहने का मेरा जो विचार था, वह अब प्रकाशित हो चुका है। उस मन्त्रणा के कारण मैं सुग्रीव के निकट अब अपराधी हूँ। साथ ही मैं हीन बल भी हूँ। ऐसी दशा में मैं यदि किष्किन्धा जाऊँ भी तो वहाँ मैं दुर्बल और अनाथ हो कर क्योंकर जीवन बिता सकूँगा ? ॥९॥

उपांशुदण्डेन हि मां बन्धनेनोपपादयेत् ।
शठः क्रूरो नृशंसश्च सुग्रीवो राज्यकारणात् ॥१०॥

उस शठ, क्रूर और निष्ठुर सुग्रीव को राज्य का बड़ा लोभ है। अत वह भले ही मुझे प्रत्यक्ष दण्ड न दे, अथवा मेरा वध न करे, किन्तु कोई झूठी तोहमत मुझ पर लगा, मुझे बँधुआ (कैदी) तो वह अवश्य ही बना लेगा ॥१०॥

बन्धनाद्वाऽवसादान्मे श्रेयः प्रायोपवेशनम् ।
अनुजानीत मां सर्वे गृहं गच्छन्तु वानराः ॥११॥

[टिप्पणी—राजकुमार अपने योग्य पिता का योग्य पुत्र था। अत अपने पिता का वध करने वाले सुग्रीव के प्रति उसके जो भाव इतने दिनों मन में थे इस समय आवेश में उसने प्रकट कर दिए। सच्चा पुत्र पितृघातक के प्रति कभी अनुरागवान् नहीं हो सकता। इसी आशंका से रावण

के निकट अङ्गद प्रथम भेजे गए थे। यह राजनैतिक दावपेच थे। अङ्गद यदि तब भी सुग्रीव का विरोधी हो तो वालि के मित्र रावण से मेल कर लेगा-तो यह बात खुल जायगी और उसी समय से अङ्गद विद्रोही की श्रेणी में आजायगा]

उस बंधन के दुःख से मुझे भूखप्यास से शरीर त्याग करना ही श्रेयस्कर जान पड़ता है। इसलिए सब वानर गए मुझे इस विषय में आज्ञा दें और स्वयं वे अपने अपने घरों को लौट जाँय ॥११॥

अहं वः प्रतिजानामि नागमिष्याम्यहं पुरीम् ।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव मे ॥१२॥

मैं प्रतिज्ञापूर्वक यह कह रहा हूँ कि, मैं किष्किन्धा में लौट कर न जाऊँगा। मेरे लिए तो अब यहाँ रह कर, प्रायोपवेशन द्वारा मर जाना ही श्रेयस्कर है ॥१२॥

अभिवादनपूर्वं तु राघवौ बलशालिनौ ।
अभिवादनपूर्वं तु राजा कुशलमेव च ॥१३॥

तुम सब जाओ और मेरी ओरसे सुग्रीवको प्रणाम कर उनसे कुशल प्रश्न पूँछना और बलशाली श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी से भी प्रणाम पूर्वक मेरी ओर से कुशल प्रश्न पूँछना ॥१३॥

वाच्यस्तातो यवीयान् मे सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
आरोग्यपूर्वं कुशलं वाच्या माता रुमा च मे ॥१४॥

मेरे चचा राजा सुग्रीव से तथा मेरी माता रुमा से, आरोग्य पूर्वक मेरा कुशल संवाद कहना ॥१४॥

मातरं चैव मे तारामाश्वासयितुमर्हथ ।
प्रकृत्या प्रियपुत्रा सा सानुक्रोशा तपस्विनी ॥१५॥

मेरी माता तारा को समझा देना। देखो उस तपस्विनी को स्वभाव ही से प्यारा हूँ। उसका मुझ पर बड़ा स्नेह है ॥१५॥

विनष्टमिह मां श्रुत्वा व्यक्तं हास्यति जीवितम्।
एतावदुक्त्वा वचनं वृद्धांस्तानभिवाद्य च ॥१६॥

वह जब मेरे मरने का संवाद सुनेगी, तब वह अवश्य अपना शरीर त्याग देगी। ये वचन कह और वृद्ध वानरों को प्रणाम कर, ॥१६॥

विवेश चाङ्गदो भूमौ रुदन्दर्भेषु दुर्मनाः।
तस्य संविशतस्तत्र रुदन्तो वानरर्षभाः ॥१७॥

अंगद रुदन करते हुए भूमि पर कुश बिछा, मरने के लिए उदास हो बैठ गए। उनको इस तरह मरने के लिए तत्पर देख, सब वानरोत्तम रोने लगे ॥१७॥

नयनेभ्यः प्रमुमुचुरुष्णं वै वारि दुःखिताः।
सुग्रीवं चैव निन्दन्तः प्रशंसन्तश्च वालिनम् ॥१८॥

वे सब के सब रो रो कर नेत्रों से आँसू गिराने तथा सुग्रीव की निन्दा और वालि की प्रशसा करने लगे ॥१८॥

परिवार्याङ्गदं सर्वे व्यवस्यन् प्रायमासितुम्।
मतं तद्वालिपुत्रस्य विज्ञाय प्लवगर्षभाः ॥१९॥

वे सब वानरोत्तम अंगद का ऐसा निश्चय जान, स्वयं भी मरने को तैयार हो गए, और अंगद को घेर कर बैठ गए ॥१९॥

उपस्पृश्योदकं तत्र प्राङ्मुखाः समुपाविशन्।
दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु उदक्तीरं समाश्रिताः ॥२०॥

वे सब जल से आचमन कर, दक्षिणाग्र कुशों को बिछा, स्वयं पूर्वाभिमुख हो, समुद्र के तट पर बैठे ॥२०॥

मुमूर्षवो हरिश्रेष्ठा एतत्क्षममिति स्म ह ।
रामस्य वनवासं च क्षयं दशरथस्य च ॥२१॥
जनस्थानवधं चैव वधं चैव जटायुषः ।
हरणं चैव वैदेह्या वालिनश्च वधं रणे ।
रामकोपं च वदतां हरीणां भयमागतम् ॥२२॥

इस प्रकार मरने को कमना किए हुए वे सब वानर, श्रीरामचन्द्र जी का वनवास, दशरथ का मरण, जनस्थान का नाश जटायु का मरण, सीता का रावण द्वारा हरा जाना और युद्ध में वालि का श्रीरामचन्द्र जी द्वारा मारा जाना तथा श्रीरामचन्द्र जी के कुपित होने आदि की घटनाओं का वर्णन करने लगे। इतने में उसके ऊपर एक विपत्ति आई ॥२१॥२२॥

एवं वदद्भिर्बहुभिर्महीधरो
महाद्रिकूटप्रतिमैः प्लवङ्गमैः ।
बभूव सन्नादितनिर्दरान्तरो
भृशं नदद्भिर्जलदैरिवोल्बणैः ॥२३॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार कहते हुए, पर्वत के समान विशाल शरीर धारी वानरगण इधर उधर भाग कर पर्वतों के ऊपर चढ़ गए। उनके विविध प्रकार के चीत्कारों से झरनो सहित पर्वत और उसकी कन्दराएँ वैसे ही गूँज उठीं जैसे आकाश मे मेघ गर्जते हैं ॥२३॥

किष्किन्धाकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

षट्पञ्चाशः सर्गः

—❀—

उपविष्टास्तु ते सर्वे यस्मिन् प्रायं गिरिस्थले ।
हरयो गृध्रराजश्च तं देशमुपचक्रमे ॥१॥

जिस पर्वत पर वे सब वानर मरने के लिए बैठे हुए थे, उसी पर्वत पर एक गृध्रराज आ उपस्थित हुआ ॥१॥

सम्पातिर्नाम नाम्ना तु चिरञ्जीवी विहङ्गमः ।
भ्राता जटायुषः श्रीमान् प्रख्यातबलपौरुषः ॥२॥

उस गृध्रराज का नाम सम्पाति था और वह बहुत बूढ़ा पक्षी था। वह प्रसिद्ध बलवान और पराक्रमी तथा शोभायुक्त जटायु का भाई था ॥२॥

कन्दरादभिनिष्क्रम्य स विन्ध्यस्य महागिरेः ।
उपविष्टान् हरीन् दृष्ट्वा हृष्टात्मा गिरमब्रवीत् ॥३॥

वह उस महागिरि विन्ध्याचल की एक गुफा से निकल और वानरों को वहाँ बैठा देख, बहुत प्रसन्न हुआ और यह वचन बोला ॥३॥

विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्तते ।
यथाऽयं विहितो भक्ष्यश्चिरान् मह्यमुपागतः ॥४॥

निश्चय ही प्राणियों को, उनके पूर्वार्जित कर्मों के फलानुसार अच्छे बुरे फल मिला करते हैं। देखो, उसीके अनुसार आज बहुत दिनों बाद यह भोजन मुझे मिला है ॥४॥

परं पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम् ।
उवाचेदं वचः पक्षी तान्निरीक्ष्य प्लवङ्गमान् ॥५॥

इन वानरों में से जो जो मरते जॉयगे क्रम से मैं उन उनको खाता जाऊँगा उन वानरों को देख, जब सम्पाति ने इस प्रकार कहा ॥५॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भक्ष्यलुब्धस्य पक्षिणः ।
अङ्गदः परमायस्तो हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥६॥

तब उस भोजनभट्ट पक्षी की ये बातें सुन, अंगद अति खिन्न हो हनुमान् जी से कहने लगे ॥६॥

पश्य सीतापदेशेन साक्षाद्वैवस्वतो यमः ।
इमं देशमनुप्राप्तो वानराणां विपत्तये ॥७॥

देखो हम लोग तो सीता को ढूँढ़ने आए थे, परन्तु यह साक्षात् यमराज के समान, वानरों पर विपत्ति डालने को यहाँ आया है ॥७॥

रामस्य न कृतं कार्यं राज्ञो न च वचः कृतम् ।
हरीणामियमज्ञाता विपत्तिः सहसाऽऽगता ॥८॥

हम लोगों से न तो श्रीरामचन्द्र जी ही का कोई काम बन पड़ा और न हम सुग्रीव की आज्ञा का पालन ही कर सके। तिस पर इस समय वानरों के लिए यह अनजानी विपत्ति आ उपस्थित हो गई ॥८॥

वैदेह्याः प्रियकामेन कृतं कर्म जटायुषा ।
गृध्रराजेन यत्तत्र श्रुतं वस्तदशेषतः ॥९॥

देखो, सीता जी के हित के लिए गृध्रराज जटायु ने जो कुछ किया, वह सब तो तुम सब ने सुना ही है ॥९॥

तथा सर्वाणि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ।
प्रियं कुर्वन्ति रामस्य त्यक्त्वा प्राणान् यथा वयम् ॥१०॥

क्या पशु और क्या पक्षी, जितने प्राणी हैं, वे सब अपने प्राणों को देकर भी, श्रीरामचन्द्र जी के प्रियकार्य को वैसे ही करते हैं, जैसे कि हम सब ॥१०॥

अन्योन्यमुपकुर्वन्ति स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
तेन तस्योपकारार्थं त्यजतात्मानमात्मना ॥११॥
प्रियं कृतं हि रामस्य धर्मज्ञेन जटायुषा ।
राघवार्थे परिश्रान्ता वयं सन्त्यक्तजीविताः ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र जी के स्नेह और करुणा के वशवर्ती हो प्राणी मात्र एक दूसरे का उपकार करते हैं। अतएव श्रीरामचन्द्र जी के उपकार के लिए, अपने आप अपना शरीर अर्पण कर, धर्मज्ञ जटायु ने श्रीरामचन्द्र जी का प्रियकार्य साधन किया। हम लोग भी श्रीरामचन्द्र जी के काम के लिए अपने प्राणों को हथेली पर रख कर और परिश्रम उठा कर, ॥११॥१२॥

कान्ताराणि प्रपन्नाः स्म न च पश्याम मैथिलीम् ।
स सुखी गृध्रराजस्तु रावणेन हतो रणे ॥१३॥
मुक्तश्च सुग्रीवभयाद्गतश्च परमां गतिम् ।
जटायुषो विनाशेन राज्ञो दशरथस्य च ॥१४॥

इस घोर वन में आए हैं, परन्तु क्या करें, सीता जी को न देख पाए। वह गृध्रराज जटायु जो रण में रावण द्वारा मारा गया बड़ा सुखी हुआ और सुग्रीव के भय से छूट उसने मोक्ष पाई। जटायु और दशरथ के मरने से, ॥१३॥१४॥

हरणेन च वैदेह्याः संशयं हरयो गताः ।
रामलक्ष्मणयोर्वास अरण्ये सह सीतया ॥१५॥

राघवस्य च बाणेन वालिनश्च तथा वधः ।
रामकोपादशेषाणां राक्षसानां तथा वधः ।
कैकेय्या वरदानेन इदं हि विकृतं कृतम् ॥१६॥

और सीता के हरण से, हम सब वानरों के प्राण संशय में पड़ गए। श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण और सीता का वनवास, श्रीरामचन्द्र जी के बाण से वालि का वध और श्रीरामचन्द्र जी के कोप से जनस्थानवासी समस्त राक्षसों का वध—ये समस्त अनर्थ कैकेयी के वरदान के कारण हुए हैं ॥१५॥१६॥

तदसुखमनुकीर्तितं वचो
भुवि पतितांश्च समीक्ष्य वानरान् ।
भृशचलितमतिर्महामतिः
कृपणमुदाहृतवान् स गृध्रराट् ॥१७॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

महामति गृध्रराज सम्पाति उन वानरों के कथित अपने छोटे भाई के विषय में असुखकर, दुःखदायी वचनों को सुन कर, अत्यन्त चकित हो, पृथिवी पर पड़े हुए उन वानरों की ओर देख कर दयायुक्त ये वचन बोले ॥१७॥

किष्किन्धाकाण्ड का छप्पनवां सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—※—

तत्तु श्रुत्वा तदा वाक्यमङ्गदस्य मुखोद्गतम् ।
अब्रवीद्वचनं गृध्रस्तीक्ष्णतुण्डो महास्वनः ॥१॥

उग्र स्वर से बोलने वाले और पैनी चोंच वाले सम्पाति, अगद के मुख से निकले हुए ये वचन सुन कर, बोले ॥१॥

कोऽयं गिरा घोषयति प्राणैः प्रियतमस्य मे ।
जटायुषो वध भ्रातुः कम्पयन्निव मे मनः ॥२॥
कथमासीज्जनस्थाने युद्ध राक्षसगृध्रयोः ।
नामधेयमिद भ्रातुश्चिरस्याद्य मया श्रुतम् ॥३॥

कौन मेरे प्राणप्रिय भाई जटायु का वध-वृत्तान्त कह कर, मेरा कलेजा दहला रहा है। जन स्थान में राक्षस और गृध्र का क्योकर युद्ध हुआ? मुझे अपने भाई का नाम आज बहुत दिनों बाद सुनाई पड़ा है ॥२॥३॥

इच्छेय गिरिदुर्गाच्च भवद्भिरवतारितुम् ।
यवीयसो गुणज्ञस्य श्लाघनीयस्य विक्रमैः ॥४॥
अतिदीर्घस्य कालस्य तुष्टोऽस्मि परिकीर्तनात् ।
तदिच्छेयमहं श्रोतुं विनाशं वानरर्षभाः ॥५॥
भ्रातुर्जटायुपस्तस्य जनस्थाननिवासिनः ।
तस्यैव च मम भ्रातुः सखा दशरथः कथम् ॥६॥

अतः मैं चाहता हूँ कि, आप लोग मुझे इस दुर्गम पर्वत से नीचे उतार लें। गुण और पराक्रम में सराहनीय अपने छोटे भाई का बहुत दिनों बाद संवाद पाने से मैं सन्तुष्ट हुआ हूँ। हे वानर-श्रेष्ठो! अब मैं जनस्थानवासी अपने भाई जटायु के मारे जाने का वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। मेरे उस भाई से और उन दशरथ से मैत्री किस प्रकार हुई ॥४॥५॥६॥

यस्य रामः प्रियः पुत्रो ज्येष्ठो गुरुजनप्रियः।
सूर्यांशुदग्धपक्षत्वान्न शक्नोम्युपसर्पितुम् ॥७॥

जिनके प्रिय एवं श्रेष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र जी पूज्य लोगों के प्रियपात्र हैं? क्या करूँ, सूर्य की किरणों से मेरे परों के दग्ध हो जाने के कारण मुझसे तो अब हिला डुला भी नहीं जाता ॥७॥

इच्छेयं पर्वतादस्मादवतर्तुमरिन्दमाः।
शोकाद्भ्रष्टस्वरमपि श्रुत्वा ते हरियूथपाः ॥८॥
श्रद्दधुर्नैव तद्वाक्यं कर्मणा तस्य शङ्किताः।
ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्लवङ्गमाः ॥९॥
चक्रुर्बुद्धिं तदा रौद्रां सर्वान्नो भक्षयिष्यति।
सर्वथा प्रायमासीनान्यदि नो भक्षयिष्यति ॥१०॥

अतः हे शत्रुओं को मारने वाले! मैं इस पर्वत से उतरना चाहता हूँ। यद्यपि भाई के मृत्यु का संवाद सुनने के कारण उत्पन्न हुए शोक से सम्पाति का गला भर आया था, तथापि वानरों को उसकी बात पर विश्वास न हुआ। क्योंकि हिंसा आदि उसके स्वाभाविक) कर्म ऐसे थे, जिनसे कि, वानरों के मन में उसकी ओर से सन्देह उत्पन्न हो गया था। मरने के लिए व्रत धारण किए हुए उन

वानरों ने गृध्र को देख अपनी (उस समय की) बड़ी खोटी बुद्धि से यह विचारा कि, यह गीध हम सब को खा डालेगा ॥८॥९॥१०॥

कृतकृत्या भविष्यामः क्षिप्रं सिद्धिमितो गताः ।
एतां बुद्धिं ततश्चक्रुः सर्वे ते वानरर्षभाः ॥११॥

सो हम तो प्राण त्यागने को बैठे ही हैं। हमने अपने मन में मरने का जो ठान ठाना है, वह शीघ्र हमारा पूरा हो जायगा और हम (श्रीरामकाज मे प्राणत्याग करने से) कृतकृत्य हो जायँगे। उन सब वानरोत्तमों ने इस प्रकार निश्चय कर ॥११॥

अवतार्य गिरेः शृङ्गाद्गृध्रमाहाङ्गदस्तदा ।
बभूवर्क्षरजा नाम वानरेन्द्रः प्रतापवान् ॥१२॥
ममार्यः पार्थिवः पक्षिन्धार्मिकस्तस्य चात्मजौ ।
सुग्रीवश्चैव वाली च पुत्रावोघबलावुभौ ॥१३॥

सब वानरों ने सम्पाति को पर्वत के शिखर से नीचे उतारा। तदनन्तर अङ्गद ने कहा—हे पक्षिन्! ऋक्षराज नामक प्रतापवान् एक वानरराज हो गए हैं मेरे कुल के प्रथम पूर्वज वे ही थे। उन के दो धर्मात्मा पुत्र हुए। उनके नाम वालि और सुग्रीव पड़े। ये दोनों ही बड़े बलवान् हुए ॥१२॥१३॥

लोके विश्रुतकर्माभूद्राजा वाली पिता मम ।
राजा कृत्स्नस्य जगत इक्ष्वाकूणां महारथः ॥१४॥
रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या चापि भार्यया ॥१५॥

पितुर्निर्देशनिरतो धर्म्यं पन्थानमाश्रितः ।
तस्य भार्या जनस्थानाद्रावणेन हृता बलात् ॥१६॥

उनमें मेरे पिता वालि बड़े विख्यात और वानरों के राजा हुए। अखिल पृथिवीमण्डल के राजा और इक्ष्वाकुवंशोद्भव महाराज दशरथ के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी अपने छोटे भाई लक्ष्मण और भार्या जानकी को साथ ले, पितृ आज्ञा को पालन करते हुए तथा धर्ममार्ग को अवलंबन कर, दण्डकवन में आए। उनकी स्त्री जानकी को जनस्थान से रावण बरजोरी हर कर ले गया ॥१४॥ ॥१५॥१६॥

रामस्य तु पितुर्मित्रं जटायुर्नाम गृध्रराट् ।
ददर्श सीतां वैदेहीं ह्रियमाणां विहायसा ॥१७॥

इसी बीच में श्रीरामचन्द्र जी के पिता महाराज दशरथ के मित्र जटायु नाम के गृध्रराज ने देखा कि, रावण सीता को हर कर आकाशमार्ग से लिये जाता है ॥१७॥

रावणं विरथं कृत्वा स्थापयित्वा च मैथिलीम् ।
परिश्रान्तश्च वृद्धश्च रावणेन हतो रणे ॥१८॥

तब उन्होंने रावण का रथ तोड़ डाला और सीता को उससे छीन लिया ; परन्तु वृद्धावस्था के कारण जटायु जब लड़ते लड़ते थक गए, तब रावण ने उनको लड़ाई में मार डाला ॥१८॥

एवं गृध्रो हतस्तेन रावणेन बलीयसा ।
संस्कृतश्चापि रामेण गतश्च गतिमुत्तमाम् ॥१९॥

इस प्रकार उस बलवान रावण द्वारा जटायु मारे गए। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उनका अन्त्येष्टिसंस्कार किया, जिससे उनका मोक्ष हो गया ॥१९॥

ततो मम पितृव्येण सुग्रीवेण महात्मना ।
चकार राघवः सख्यं सोऽवधीत्पितरं मम ॥२०॥

तदनन्तर मेरे महात्मा चाचा सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्र जी से मैत्री की । तब श्रीरामचन्द्र जी ने मेरे पिता वालि को मार डाला ॥२०॥

मम पित्रा विरुद्धो हि सुग्रीवः सचिवैः सह ।
निहत्य वालिनं रामस्ततस्तमभिषेचयत् ॥२१॥

क्योंकि सुग्रीव अपने मन्त्रियों सहित मेरे पिता से वैर रखते थे । सो वालि का वध कर श्रीरामचन्द्र जी ने सुग्रीव को राज-सिंहासन पर अभिषिक्त किया ॥२१॥

स राज्ये स्थापितस्तेन सुग्रीवो वानराधिपः ।
राजा वानरमुख्यानां येन प्रस्थापिता वयम् ॥२२॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा राजसिंहासन पर स्थापित किए हुए वानरराज सुग्रीव ने वानरयूथपतियों को सीता का पता लगाने को भेजा है ॥२२॥

एवं रामप्रयुक्तास्तु मार्गमाणास्ततस्ततः ।
वैदेहीं नाधिगच्छामो रात्रौ सूर्यप्रभामिव ॥२३॥

श्रीरामचन्द्र जी के कथनानुसार सीता का पता लगाने के कार्य में हम प्रवृत्त हुए और बहुत ढूँढ़ा, किन्तु जिस प्रकार रात्रि में सूर्य की प्रभा ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती, उसी प्रकार ढूँढ़ने पर भी सीता नहीं मिली ॥२३॥

ते वयं दण्डकारण्यं विचित्य सुसमाहिताः ।
अज्ञानात्तु प्रविष्टाः स्म* धरण्या विवृतं बिलम् ॥२४॥

हम लोग बड़ी सावधानी से दण्डकवन खोज रहे थे कि, अनजाने हम एक बिल में घुस गए ॥२४॥

मयस्य मायाविहितं तद्बिलं च विचिन्वताम् ।
व्यतीतस्तत्र नो मासो यो राज्ञा समयः कृतः ॥२५॥

मयदानव निर्मित उस बिल मे ढूँढ़ते ढूँढ़ते सुग्रीव की निर्दिष्ट की हुई अवधि बीत गई ॥२५॥

ते वयं कपिराजस्य सर्वे वचनकारिणः ।
कृतां संस्थामतिक्रान्ता भयात्प्रायमुपास्महे ॥२६॥

हम लोग कपिराज सुग्रीव के आज्ञानुवर्ती हैं। उनके निर्दिष्ट किए हुए अवधिकाल के बीत जाने से, भय के मारे, हम लोग प्रायोपवेशनव्रत धारण कर यहाँ पडे हुए हैं ॥२६॥

क्रुद्धे तस्मिंस्तु काकुत्स्थे सुग्रीवे च सलक्ष्मणे ।
गतानामपि सर्वेषां तत्र नो नास्ति जीवितम् ॥२७॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

क्योकि श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण जी और सुग्रीव जी के कुपित होने पर, यदि हम वहाँ जाँय भी, तो भी हमें अपने जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। अतः हम मरने के लिए यहाँ पड़े हैं ॥२७॥

किष्किन्धाकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:o:—

* पाठान्तरे—"धर्मिरस्या"।

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—❀—

इत्युक्तः करुणं वाक्यं वानरैस्त्यक्तजीवितैः ।
सबाष्पो वानरान् गृध्रः प्रत्युवाच महास्वनः ॥१॥

जब प्राणत्याग करने के लिए निश्चय किए हुए वानरों ने इस प्रकार करुणा भरे वचन कहे, तब सम्पाति ने आँखों में आँसू भर, गम्भीर स्वर में उन वानरों से कहा ॥१॥

यवीयान् मम स भ्राता जटायुर्नाम वानराः ।
यमाख्यात हतं युद्धे रावणेन बलीयसा ॥२॥

हे वानरो ! तुमने बलवान रावण द्वारा युद्ध में, जिस जटायु नाम गृध्र का मारा जाना अभी बतलाया है, वह मेरा छोटा भाई था ॥२॥

वृद्धभावादपक्षत्वाच्छृण्वंस्तदपि मर्षये ।
न हि मे शक्तिरस्त्यद्य भ्रातुर्वैरविमोक्षणे ॥३॥

क्या करूँ, मैं अब बूढ़ा होने से निर्बल हो रहा हूँ और मेरे पंख भी नहीं रहे। अब मुझे यह बात चुपचाप सह लेनी पड़ती है। क्योंकि भाई के वध का बदला लेने की मुझमें अब शक्ति ही नहीं रही ॥३॥

पुरा वृत्रवधे वृत्ते परस्परजयैषिणौ ।
आदित्यमुपयातौ स्वो ज्वलन्त रश्मिमालिनम् ॥४॥

प्राचीन काल में, जिस समय वृत्रासुर का वध इन्द्र द्वारा किया गया था, उस समय हम दोनों भाई एक दूसरे को हराने

की आकाँक्षा से उड़ते उड़ते, जलती हुई किरणों वाले सूर्यनारायण के समीप जा पहुँचे ॥४॥

आवृत्त्याऽऽकाशमार्गे तु जवेन स्म गतौ भृशम् ।
मध्यं प्राप्ते दिनकरे जटायुरवसीदति ॥५॥

आकाश मे बड़ी तेजी के साथ उड़ते उड़ते हमको दो पहर हो गया। उस समय सूर्य को किरणों की गर्मी से जटायु विकल हो गया ॥५॥

तमहं भ्रातरं दृष्ट्वा सूर्यरश्मिभिरर्दितम् ।
पक्षाभ्यां छादयामास स्नेहात्परमविह्वलम्* ॥६॥

उस समय सूर्य की किरणों से अपने छोटे भाई को अत्यन्त पीड़ित देख, मैंने मारे स्नेह के अत्यन्त विह्वल हो, उसे अपने परों से ढक लिआ ॥६॥

निर्दग्धपक्षः पतितो विन्ध्येऽहं वानरर्षभाः ।
अहमस्मिन् वसन् भ्रातुः प्रवृत्तिं नोपलक्षये ॥७॥

हे वानरश्रेष्ठो ! तब सूर्य के ताप से मेरे दोनों पंख भस्म हो जाने से मैं विन्धाचल पर यहाँ आकर गिरा। तब से आज तक मुझे उसका कुछ भी अच्छा बुरा समाचार नहीं मिला ॥७॥

जटायुषस्त्वेवमुक्तो भ्राता सम्पातिना तदा ।
युवराजो महाप्राज्ञः प्रत्युवाचाङ्गदस्तदा ॥८॥

जब जटायु के ज्येष्ठ भ्राता सम्पाति ने इस प्रकार कहा, तब बड़े बुद्धिमान् युवराज अंगद बोले ॥८॥

---

*पाठान्तरे—"विह्वलः" ।

जटायुषो यदि भ्राता श्रुतं ते गदितं मया ।
आख्याहि यदि जानासि निलयं तस्य रक्षसः ॥९॥

यदि तुम्हीं जटायु के भाई हो और मेरा सब कथन तुमने सुन लिआ है, तो मुझे उस राक्षस का घर बतला दो ॥९॥

अदीर्घदर्शनं तं वै रावणं राक्षसाधिपम् ।
अन्तिके यदि वा दूरे यदि जानासि शंस नः ॥१०॥

यदि तुम उस अविचारी राक्षसाधम रावण का निवास-स्थान, भले ही वह दूर हो या निकट, जानते हो, तो हमें बतला दो ॥१०॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा ज्येष्ठो भ्राता जटायुषः ।
आत्मानुरूपं वचनं वानरान् सम्प्रहर्षयन् ॥११॥

यह सुन जटायु का ज्येष्ठ भ्राता महातेजस्वी सम्पाति, वानरों को हर्षित करता हुआ अपने अनुरूप वचन बोला ॥११॥

निर्दग्धपक्षो गृध्रोऽहं हीनवीर्यः प्लवङ्गमाः ।
वाङ्मात्रेण तु रामस्य करिष्ये साह्यमुत्तमम् ॥१२॥

हे वानरश्रेष्ठो ! यद्यपि मेरे पंख जल गए हैं, और इस समय मेरे शरीर में बल पराक्रम ज़रा भी नहीं रह गया, तथापि मैं केवल वाणीमात्र से श्रीरामचन्द्र जी का उत्तम साहाय्य करूँगा ॥१२॥

जानामि वारुणान् लोकान् विष्णोस्त्रैविक्रमानपि ।
महासुरविमर्दान् वाऽप्यमृतस्य च मन्थनम् ॥१३॥

वरुणादि लोकों से ले कर जितने लोक वामनरूप धारण कर भगवान विष्णु ने नापे थे, उन सब का वृत्तान्त मुझे मालूम है ।

देवासुरों का संग्राम और समुद्र मथ कर, अमृत के निकाले जाने आदि की घटनाएँ भी मुझे मालूम हैं ॥१३॥

रामस्य यदिदं कार्यं कर्तव्यं प्रथमं मया ।
जरया च हृतं तेजः प्राणाश्च शिथिला मम ॥१४॥

क्या करूँ, बुढ़ापे के कारण मेरे शरीर में जरा भी बल नहीं रह गया और मेरे प्राण शिथिल हो गए हैं अर्थात् उत्साह भी नहीं रहा, इस लिए मैं विशेष साहाय्य नहीं कर सकता ॥१४॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन दुरात्मना ॥१५॥

रूपवती और सब आभूषण से भूषित एक तरुणी स्त्री को मैंने देखा था, जिसे दुरात्मा रावण हर कर लिए जाता था ॥१५॥

क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च भामिनी ।
भूषणान्यपविध्यन्ती गात्राणि च विधुन्वती ॥१६॥

वह स्त्री हा राम ! हा राम !! हा लक्ष्मण ! हा लक्ष्मण ! कह कर चिल्ला रही थी और अपने गहने उतार उतार कर फेंकती जाती थी तथा अपना सिर और छाती पीटती जाती थी ॥१६॥

सूर्यप्रभेव शैलाग्रे तस्याः कौशेयमुत्तमम् ।
असिते राक्षसे भाति यथा वा तडिदम्बुदे ॥१७॥

उसकी पीली रेशमी साड़ी उस काले शरीर वाले राक्षस के शरीर पर पड़ कर ऐसी शोभा देती थी, जैसे काले पर्वत के शिखर पर सूर्य की पीली प्रभा शोभा देती है अथवा जैसे नीले आकाश में बिजली की चमक ॥१७॥

तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात् ।
श्रूयतां मे कथयतो निलयं तस्य रक्षसः ॥१८॥

वह स्त्री श्रीरामचन्द्र जी का नाम ले कर चिल्लाती जाती थी, इससे मुझे मालूम पड़ता है कि, वही सीता होगी। अब मैं तुम्हें उस राक्षस के घर का पता बतलाता हूँ ॥१८॥

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद्भ्राता वैश्रवणस्य च ।
अध्यास्ते नगरीं लङ्कां रावणो नाम राक्षसः ॥१९॥

वह राक्षस विश्रवसमुनि का पुत्र और कुवेर का सगा भाई है तथा लङ्का नाम की पुरी में रहता है। उसका नाम रावण है॥१९॥

इतो *द्वीपे समुद्रस्य सम्पूर्णे शतयोजने ।
तस्मिँल्लङ्कापुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा ॥२०॥

इस समुद्र-तट से पूरे सौ योजन की दूरी पर एक द्वीप है। उसमें विश्वकर्मा की बनाई लङ्का नाम की नगरी है ॥२०॥

जाम्बूनदमयैर्द्वारैश्चित्रैः काञ्चनवेदिकैः ।
प्राकारेणार्कवर्णेन महता सुसमावृता ॥२१॥

इस पुरी के सब द्वार सोने के हैं और बैठके भी सोने ही की रंग बिरंगी बनी हुई हैं। सूर्य के तुल्य चमकीला और विशाल एक परकोटा उस पुरी को चारों ओर से घेरे हुए है ॥२१॥

तस्यां वसति वैदेही दीना कौशेयवासिनी ।
रावणान्तःपुरे रुद्धा राक्षसीभिः समावृता ॥२२॥

---

* पाठान्तरे—"द्वीप." ।

† पाठान्तरे—सुरक्षिता

उसी लङ्कापुरी के भीतर पीली रेशमी साड़ी पहिने हुए, उदास सीता रहती है। वह रावण के रनवास में कैद है और राक्षसी उसको घेरे रहती हैं ॥२२॥

जनकस्यात्मजां राज्ञस्तत्र द्रक्ष्यथ मैथिलीम् ।
लङ्कायामथ गुप्तायां सागरेण समन्ततः ॥२३॥

यदि तुम वहाँ जा सको तो तुम उस जनकनन्दिनी को वहाँ देख सकोगे। किन्तु वह लङ्कापुरी चारों ओर से समुद्र से रक्षित है ॥२३॥

सम्प्राप्य सागरस्यान्तं सम्पूर्णं शतयोजनम् ।
आसाद्य दक्षिणं तीरं ततो द्रक्ष्यथ रावणम् ॥२४॥

यहाँ से पूरे सौ योजन जाने बाद दक्षिणतट पर पहुँच कर, तुम रावण को देख सकोगे ॥२४॥

तत्रैव त्वरिताः क्षिप्रं विक्रमध्वं प्लवङ्गमाः ।
ज्ञानेन खलु पश्यामि दृष्ट्वा प्रत्यागमिष्यथ ॥२५॥

अत हे वानरश्रेष्ठो! तुम शीघ्र वहाँ जाओ और अपना विक्रम प्रकट करो। मैं अपने ज्ञान द्वारा जानता हूँ कि, तुम देख कर लौट आओगे ॥२५॥

आद्यः पन्थाः कुलिङ्गानां ये चान्ये धान्यजीविनः ।
द्वितीयो बलिभोजानां[१] ये च वृक्षफलाशिनः ॥२६॥
भासास्तृतीयं गच्छन्ति क्रौञ्चाश्च कुररैः सह ।
श्येनाश्चतुर्थं गच्छन्ति गृध्रा गच्छन्ति पञ्चमम् ॥२७॥

---

१ बलिभोजना—काकाना। (गो०)

बलवीर्योपपन्नानां रूपयौवनशालिनाम् ।
षष्ठस्तु पन्था हंसानां वैनतेयगतिः परा ॥२८॥

एक तो कबूतर आदि धान्यजीवी पक्षी; दूसरे फलादि खाने वाले कौए, तीसरे भास, क्रौंच, कुरर इत्यादि, चौथे बाज़, पाँचवें गृध्र, छठवें बल, पराक्रम, रूप और यौवन सम्पन्न हंस, वहाँ जा सकते हैं। गरुड की गति तो सब के ऊपर है ही अर्थात् वे राव से बढ़कर हैं, वे तो सर्वत्र आ जा सकते हैं ॥२६॥२७॥२८॥

वैनतेयाच्च नो जन्म सर्वेषां वानरर्षभाः ।
इहस्थोऽहं प्रपश्यामि रावणं जानकीं तथा ॥२९॥

हे कपिवरो! हमारा जन्म गरुड़ जी से हुआ है और मैं यहीं से रावण और जानकी को देख रहा हूँ ॥२९॥

अस्माकमपि सौपर्णं दिव्यं चक्षुर्बलं तथा ।
तस्मादाहारवीर्येण निसर्गेण च वानराः ॥३०॥

आयोजनशतात्साग्राद्वय पश्याम नित्यशः ।
अस्माकं विहिता वृत्तिर्निसर्गेण च दूरतः ॥३१॥

क्योंकि हम लोगों की आँखों का बल, गरुड की दिव्य आँखों से उत्पन्न है अथवा हमारे नेत्रों की दृष्टि भी गरुड़ की दिव्य दृष्टि के बराबर ही है। गरुड के वंश में उत्पन्न होने के कारण तथा मांसादि भक्षण करने के बल से, हम लोग सौ योजन ही नहीं, बल्कि इससे भी अधिक दूर की वस्तु सदा देख सकते हैं। स्वभावतः जीवनवृत्ति के निर्वाहार्थ हमें दूर की दृष्टि दी गई है ॥३०॥३१॥

विहिता पादमूले तु वृत्तिश्चरणयोधिनाम्[1] ।
गर्हितं तु कृतं कर्म येन स्म पिशिताशिना ॥३२॥

किन्तु मुरगे आदि को इस पेड़ की जड़ ही तक देखने की द्दी दी गई है जिस पर वे बैठते या रहते हैं। हमने उस जन्म में बुरे कर्म किए इसी लिए हम मांसाहारी हुए हैं ॥३२॥

प्रतीकार्यं च मे तस्य वैरं भ्रातुः कृतं भवेत् ।
उपायो दृश्यतां कश्चिल्लङ्घने लवणाम्भसः ॥३३॥

मुझे अपने भाई का वैर रावण से लेना है । सो तुम लोग इस खारी समुद्र को नाँघने का कोई उपाय सोचो ॥३३॥

अभिगम्य तु वैदेहीं समृद्धार्था गमिष्यथ ।
समुद्रं नेतुमिच्छामि भवद्भिर्वरुणालयम् ॥३४॥

मैं कहता हूँ कि, तुम जानकी जी के निकट पहुँच कर, कार्य सिद्ध कर लौट आओगे । मेरी इच्छा है कि, अब आप लोग मुझे समुद्र तट पर ले चलें ॥३४॥

प्रदास्याम्युदकं भ्रातुः स्वर्गतस्य महात्मनः ।
ततो नीत्वा तु तं देशं तीरं नदनदीपतेः ॥
निर्दग्धपक्षं सम्पातिं वानराः सुमहौजसः ॥३५॥

जिससे मैं अपने महात्मा स्वर्गवासी भाई का जलाञ्जलि दे सकूँ । सम्पाति के ऐसा कहने पर बड़े बलवान वानर उस दग्धपक्ष सम्पाति को समुद्र के तट पर ले गए ॥३५॥

---

1 चरणयोधिनां—कुक्कुटानां ।

पुनः प्रत्यानयित्वा च तं देशं पतगेश्वरम् ।
बभूवुर्वानरा हृष्टाः प्रवृत्तिमुपलभ्य ते ॥३६॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः

पक्षिराज सम्पाति को, वहाँ से उठा कर वानरों ने समुद्र के तट पर पहुँचा दिया और सीता जी का पता जान कर, वे वानर हर्षित हुए ॥३६॥

किष्किन्धाकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—❀—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—❀—

ततस्तदमृतास्वाद गृध्रराजेन भाषितम् ।
निशम्य मुदिता हृष्टास्ते[1] वचः प्लवगर्षभाः ॥१॥

इस प्रकार गृध्रराज सम्पाति के कहे हुए अमृत जैसे स्वादिष्ट वचनों को सुन कर, वे वानरश्रेष्ठ मारे आनन्द के रोमाञ्चित हो गए ॥१॥

जाम्बवान् वानरश्रेष्ठः सह सर्वैः प्लवङ्गमैः ।
भूतलात्सहसोत्थाय गृध्रराजमथाब्रवीत् ॥२॥

तदनन्तर जाम्बवान् वानरों के साथ सहसा भूमि से उठकर, सम्पाति से कहने लगे ॥२॥

---

१ हृष्टा—रोमाञ्चाञ्चिता. । (गो०)

क्व सीता केन वा को वा दृष्टा हरति मैथिलीम् ।
तदाख्यातु भवान्सर्वं मतिर्भव वनौकसाम् ॥३॥

सीता कहाँ है ? उसे किसने देखा और कौन उसे हर ले गया ? ये सब बातें बतला कर, आप इन वानरों के प्राण बचाइए ॥३॥

को दाशरथिबाणानां वज्रवेगनिपातिनाम् ।
स्वयं लक्ष्मणमुक्तानां न चिन्तयति विक्रमम् ॥४॥

वह कौन पुरुष है, जिसने श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी के धनुष से छूटे हुए, वज्र के समान वेग से जाने वाले बाणों के विक्रम की जरा भी परवाह नहीं की ॥४॥

स हरीन् प्रीतिसंयुक्तान् सीताश्रुतिसमाहितान् ।
पुनराश्वासयन् प्रीत इदं वचनमब्रवीत् ॥५॥

यह सुन गृध्रराज प्रसन्न हुए और उन वानरों को धीरज बँधा, जो कि सीता का वृत्तान्त सुनने को सावधान हो तत्पर थे, यह वचन बोले ॥५॥

श्रूयतामिह वैदेह्या यथा मे हरणं श्रुतम् ।
येन चापि ममाख्यातं यत्र वाऽऽयतलोचना ॥६॥

मैं ने जैसा जानकी का हरण सुना है और जिसने मुझसे कहा है और जहाँ पर वह बड़े नेत्रों वाली जानकी विद्यमान है, इन सब बातों को मैं कहता हूँ, तुम लोग सुनो ॥६॥

अहमस्मिन् गिरौ दुर्गे बहुयोजनमायते ।
चिरान्निपतितो वृद्धः क्षीणप्राणपराक्रमः ॥७॥

मुझे इस दुर्गम और बहुत योजनों के लंबे चौड़े पर्वत पर गिरे हुए बहुत दिन बीत गए। अब तो मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ और मेरे शरीर में न तो उत्साह ही रह गया और न पराक्रम ही ॥७॥

तं मामेवं गतं पुत्रः सुपार्श्वो नाम नामतः ।
आहारेण यथाकालं बिभर्ति पततांवरः ॥८॥

मेरी इस प्रकार की दुरवस्था में सुपार्श्व नाम का मेरा पुत्र मुझे भोजन दे कर मेरा पालन किया करता था ॥८॥

तीक्ष्णकामास्तु गन्धर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजङ्गमाः ।
मृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम् ॥९॥

जिस प्रकार गन्धर्व अत्यन्त कामी, साँप अत्यन्त क्रोधी और हिरन बड़े डरपोक होते हैं, उसी प्रकार हम लोग बहुत खाने वाले होते हैं ॥९॥

स कदाचित्क्षुधार्तस्य ममाहाराभिकाङ्क्षिणः ।
गतसूर्येऽहनि प्राप्तो मम पुत्रो ह्यनामिषः ॥१०॥

एक दिन की बात है सवेरा होते ही सुपार्श्व, आहार को खोज में गया और साँझ होने पर बिना माँस लिए ही रीते हाथों लौट आया ॥१०॥

स मया वृद्धभावाच्च कोपाच्च परिभर्त्सितः ।
क्षुत्पिपासापरीतेन कुमारः पततांवरः ॥११॥

बुढ़ाई के कारण मैं उस समय बहुत भूखा था। सो भोजन न पाने से मैंने अपने पक्षिप्रवर पुत्र को बहुत कुछ भला बुरा कहा ॥११॥

स मामाहार[1] संरोधात्पीडितः प्रीतिवर्धनः ।
[2]अनुमान्य यथातत्त्वमिदं वचनमब्रवीत् ॥१२॥

तब वह मेरी प्रसन्नता को बढ़ाने वाला सुपार्श्व आहार न पाने के कारण मेरे द्वारा धमकाए जाने पर बहुत दुःखी हुआ और मुझसे क्षमा माँग कर उसने मुझसे यह यथार्थ बात कही ॥१२॥

अहं तात यथाकालमामिषार्थी खमाप्लुतः ।
महेन्द्रस्य गिरेर्द्वारमावृत्य च समास्थितः ॥१३॥

हे तात! मैं यथासमय मांस की खोज में आकाश में उड़ा और महेन्द्राचल की राह छेक कर, मैं खड़ा था ॥१३॥

ततः सत्त्वसहस्राणां सागरान्तरचारिणाम् ।
पन्थानमेकोऽध्यवसं सन्निरोद्धुमवाङ्मुखः ॥१४॥

मैं नीचे को मुँह कर के चुपचाप समुद्र के भीतर घूमने फिरने वाले सहस्रों जीव जन्तुओं का रास्ता रोकने को, बैठा रहा ॥१४॥

तत्र कश्चिन्मया दृष्टः सूर्योदयसमप्रभाम् ।
स्त्रियमादाय गच्छन्वै भिन्नाञ्जनचयोपमः* ॥१५॥

वहाँ पर मैंने देखा कि काजल की तरह काले रंग का कोई व्यक्ति उदयकालीन सूर्य जैसी प्रभावाली एक स्त्री को लिये हुए चला जाता है ॥१५॥

सोऽहमभ्यवहारार्थं[3] तौ दृष्ट्वा कृतनिश्चयः ।
तेन साम्ना विनीतेन पन्थानमभियाचितः ॥१६॥

१आहारसरोधात्—आहारस्याप्राप्तत्वादित्यर्थः। (शि०) २अनुमान्य—मार्गप्रार्थ्य। ३ अभ्यवहारार्थं—"पितुरभ्यवहारार्थं नेष्यामीति कृतनिश्चय इत्यर्थः"। (रा०) *पाठान्तरे—"प्रभ."।

मैंने अपने मन में यह निश्चय किया कि, ये दोनों आज मेरे पिता के भोजन के लिए होंगे। परन्तु उस पुरुष ने गिड़ गिड़ा कर और विनय कर मुझसे रास्ता माँगा ॥१६॥

न हि सामोपपन्नानां प्रहर्ता विद्यते क्वचित्।
नीचेष्वपि जनः कश्चित्किमङ्ग बत मद्विधः ॥१७॥

अतः मैंने उसे निकल जाने दिया। क्योंकि मधुरभाषी जनों पर प्रहार करने वाला कदाचित् ही कोई इस भूमण्डल पर निकले। यहाँ तक कि, जब नीच भी ऐसा काम नहीं करता, तब मेरे जैसा उस पर क्योंकर प्रहार कर सकता था ॥१७॥

स यातस्तेजसा व्योम सक्षिपन्निव वेगतः।
अथाहं खचरैर्भूतैरभिगम्य सभाजितः ॥१८॥

सो वह अपने तेज से आकाश का तिरस्कार करता हुआ झट पट निकल गया। तदनन्तर आकाशचारी जीवों ने मेरी बड़ी प्रशंसा की ॥१८॥

दिष्टया जीवसि तातेति ह्यब्रुवन्मां महर्षयः।
कथञ्चित्सकलत्रोऽसौ गतस्ते स्वस्त्यसंशयम् ॥१९॥

बड़े बड़े ऋषि लोग कहने लगे कि, भाग्यवश ही सीता जीती बच गई। यह पुरुष इस स्त्री के सहित भाग्य ही से तुमसे बच कर निकल गया। तुम्हारा मङ्गल हो ॥१९॥

एवमुक्तस्ततोऽहं तैः सिद्धैः परमशोभनैः।
स च मे रावणो राजा रक्षसां प्रतिवेदितः ॥२०॥
हरन्दाशरथेर्भार्यां रामस्य जनकात्मजाम्।
भ्रष्टाभरणकौशेयां शोकवेगपराजिताम् ॥२१॥

रामलक्ष्मणयोर्नाम क्रोशन्तीं मुक्तमूर्धजाम् ।
एष कालात्ययस्तावदिति कालविदांवरः ॥२२॥

तदनन्तर परम शोभायमान सिद्ध लोगों ने मुझे बतलाया कि, वह पुरुष राक्षसों का राजा रावण था और वह स्त्री जिसके गहने गिरते जाते थे, जिसकी पीली रेशमी साड़ी हवा मे उड़ रही थी. जिसके सिर की चोटी खुली हुई थी, जो शोकाकुल हो श्रीराम और लक्ष्मण का नाम ले पुकार रही थी, जनकनन्दिनी थी, जो दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र की भार्या थी और जिसे रावण हर कर लिये जाता था । कालज्ञों में श्रेष्ठ उस सुपार्श्व ने कहा कि, हे तात! इसीसे आज मुझे देर हो गई ॥२२॥

एतमर्थं समग्रं मे सुपार्श्वः प्रत्यवेदयत् ।
तच्छ्रुत्वाऽपि हि मे बुद्धिर्नासीत्काचित्पराक्रमे ॥२३॥

जब सुपार्श्व ने मुझसे यह समस्त वृत्तान्त कहा, तब उसे सुन कर भी मेरी इच्छा न हुई कि मैं कुछ पराक्रम कर दिखाऊँ ॥२३॥

अपक्षो हि कथं पक्षी कर्म किञ्चिदुपक्रमे ।
यत्तु शक्यं मया कर्तुं वाग्बुद्धिगुणवर्तिना ॥२४॥

श्रूयतां तत्प्रवक्ष्यामि भवतां पौरुषाश्रयम् ।
वाङ्मतिभ्यां तु सर्वेषां करिष्यामि प्रियं हि वः ॥२५॥

क्योंकि पंखविहीन पक्षी, भला क्या काम कर सकता है ? पर हाँ, जो कुछ वाणी या बुद्धिबल से मैं कर सकता हूँ, उसे सुनो । क्योंकि उसका करना तुम्हारे पौरुष पर निर्भर है । मैं भी अपनी वाणी से (अर्थात् वचन द्वारा) और वुद्धि के अनुसार तुम्हारी सहायता करूँगा ॥२४॥२५॥

यद्धि दाशरथेः कार्यं मम तन्नात्र संशयः।
ते भवन्तो मतिश्रेष्ठा बलवन्तो मनस्विनः ॥२६॥
प्रेषिताः कपिराजेन देवैरपि दुरासदाः ।
रामलक्ष्मणबाणाश्च निशिताः कङ्कपत्रिणः ॥२७॥
त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्तास्त्राणनिग्रहे ।
कामं खलु दशग्रीवस्तेजोबलसमन्वितः ॥
भवतां तु समर्थानां न किञ्चिदपि दुष्करम् ॥२८॥

क्योंकि जो श्रीरामचन्द्र जी का काम है उसे मैं निश्चय ही अपना ही काम समझता हूँ। आप लोग भी बुद्धिमान्, बलवान्, शूर और देवताओं का भी सामना करने वाले हैं। यही समझ कर सुग्रीव ने आप लोगों को इधर भेजा है। कङ्कपत्र युक्त श्रीराम लक्ष्मण जी के बाण भी तीनों लोकों का नाश और उद्धार (दण्ड और दया) करने मे समर्थ हैं । यद्यपि दशग्रीव रावण तेजस्वी और बलवान् है, तथापि सब कार्यों को पूरा करने की सामर्थ्य रखने वाले आप लोगों के लिये अजेय नहीं है ॥२६॥२७॥२८॥

तदलं कालसङ्गेन क्रियतां बुद्धिनिश्चयः ।
न हि कर्मसु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥२९॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

अब देर करना व्यर्थ है, सो झटपट तुम उपाय निश्चित कर डालो। क्योंकि आपके समान बुद्धिमान् लोग कार्य करने में आलस्य नहीं करते ॥२९॥

किष्किन्धाकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

---

१ कालसङ्गेन—कालविलम्बेन । (गो०)

षष्टितमः सर्गः

—❀—

ततः कृतोदकं स्नातं तं गृध्रं हरियूथपाः ।
उपविष्टा गिरौ दुर्गे परिवार्य समन्ततः ॥१॥

जब सम्पाति स्नान कर अपने भाई को जलाञ्जलि दे चुका, तब वानर भी उस दुर्गम पर्वत पर उसको चारो ओर से घेर कर बैठे ॥१॥

तमङ्गदमुपासीनं तैः सर्वैर्हरिभिर्वृतम् ।
जनितप्रत्ययो हर्षात्सम्पातिः पुनरब्रवीत् ॥२॥

सब वानरों सहित अङ्गद के समीप बैठा हुआ सम्पाति उनको विश्वास कराता हुआ हर्षित हो फिर यह बोला ॥२॥

कृत्वा निःशब्दमेकाग्राः शृण्वन्तु हरयो मम ।
तत्त्वं सङ्कीर्तयिष्यामि यथा जानामि मैथिलीम् ॥३॥

हे वानरो ! आप सब एकाग्र मन कर, मैं जो कहूँ, उसे सुनो । अब मैं आपको यथार्थ रीत्या बतलाऊँगा कि, मैं सीता को किस प्रकार जानता हूँ ॥३॥

अस्य विन्ध्यस्य शिखरे पतितोऽस्मि पुरातने* ।
सूर्यातपपरीताङ्गो निर्दग्धः सूर्यरश्मिभिः ॥४॥

पहले मैं सूर्य के ताप से विकल और सूर्य की किरणों से जला हुआ इसी विन्ध्याचल की चोटी पर गिरा ॥४॥

---

*पाठान्तरे— "पुरा वने," "महावने ।

लब्धसंज्ञस्तु षड्रात्राद्विवशो विह्वलन्निव ।
वीक्षमाणो दिशः सर्वा नाभिजानामि किञ्चन ॥५॥

फिर छः दिन में मैं सचेत हुआ, परन्तु मैं ऐसा विवश और विकल था कि, देखने पर भी मुझे दिशा का ज्ञान नहीं होता था ॥५॥

ततस्तु सागराञ्शैलान्नदीः सर्वाः सरांसि च ।
वनान्युदधिवेलां च समीक्ष्य मतिरागमत् ॥६॥

कुछ दिनों बाद समुद्र, पहाड़, नदी तालाब, जगल तथा अन्य विविध स्थानों को देखने से मुझे ज्ञान हुआ ॥६॥

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरान्तरकूटवान् ।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चितः †॥७॥

तब मैंने जाना कि, शिखरयुक्त और अनेक कन्दराओं वाले हृष्ट पुष्ट पक्षियों से युक्त दक्षिण समुद्र के तट पर यह विन्ध्याचल पर्वत है ॥७॥

आसीच्चात्राश्रमः* पुण्यः सुरैरपि सुपूजितः ।
ऋषिर्निशाकरो नाम यस्मिन्नुग्रतपा भवत् ॥८॥

यहाँ पर देवताओं से पूजित एक आश्रम था । उसमे उग्रतपा निशाकर नामक एक ऋषि रहते थे ॥८॥

अष्टौ वर्षसहस्राणि तेनास्मिन्नृषिणा विना।
वसतो मम धर्मज्ञाः स्वर्गते तु निशाकरे ॥९॥

वे तो स्वर्गवासी हुए, किन्तु मैंने उनके विना अकेले ही इस स्थान में आठ हजार वर्षों तक वास किया ॥९॥

---

† पाठान्तरे—निश्चयः । * पाठान्तरे—"आश्रमं" ।

अवतीर्य च विन्ध्याग्रात्कृच्छ्रेण विषमाच्छनैः ।
तीक्ष्णदर्भां वसुमतीं दुःखेन पुनरागतः ॥१०॥

तदनन्तर मैं बड़े कष्ट के साथ इस विन्ध्याचल की चोटी से ऊबड़ खाबड़ रास्ते से नीचे उतरा और बड़े कष्ट से उन कटीली कुशों से युक्त भूमि पर आया ॥१०॥

तमृषिं द्रष्टुकामोऽस्मि दुःखेनाभ्यागतो भृशम् ।
जटायुषा मया चैव बहुशोऽधिगतो हि सः ॥११॥

उन ऋषि के दर्शन करने की कामना से, जटायु के साथ पहिले भी मैं अनेक बार उनसे मिलने के लिए बड़े बड़े कष्ट झेल कर आया था ॥११॥

तस्याश्रमपदाभ्याशे ववुर्वाताः सुगन्धिनः ।
वृक्षो नापुष्पितः* कश्चिदफलो वा न विद्यते ॥१२॥

उनके आश्रम के पास अति सुगन्धियुक्त पवन चल रहा था और वहाँ ऐसा एक भी वृक्ष नहीं देख पड़ता था, जो फला फूला न हो ॥१२॥

उपेत्य चाश्रमं पुण्यं वृक्षमूलमुपाश्रितः ।
द्रष्टुकामः प्रतीक्षेऽहं भगवन्तं निशाकरम् ॥१३॥

मैं उस आश्रम में एक वृक्ष के नीचे जा बैठा और भगवान् निशाकर मुनि के दर्शन की प्रतीक्षा करने लगा ॥१३॥

अथापश्यमदूरस्थमृषिं ज्वलिततेजसम् ।
कृताभिषेकं दुर्धर्षमुपावृत्तमुदङ्मुखम् ॥१४॥

---

* पाठान्तरे—"वाऽपुष्पितः"।

इतने में मैंने दूर से ऋषि को देखा कि, वे परम तेजस्वी दुर्धर्ष ऋषि स्नान करके उत्तर को मुख किए हुए चले आ रहे हैं ॥१४॥

तमृक्षाः सृमरा व्याघ्राः सिंहा नागाः सरीसृपाः ।
परिवार्योपगच्छन्ति* दातारं प्राणिनो यथा ॥१५॥

भिखमगे जिस प्रकार दाता को घेर कर चलते हैं, उसी प्रकार रीछ, सृमर, व्याघ्र, सिंह और अनेक सर्प उनको घेरे हुए चले आते थे ॥१५॥

ततः प्राप्तमृषिं ज्ञात्वा तानि सत्वानि वै ययुः ।
प्रविष्टे राजनि यथा सर्वं सामात्यकं बलम् ॥१६॥

राजा को अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ जान कर मंत्री, सैनिक आदि जिस प्रकार अपने अपने स्थानों को चले जाते हैं, उसी प्रकार उन ऋषिप्रवर को आश्रम में पहुँचा कर, वे सब जीवजन्तु अपने अपने स्थानों को चले गए ॥१६॥

ऋषिस्तु दृष्ट्वा मां प्रीतः प्रविष्टश्चाश्रमं पुनः ।
मुहूर्तमात्रान्निष्क्रम्य ततः कार्यमपृच्छत ॥१७॥

ऋषि जी मुझे देखते हुए और प्रसन्न होते हुए आश्रम में चले और मुहूर्त भर बाद पुन. आश्रम के बाहिर आ, मुझसे आने का कारण पूँछने लगे ॥१७॥

सौम्य वैकल्यतां दृष्ट्वा रोम्णां ते नावगम्यते ।
अग्निदग्धविमौ पक्षौ त्वक्चैव व्रणिता तव ॥१८॥

वे बोले—हे सौम्य ! तुम्हारे पखों का रोग देखकर, मैं तुमको पहचान नहीं सका । तुम्हारे ये पंख अग्नि से जल गए और तुम्हारे शरीर की खाल में भी घाव हो रहे हैं ॥१८॥

---

* पाठान्तरे—"घातरं" ।

गृध्रौ द्वौ दृष्टपूर्वौ मे मातरिश्वसमौ जवे ।
गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरौ कामरूपिणौ ॥१९॥

मैंने पहले पवन के समान वेग वाले गृध्रों के राजा काम
दो भाइयों को देखा था ॥१६॥

ज्येष्ठो हि त्वं तु सम्पाते जटायुरनुजस्तव ।
मानुषं रूपमास्थाय गृह्णीतां चरणौ मम ॥२०॥

हे सम्पाते ! उनमें तुम बड़े और जटायु तुम्हारा छ
भाई है। तुम दोनों ने मनुष्य का रूप धर कर मेरे पैर
थे ॥२०॥

किं ते व्याधिसमुत्थानं पक्षयोः पतनं कथम् ।
दण्डो वायं कृतः केन सर्वमाख्याहि पृच्छतः ॥२१

इति षष्टितमः सर्गः ॥

तुम्हें किस रोग ने आ कर घेर रखा है ? तुम्हारे दोनों
कैसे गिर पड़े ? अथवा यह दण्ड किसने तुम्हें दिआ है ? से
पूँछता हूँ। तुम अपना समस्त हाल मुझसे कहो ॥२१॥

किष्किन्धाकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

एकषष्टितमः सर्गः

—❀—

ततस्तद्दारुणं कर्म दुष्करं साहसात्कृतम् ।
आचचक्षे मुनेः सर्वं सूर्यानुगमनं तदा ॥१॥

निशाकर मुनि द्वारा पूँछे जाने पर सम्पाति ने सूर्य के निकट जाने का, अपना वह दुष्कर और दुस्साहस पूर्ण कर्म कहा ॥१॥

भगवन्व्रणयुक्तत्वाल्लज्जया व्याकुलेन्द्रियः ।
परिश्रान्तो न शक्नोमि वचनं प्रतिभाषितुम् ॥२॥

वह बोला—हे भगवान् ! मेरे शरीर भर में घाव हो गए हैं। इस कारण एक तो लज्जा मुझे मालूम पड़ती है, दूसरे मैं घावों की पीड़ा से विकल भी हूँ तथा इतनी दूर से आने में थक भी गया हूँ। अतः मुझसे अधिक बोला नहीं जाता ॥२॥

अहं चैव जटायुश्च सङ्घर्षाद्दर्पमोहितौ ।
आकाशं पतितौ वीरौ जिज्ञासन्तौ पराक्रमम् ॥३॥

हे मुने ! जटायु और मैं अपनी अपनी उड़ने की शक्ति के गर्व से गर्वित हो, प्रतिद्वन्द्विता के लिये आकाश में उड़े थे ॥३॥

कैलासशिखरे बद्ध्वा मुनीनामग्रतः पणम् ।
रविः स्यादनुयातव्यो यावदस्तं महागिरिम् ॥४॥

उड़ने के पूर्व हम दोनों ने कैलास शिखरस्थ मुनियों के सामने यह बाजी बदी कि, सूर्य के अस्त होने के पूर्व ही हम दोनों को सूर्य के निकट पहुँच कर, पृथिवी पर लौट आना होगा ॥४॥

अथावां युगपत्प्राप्तावपश्याव महीतले ।
रथचक्रप्रमाणानि नगराणि पृथक्पृथक् ॥५॥

अस्तु हम दोनों एक ही काल में उड़े और आकाश में बहुत ऊँचे पहुँच गए। जब हमने नीचे पृथिवी की ओर देखा, तब पृथिवी तल के नगर रथ के पहिए की तरह अलग अलग पड़े हुए देख पड़े ॥५॥

क्वचिद्वादित्रघोषांश्च क्वचिद्भूषणनिःस्वनः* ।
गायन्तीश्चाङ्गना बह्वीः पश्यावो रक्तवाससः ॥६॥

वहाँ से हमने देखा कि, कहीं तो बाजे बज रहे थे, कहीं स्त्रियों के आभूषणों की झनझार हो रही थी और कहीं लाल कपड़े पहिने स्त्रियाँ गा रही थीं ॥६॥

तूर्णमुत्पत्य चाकाशमादित्यपथमाश्रितौ ।
आवामालोकयावस्तद्वनं शाद्वलसन्निभम् ॥७॥

उपलैरिव संछन्ना दृश्यते भूः शिलोच्चयैः ।
आपगाभिश्च संवीता सूत्रैरिव वसुन्धरा ॥८॥

जब और ऊँचे गए और सूर्य के आने जाने के मार्ग पर पहुँचे और वहाँ से नीचे भूमि की ओर देखा, तब हमें पृथिवी घास से पूर्ण वन की तरह देख पड़ी। अर्थात् वहाँ से बड़े बड़े पेड़ छोटी घास की तरह देख पड़े और पृथिवी के बड़े बड़े पर्वत छोटे पत्थरों के ढोकों की तरह जान पड़े। नदियों सहित पृथिवी ऐसी जान पड़ी मानों नदी रूपी डोरों से वह लपेटी हुई हो ॥७॥८॥

हिमवांश्चैव विन्ध्यश्च मेरुश्च सुमहान्नगः ।
भूतले सम्प्रकाशन्ते नागा इव जलाशये ॥९॥

हिमालय, विन्ध्याचल और मेरु ये बड़े बड़े पहाड़ ऐसे देख पड़े जैसे किसी तालाब में हाथी खड़े हों ॥९॥

तीव्रः स्वदेश्च खेदश्च भयं चासीत्तदावयोः ।
समाविशति मोहश्च तमो मूर्छा च दारुणा ॥१०॥

---

* पाठान्तरे—"ब्रह्मघोषांश्च शुश्रुवः ।"

उस समय हम दोनों के शरीर पसीने से तर हो गए, तथा मन में अत्यन्त खेद और भय उत्पन्न हुआ। हम दोनों व्याकुल हो कर मूर्छित हो गए ॥१०॥

न दिग्विज्ञायते याम्या नाग्नेयी न च वारुणी।
युगान्ते नियतो लोको हतो दग्ध इवाग्निना ॥११॥

हे महर्षे! उस समय हमें दक्षिण, अग्निकोण अथवा पश्चिम आदि दिशाओं और विदिशाओं में से किसी का ज्ञान न रहा। उस समय हमें जान पड़ता था कि, युगान्त के समय प्रलयकाल उपस्थित है और यह लोक अग्नि से दग्ध हो नष्ट सा हो रहा है ॥११॥

मनश्च मे हतं भूयः सन्निवर्त्य तु संश्रयम्।
यत्नेन महता ह्यस्मिन् पुनः सन्धाय चक्षुषि ॥१२॥

यत्नेन महता भूयो रविः समवलोकितः।
तुल्यः पृथ्वीप्रमाणेन भास्करः प्रतिभाति नौ॥१३॥

फिर जब मैंने सूर्य को देखा, तब मेरा मन और मेरे दोनों नेत्र शक्तिहीन हो गए। तदनन्तर बड़े यत्न से मैंने अपने मन और नेत्रों को स्थिर कर, सूर्य की ओर देखा, तो सूर्यमण्डल हमको प्रमाण में पृथिवी के समान बहुत बड़ा जान पड़ा ॥१२॥१३॥

जटायुर्मामनापृच्छ्य निपपात महीं ततः।
तं दृष्ट्वा तूर्णमाकाशादात्मानं मुक्तवानहम् ॥१४॥

इतने में जटायु बिना मुझसे पूँछे पृथिवी पर नीचे उतर आया। उसे लौटते देख, मैं भी नीचे की ओर लौट पड़ा ॥१४॥

पक्षाभ्यां च मया गुप्तो जटायुर्न प्रदह्यते ।
प्रमादात्तत्र निर्दग्धः पतन् वायुपथादहम् ॥१५॥

आशङ्के तं निपतितं जनस्थाने जटायुषम् ।
अहं तु पतितो विन्ध्ये दग्धपक्षो जडीकृतः ॥१६॥

जटायु के ऊपर तो मैंने अपने परों से छाया कर दी—इससे वह तो न जला, किन्तु मैं जल गया। जब मैं वायुपथ से नीचे आ रहा था, तब मुझे जान पड़ा कि, कदाचित् जटायु जनस्थान में गिरा। मैं इस विन्ध्यपर्वत पर गिरा और मेरे परों के भस्म हो जाने से मैं जड़वत् हो गया ॥१५॥१६॥

राज्येन हीनो भ्रात्रा च पक्षाभ्यां विक्रमेण च ।
सर्वथा मर्तुमेवेच्छन् पतिष्ये शिखराद्गिरेः ॥१७॥

इति एकषष्टितमः सर्गः ॥

मैं राज्यहीन भ्रातृहीन, पंखहीन और विक्रमहीन हो गया हूँ। अतः मैं अब चाहता हूँ कि, इस पर्वत से गिर कर अपनी जान दे दूँ ॥१७॥

किष्किन्धाकाण्ड का एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

द्विषष्टितमः सर्गः

—※—

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठमरुदं दुःखितो भृशम् ।
अथ ध्यात्वा मुहूर्तं तु भगवानिदमब्रवीत् ॥१॥

सम्पाति ने वानरों से कहा कि, मुनि से इस प्रकार कह कर, मैं बहुत दुखित हो रोने लगा। तदनन्तर मुनि ने कुछ काल तक ध्यान कर, मुझसे यह कहा ॥१॥

पक्षौ च ते[1] प्रपक्षौ च पुनरन्यौ भविष्यतः।
प्राणाश्च चक्षुषी चैव विक्रमश्च बलं च ते ॥२॥

हे गृध्र! तेरे दोनों पर और सारे शरीर में रोम फिर से निकल आवेंगे और तेरी आँखें, तेरा उत्साह, पराक्रम और बल पूर्ववत् हो जायगा ॥२॥

पुराणे सुमहत्कार्यं भविष्यति मया श्रुतम्।
दृष्टं मे तपसा चैव श्रुत्वा च विदितं मम ॥३॥

मैंने पुराणान्तर में सुना है और तपोबल से जाना भी है कि, आगे एक बड़ी घटना होने वाली है ॥३॥

राजा दशरथो नाम कश्चिदिक्ष्वाकुनन्दनः।
तस्य पुत्रो महातेजा रामो नाम भविष्यति ॥४॥

इक्ष्वाकुवंश में दशरथ नाम के कोई राजा होंगे। उनके श्रीराम नाम का एक महातेस्वी पुत्र होगा ॥४॥

अरण्यं च सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन गमिष्यति।
तस्मिन्नर्थे नियुक्तः सन् पित्रा सत्यपराक्रमः ॥५॥

वे सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता की आज्ञा से अपने भाई लक्ष्मण सहित वन में जाँयगे ॥५॥

नैर्ऋतो रावणो नाम तस्य भार्यां हरिष्यति।
राक्षसेन्द्रो जनस्थानादवध्यः सुरदानवैः ॥६॥

---

१ प्रपक्षौ—प्रधानपक्षौ (महेश्वरी)

रावण नाम का राक्षस उनकी पत्नी को जनस्थान से हर कर ले जायगा। वह राक्षसेन्द्र रावण सब देवताओं और दानवों से अवध्य होगा ॥६॥

सा च कामैः प्रलोभ्यन्ती भक्ष्यैर्भोज्यैश्च मैथिली।
न भोक्ष्यति महाभागा दुःखे मग्ना यशस्विनी ॥७॥

वह जानकी को विविध प्रकार के भक्ष्य भोज्य पदार्थों का लोभ दिखला ललचावेगा, किन्तु वह महाभागा, यशस्विनी एव दुःख से पीडिता सीता कोई भी वस्तु ग्रहण न करेगी ॥७॥

परमान्नं तु वैदेह्या ज्ञात्वा दास्यति वासवः।
यदन्नममृतमख्यं सुराणामपि दुर्लभम् ॥८॥
तदन्नं मैथिली प्राप्य विज्ञायेन्द्रादिदं त्विति।
अग्रमुद्धृत्य रामाय भूतले निर्वपिष्यति ॥९॥
यदि जीवति मे भर्ता लक्ष्मणेन सह प्रभुः।
देवत्वं गच्छतोर्वापि तयोरन्नमिदं त्विति ॥१०॥

यह जान कर इन्द्र देवदुर्लभ पायस (खीर) सीता के भोजन के लिए भेजेंगे। तब उसे इन्द्र द्वारा भेजा हुआ जान सीता ग्रहण करेंगी और पहले उसमें से थोड़ी सी खीर निकाल श्रीरामचन्द्र जी के लिए भूमि पर यह कह कर रखेगी कि, यदि मेरे पति श्रीरामचन्द्र जी और देवर लक्ष्मण जीवित हों अथवा यदि वे देवत्व को प्राप्त हुए हों, तो भी मेरा दिया हुआ यह अन्न उनको प्राप्त हो ॥८॥९॥१०॥

[टिप्पणी—यह एक विशेष ध्यान देने की बात है कि जानकी जी ने रावण के घर का कोई भी भक्ष्य पदार्थ ग्रहण नहीं किया था। इन्द्र प्रदत्त खीर वह नित्य खाती थीं]

एष्यन्त्यन्वेषकास्तस्या रामदूताः प्लवङ्गमाः ।
आख्येया राममहिषी त्वया तेभ्यो विहङ्गम ॥११॥

हे पक्षि ! तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी के भेजे हुए वानरदूत यहाँ आवेंगे । उस समय तुम उनको सीता जी का पता बतलाओगे ॥११॥

सर्वथा हि न गन्तव्यमीदृशः क्व गमिष्यसि ।
देशकालौ प्रतीक्षस्व पक्षौ त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥१२॥

अतः तुम इस स्थान को छोड़ कहीं मत जाना और इस दशा मे तुम कहीं जा भी न सकोगे । तुम देश काल की बाट जोहते हुए यहाँ ठहरे रहो । तुम्हारे नवीन पर निकलेंगे ॥१२॥

नोत्सहेयमहं कर्तुमद्यैव त्वां सपक्षकम् ।
इहस्थस्त्वं तु लोकानां हितं कार्यं करिष्यसि ॥१३॥

मैं तुम्हारे नये पंख इसलिये उत्पन्न करना नहीं चाहता कि, यहाँ पर रह कर तुम लोकहितकर कार्य साधन करोगे ॥१३॥

त्वयापि खलु तत्कार्यं तयोश्च नृपपुत्रयोः ।
ब्राह्मणानां सुराणां च मुनीनां वासवस्य च ॥१४॥

क्योंकि उस कार्य के करने से तुम केवल उन दोनों राजकुमारों ही का कार्य न करोगे, वल्कि उसके द्वारा ब्राह्मणों का, देवताओं का, मुनियों का और इन्द्र का भी बड़ा उपकार होगा ॥१४॥

इच्छाम्यहमपि द्रष्टुं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
नेच्छे चिरं धारयितुं प्राणांस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ।
महर्षिस्त्वब्रवीदेवं दृष्टतत्त्वार्थदर्शनः ॥१५॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

मेरी भी इच्छा है कि, मैं उन दोनों भाइयों अर्थात् राम लक्ष्मण को देखूँ। पर मेरी इच्छा अब बहुत दिनों जीने की नहीं है। अतः मैं अब अपना शरीर त्याग दूँगा। हे वानरों! तत्त्वदर्शी मुनि ने मुझसे ऐसा कहा था ॥१५॥

किष्किन्धाकाण्ड का बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—❀—

एतैरन्यैश्च बहुभिर्वाक्यैर्वाक्यविदां वरः।
मां प्रशस्याभ्यनुज्ञाप्य प्रविष्टः स स्वमाश्रमम् ॥१॥

वाक्यविशारद मुनिवर इस प्रकार और भी बहुत प्रकार से मुझे समझा बुझा कर तथा मेरी प्रशंसा कर, आश्रम में चले गए ॥१॥

कन्दरात्तु विसर्पित्वा पर्वतस्य शनैः शनैः।
अहं विन्ध्यं समारुह्य भवतः प्रतिपालये ॥२॥

तदनन्तर मैं भी धीरे धीरे वहाँ से सरकता सरकता विन्ध्याचल पर आ कर आप लोगों के आने की प्रतीक्षा कर रहा था ॥२॥

अद्य त्वेतस्य कालस्य साग्रं वर्षशतं गतम्।
देशकालप्रतीक्षोऽस्मि हृदि कृत्वा मुनेर्वचः ॥३॥

आज इस बात को सौ से कुछ अधिक ही वर्ष बीत चुके हैं। मैं मुनि की बात स्मरण करता हुआ और देश काल की राह देखता हुआ यहाँ रह रहा हूँ ॥३॥

क्योंकि जब मेरे पंख जम आए तब मुझे तुम्हारी कार्यसिद्धि का विश्वास हो रहा है। वह पक्षिश्रेष्ठ सम्पाति, उन समस्त वानरों से इस प्रकार कह, अपनी आकाशचारिणी गति की परीक्षा लेने को उस पर्वतशृङ्ग से उड़ा ॥१३॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रीतिसंहृष्टमानसाः।
बभूवुर्हरिशार्दूला विक्रमाभ्युदयोन्मुखाः ॥१४॥

वानरगण भी सम्पाति के वचन सुन अत्यन्त हर्षित हुए और सीता जी के ढूँढ़ने में अपना अपना विक्रम दिखाने को उद्यत हुए ॥१४॥

अथ पवनसमानविक्रमाः
प्लवगवराः प्रतिलब्धपौरुषाः।
अभिजिदभिमुखा दिशं ययुः
जनकसुतापरिमार्गणोन्मुखाः ॥१५॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

फिर पवन समान विक्रमी एवं पुरुषार्थी वानरगण जनकनन्दिनी को ढूंढ़ने के लिए अभिजित मुहूर्त में दक्षिण दिशा को चले ॥१५॥

किष्किन्धाकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—⚘—

चतुःषष्टितमः सर्गः

—*—

आख्याता गृध्रराजेन समुत्पत्य प्लवङ्गमाः ।
सङ्गम्य प्रीतिसंयुक्ता विनेदुः सिंहविक्रमाः ॥१॥

गृध्रराज के इस प्रकार कहने पर सिंह के समान विक्रमी वानर गण इकट्ठे हो, बड़े आनन्द से कूदने उछलने लगे और हर्षध्वनि करने लगे ॥१॥

सम्पातेर्वचनं श्रुत्वा हरयो रावणक्षयम् ।
हृष्टाः सागरमाजग्मुः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥२॥

रावण के नाश के सम्बन्ध में सम्पाति के कहे वचन स्मरण कर वे सब वानरगण प्रसन्न होते हुए सीता को देखने की कामना से समुद्र के तट पर पहुँचे ॥२॥

अभिक्रम्य तु तं देशं ददृशुर्भीमविक्रमाः ।
कृत्स्नं लोकस्य महतः प्रतिबिम्बमिव स्थितम् ॥३॥

भयङ्कर विक्रमवान् वानर, समुद्र के तटपर पहुँच, वहाँ समस्त लोकों के प्रतिबिम्ब की तरह महान् समुद्र को देखने लगे ॥३॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य समासाद्योत्तरां दिशम् ।
सन्निवेशं ततश्चक्रुः *सहिता वानरोत्तमाः ॥४॥

तदनन्तर महाबली वानर वीरों ने दक्षिण समुद्र के उत्तर तट पर जा, वहाँ वानरी सेना को टिकाया ॥४॥

---

*पाठान्तरे—"हरिवीरा महाबला."

सत्त्वैर्महद्भिर्विकृतैः क्रीडद्भिर्विविधैर्जले ।
*व्यात्तास्यैः सुमहाकायैरूर्मिभिश्च समाकुलम् ॥५॥

(उस समय समुद्र के) जल में विविध प्रकार के बड़े बड़े आकार के भयङ्कर जलजन्तु क्रीड़ा कर रहे थे और बड़ी लम्बी चौड़ी और ऊँची लहरों से वह व्याप्त हो रहा था ॥५॥

प्रसुप्तमिव चान्यत्र क्रीडन्तमिव चान्यतः ।
क्वचित्पर्वतमात्रैश्च जलराशिभिरावृतम् ॥६॥

वह समुद्र कहीं तो सोते हुए मनुष्य की तरह शांत और कहीं अपनी लहरों से खेलता हुआ सा देख पड़ता था। कहीं कहीं पर्वताकार जल राशि उमड़ रही थी ॥६॥

सङ्कुलं दानवेन्द्रैश्च पातालतलवासिभिः ।
रोमहर्षकरं दृष्ट्वा विषेदुः कपिकुञ्जराः ॥७॥

पातालवासी दानवेन्द्रों से युक्त, रोमाञ्चकारी समुद्र को देख वानरश्रेष्ठ घबराए और उदास हुए ॥७॥

आकाशमिव दुष्पारं सागरं प्रेक्ष्य वानराः ।
विषेदुः सहसा सर्वे कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥८॥

वानरगण आकाश की तरह अपार समुद्र को देख, घबरा और सब एक साथ कह उठे कि, अब क्या किया जाय ? ॥८॥

विषण्णां वाहिनीं दृष्ट्वा सागरस्य निरीक्षणात् ।
आश्वासयामास हरीन् भयार्तान् हरिसत्तमः ॥९॥

सागर को देखने से सेना को घबड़ाया हुआ देख वानरश्रेष्ठ अंगद ने उनको समझा कर धीरज बँधाया ॥९॥

---

* पाठान्तरे—"व्यत्यस्तैः"।

तान् विषादेन महता विषण्णान् वानरर्षभान् ।
उवाच मतिमान् काले वालिसूनुर्महाबलः ॥१०॥

उस समय विषाद से अत्यन्त विषादयुक्त उन वानरश्रेष्ठों से बुद्धिमान् वालि के पुत्र अंगद बोले ॥१०॥

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तमः ।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥११॥

हे वानरो ! विषाद मत करो । क्योंकि विषाद अत्यन्त दोषकारक है । क्रुद्ध सर्प जिस प्रकार बालकों को मार डालता है, उसी प्रकार विषाद भी पुरुषों को मार डालता है ॥११॥

विषादोऽयं प्रसहते विक्रमे पर्युपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिध्यति ॥१२॥

पराक्रम दिखाने का समय उपस्थित होने पर जो पुरुष विषाद करता है, वह तेजहीन तो होता ही है, साथ ही उसका कार्य भी सिद्ध नहीं होता ॥१२॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामङ्गदो वानरैः सह ।
हरिवृद्धैः समागम्य पुनर्मन्त्रममन्त्रयत् ॥१३॥

इस प्रकार बात चीत करते करते रात बीत गई । जब प्रातःकाल हुआ तब अंगद वृद्ध वानरों के साथ फिर विचार करने लगे ॥१३॥

सा वानराणां ध्वजिनी परिवार्याङ्गदं बभौ ।
वासवं परिवार्येव मरुतां वाहिनी स्थिता ॥१४॥

देवताओं की सेना जिस प्रकार इन्द्र के चारों ओर उनको घेर कर बैठती है, उसी प्रकार कपिसेना अंगद को घेर कर बैठी ॥१४॥

कोऽन्यस्तां वानरीं सेनां शक्तः स्तम्भयितुं भवेत् ।
अन्यत्र वालितनयादन्यत्र च हनूमतः ॥१५॥

उन वानरों में अगद और हनुमान् के सिवाय और कोई ऐसा न था जो विचलित वानरी सेना को थामता ॥१५॥

ततस्तान् हरिवृद्धांश्च तच्च सैन्यमरिन्दमः ।
१अनुमान्याङ्गदः श्रीमान् वाक्यमर्थवदब्रवीत् ॥१६॥

शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीमान् अगद जी वृद्ध वानरों का सम्मान कर के, यह सार वचन बोले ॥१६॥

क इदानीं महातेजा लङ्घयिष्यति सागरम् ।
कः करिष्यति सुग्रीवं सत्यसन्धमरिन्दमम् ॥१७॥

इस समय वह कौन तेजस्वी वानर है, जो समुद्र को नाँघ कर शत्रुहन्ता सुग्रीव की प्रतिज्ञा को सच्ची करेगा ? ॥१७॥

को वीरो योजनशतं लङ्घयेच्च प्लवङ्गमाः ।
इमांश्च यूथपान् सर्वान् मोक्षयेत्को महाभयात् ॥१८॥

इस सेना मे वह कौन वीर वानर है, जो सौ योजन नाँघ कर, इन समस्त यूथपतियो को बड़े भय से मुक्त करे ? ॥१८॥

कस्य प्रभावाद्दारांश्च पुत्रांश्चैव गृहाणि च ।
इतो निवृत्ताः पश्येम सिद्धार्थाः सुखिनो वयम् ॥१९॥

---

१ अनुमान्य—सत्कृत्य (रा०)

किसके अनुग्रह से यहाँ से लौट कर हम लोग सफल मनोरथ हो, सुखपूर्वक अपनी अपनी स्त्रियों, पुत्रों और घरों को देखें ? ॥१९॥

कस्य प्रसादाद्रामं च लक्ष्मणं च महाबलम् ।
अभिगच्छेम संहृष्टाः सुग्रीवं च महाबलम् ॥२०॥

किसके अनुग्रह से हम सब महाबली जी श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण और सुग्रीव के निकट प्रसन्न होते हुए जांय। अथवा उनको अपना मुँह दिखला सकें ? ॥२०॥

यदि कश्चित्समर्थो वः सागरप्लवने हरिः ।
स ददात्विह नः शीघ्रं पुण्यामभयदक्षिणाम् ॥२१॥

यदि तुममें से कोई कपिश्रेष्ठ इस सागर को नाँघ सकता हो तो वह तुरन्त हमको पुण्य की देने वाली अभय दक्षिणा दे ॥२१॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा न कश्चित्किञ्चिदब्रवीत् ।
स्तिमितेवाभवत्सर्वा तत्र सा हरिवाहिनी ॥२२॥

अंगद के ये वचन सुन किसी ने कुछ न कहा। समस्त कपिसैन्य मौन रही ॥२२॥

पुनरेवाङ्गदः प्राह तान् हरीन् हरिसत्तमः ।
सर्वे बलवतां श्रेष्ठा भवन्तो दृढविक्रमाः ॥
व्यपदेश्यकुले जाताः पूजिताश्चाप्यभीक्ष्णशः ॥२३॥

तब वानरश्रेष्ठ अंगद फिर उनसे बोले। हे वानरो ! तुम सभी बलवानों में श्रेष्ठ, दृढ़ पराक्रमी और उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए हो और सदा ही सम्मान प्राप्त करते रहे हो ॥२३॥

न हि वो गमने सङ्गः कदाचित्कस्यचित्कचित् ।
ब्रुवध्वं यस्य या शक्तिः प्लवने प्लवगर्षभाः ॥२४॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

यदि तुममें से कोई सौ योजन का समुद्र न नाँघ सकता हो तो जो जितना नाँघ सकता हो वह उतना ही मुझे बतलावे ॥२४॥

किष्किन्धाकाण्ड का चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—❀—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—❀—

ततोऽङ्गदवचः श्रुत्वा सर्वे ते वानरोत्तमाः ।
स्वं स्वं गतौ समुत्साहमाहुस्तत्र यथाक्रमम् ॥१॥

अंगद के यह वचन सुन, वे समस्त वानरयूथपति उत्साहित हो अपनी अपनी नाघने की सामर्थ्य का वर्णन यथाक्रम करने लगे ॥१॥

गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव सुषेणो जाम्बवांस्तथा ॥२॥

गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, सुषेण, जाम्बवान् ने अपनी अपनी नाँघने की समर्थ्य बतलायी ॥२॥

आबभाषे गजस्तत्र प्लवेयं दशयोजनम् ।
गवाक्षो योजनान्याह गमिष्यामीति विंशतिम् ॥३॥

गज ने कहा मैं दस योजन और गवाक्ष ने कहा मैं बीस योजन, लाँघ सकता हूँ ॥३॥

गवयो वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह

त्रिंशतं तु गमिष्यामि योजनानां प्लवङ्गमाः ॥४॥

गवय नामक वानर जो वहाँ था उसने अन्यवानरों से कहा कि मैं तीस योजन नाँघ सकता हूँ ॥४॥

शरभस्तानुवाचाथ वानरान् वानरर्षभः।

चत्वारिंशद्गमिष्यामि योजनानां प्लवङ्गमाः ॥५॥

वानरोत्तम शरभ ने उन वानरों से कहा कि, मैं एक छलाँग में ४० योजन जा सकता हूँ ॥५॥

*वानरांस्तु महातेजा अब्रवीद्गन्धमादनः।

योजनानां गमिष्यामि पञ्चाशत्तु न संशयः ॥६॥

महातेजस्वी गन्धमादन ने उन वानरों से कहा कि, मैं निस्सन्देह ५० पचास योजन तक चला जाऊँगा ॥६॥

मैन्दस्तु वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह।

योजनानां परं षष्टिमहं प्लवितुमुत्सहे ॥७॥

मैन्द वानर ने उन वानरों से कहा कि, मैं एक छलांग में ६० योजन जा सकता हूँ ॥७॥

ततस्तत्र महातेजा द्विविदः प्रत्यभाषत।

गमिष्यामि न सन्देहः सप्तति योजनान्यहम् ॥८॥

तदनन्तर महातेजस्वी द्विविद बोला कि, मैं निस्सन्देह ७० योजन जा सकता हूँ ॥८॥

---

* पाठान्तरे—"वानरस्तु"।

सुषेणस्तु हरिश्रेष्ठः प्रोक्तवान् कपिसत्तमान् ।
अशीतिं योजनानां तु प्लवेयं प्लवगेश्वराः ॥९॥

कपिश्रेष्ठ सुषेण ने उन वानरोत्तमों से कहा मैं एक छलाँग में ८० योजन समुद्र पार कर सकता हूँ ॥६॥

तेषां कथयतां तत्र सर्वांस्ताननुमान्य च ।
ततो वृद्धतमस्तेषां जाम्बवान् प्रत्यभाषत ॥१०॥

जब सब वानरों ने ऐसा कहा, तब उन सब का आदर कर के बूढ़े जाम्बवान् बोले ॥१०॥

पूर्वमस्माकमप्यासीत्कश्चिद्गतिपराक्रमः ।
ते वयं वयसः पारमनुप्राप्ताः स्म साम्प्रतम् ॥११॥

युवावस्था में मुझमें भी छलाँग मारने की शक्ति थी, किन्तु अब तो मेरी युवावस्था रही नहीं ॥११॥

किं तु नैवं गते शक्यमिदं कार्यमुपेक्षितुम् ।
यदर्थं कपिराजश्च रामश्च कृतनिश्चयौ ॥१२॥

तथापि मैं इस कार्य की उपेक्षा नहीं कर सकता । क्योंकि जिस कार्य के लिए श्रीरामचन्द्र जी और कपिराज सुग्रीव दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, वह कार्य तो अवश्य करना ही पड़ेगा ॥१२॥

साम्प्रतं कालभेदेन या गतिस्तां निबोधत ।
नवतिं योजनानां तु गमिष्यामि न संशयः ॥१३॥

अतः इस समय मुझमे जितनी छलाँग मारने की शक्ति है, उसको सुनो । मैं निस्सन्देह ६० योजन (अब भी) छलाँग मार कर जा सकता हूँ ॥१३॥

तांस्तु सर्वान् हरिश्रेष्ठाञ्जाम्बवान् पुनरब्रवीत् ।
न खल्वेतावदेवासीद्गमने मे पराक्रमः ॥१४॥

यह कह कर जाम्बवान् पुनः उन वानरोत्तमों से बोले कि, पहले भी मुझमें इतना ही बल था, यह मत समझ लेना ॥१४॥

मया महाबलेश्चैव यज्ञे विष्णुः सनातनः ।
प्रदक्षिणीकृतः पूर्वं क्रममाणस्त्रिविक्रमम् ॥१५॥

इस समय मुझमे ऐसा पराक्रम था कि, जब सनातन त्रिविक्रम वामन रूपी विष्णु जी ने राजा बलि के यज्ञ मे तीन पैर से तीनों लोक नाप लिए । तब मैंने उनकी परिक्रमा की थी ॥१५॥

स इदानीमहं वृद्धः प्लवने मन्दविक्रमः ।
यौवने च तदासीन्मे बलमप्रतिमं परैः ॥१६॥

क्या करूँ अब तो बूढ़ा हूँ और छलाँग मारने की शक्ति मेरी अब मन्द पड़ गई है । जवानी मे मेरे बराबर बल किसी दूसरे में नहीं था ॥१६॥

सम्प्रत्येतावदेवाद्यशक्यं मे गमने स्वतः ।
नैतावता च संसिद्धिः कार्यस्यास्य भविष्यति ॥१७॥

इस समय तो मुझमें केवल ६० ही योजन तक जाने की सामर्थ्य है, किन्तु इतने से तो काम नहीं चल सकता ॥१७॥

अथोत्तरम्[1] उदारार्थ[2] अब्रवीदङ्गदस्तदा ।
अनुमान्य महाप्राज्ञं जाम्बवन्तं महाकपिः ॥१८॥

---

१ उत्तरं—श्रेष्ठ । (शि०) २ उदारार्थ—विपुलार्थकं । (शि०)

तदनन्तर बड़े बुद्धिमान् जाम्बवान् का आदर कर कपिश्रेष्ठ अंगद ने विपुल अर्थ युक्त एवं उत्तम वचन कहे ॥१८॥

अहमेतद्गमिष्यामि योजनानां शतं महत् ।
निवर्तने तु मे शक्तिः स्यान्न* वेति न निश्चिता ॥१९॥

मैं एक छलाँग में सौ योजन कूद तो सकता हूँ, किन्तु मुझे वहाँ से लौट आने की सामर्थ्य में सन्देह है ॥१९॥

तमुवाच हरिश्रेष्ठं जाम्बवान् वाक्यकोविदः ।
ज्ञायते गमने शक्तिस्तव हर्यृक्षसत्तम ॥२०॥

वाक्यविशारद जाम्बवान, कपिश्रेष्ठ अंगद से कहने लगे, हे कपिवर! मुझे तुम्हारी छलाँग मारने की शक्ति मालूम है ॥२०॥

कामं शतं सहस्रं वा न ह्येष विधिरुच्यते ।
योजनानां भवाञ्शक्तो गन्तुं प्रतिनिवर्तितुम् ॥२१॥

सौ योजन क्या, आप तो सैकड़ों सहस्रों योजन कूद कर जा सकते और लौट भी सकते हैं ॥२१॥

न हि प्रेषयिता तात स्वामी प्रेष्यः कथञ्चन ।
भवताऽयं जनः सर्वः प्रेष्यः प्लवगसत्तम ॥२२॥

किन्तु हे तात! आप मेरे स्वामी हैं अतः मैं तो आपका भेजा हुआ जा सकता हूँ, किन्तु मैं आपको कभी नहीं भेज सकता। ये सब वानरगण आपके आज्ञाकारी दूत हैं ॥२२॥

भवान् कलत्रमस्माकं स्वामिभावे व्यवस्थितः ।
स्वामी कलत्रं[1] सैन्यस्य गतिरेषा परन्तप ॥२३॥

१ कलत्र—रक्षणीय वस्तु। (गो०) * पाठान्तरे—"स्यान्न"।

आप हम लोगों के स्वामी होने के कारण हमारा कर्त्तव्य है कि, हम आपकी रक्षणीय वस्तु की तरह रक्षा करें। ये सब सेना आपकी आज्ञा के अधीन हैं। आप ही इसकी एकमात्र गति हैं ॥२३॥

तस्मात्कलत्रवत्तत्र* प्रतिपाल्यः सदा भवान् ।
अपि चैतस्य कार्यस्य भवान् मूलमरिन्दम ॥२४॥

अतएव हमारा कर्त्तव्य है कि, रक्षणीय वस्तु की तरह हम सब आपकी खबरदारी रखें। शत्रुहन्ता ! आप ही इस कार्य की जड़ हैं ॥२४॥

मूलमर्थस्य संरक्ष्यमेष कार्यविदां नयः ।
मूले हि सति सिध्यन्ति गुणाः पुष्पफलोदयाः ॥२५॥

कार्य की जड़ की रक्षा करनी उचित है, यही कार्यवेत्ताओं की नीति है। क्योंकि यदि जड़ बनी रही तो फल फूल फिर भी हो सकते हैं ॥२५॥

तद्भवानस्य कार्यस्य साधने सत्यविक्रम ।
बुद्धिविक्रमसम्पन्नो हेतुरत्र परन्तप ॥२६॥

हे परन्तप ! आप बुद्धिमान्, पराक्रमी और सत्यविक्रमी होने के कारण इस कार्य के साधन में कारणीभूत हैं ॥२६॥

गुरुश्च गुरुपुत्रश्च त्वं हि नः कपिसत्तम ।
भवन्तमाश्रित्य वयं समर्था ह्यर्थसाधने ॥२७॥

हे कपिश्रेष्ठ ! आप हम लोगों के मान्य पुरुष के पुत्र होने के कारण हमारे सब के मान्य हैं, आप ही के सहारे हम लोग इस कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हो सकेंगे ॥२७॥

---

* पाठान्तरे—"तस्मात्कलत्रवच्चात ।"

उक्तवाक्यं महाप्राज्ञं जाम्बवन्तं महाकपिः ।
प्रत्युवाचोत्तर वाक्यं बालिसूनुरथाङ्गदः ॥२८॥

जब महामतिमान् जाम्बवान् ने इस प्रकार कहा, तब कपिश्रेष्ठ वालितनय अंगद ने जाम्बवान् को उत्तर देते हुए कहा ॥२८॥

यदि नाहं गमिष्यामि नान्यो* वानरपुङ्गवः† ।
पुनः खल्विदमस्माभिः कार्यं प्रायोपवेशनम् ॥२९॥

यदि न तो मैं जाऊँ और यदि न अन्य ही कोई वीर वानर जाय, तो फिर प्रायोपवेशन कर प्राणत्याग करना ही हम लोगों के लिए निश्चत ठहराता है ॥२९॥

न ह्यकृत्वा हरिपतेः सन्देशं तस्य धीमतः ।
तत्रापि गत्वा प्राणानां पश्यामि परिरक्षणम् ॥३०॥

फिर कार्य पूरा किए बिना, धीमान् कपिराज के समीप जा कर, अपने प्राण बचाना सम्भव नहीं ॥३०॥

स हि प्रसादे चात्यर्थं कोपे च हरिरीश्वरः ।
अतीत्य तस्य सन्देशं विनाशो गमने भवेत् ॥३१॥

क्योंकि सुग्रीव हमको पुरस्कृत और दण्डित कर सकते हैं। अत. उनकी आज्ञा का पालन किए बिना उनके निकट जाने से निस्सन्देह प्राण गँवाने पड़ेंगे ॥३१॥

तद्यथा ह्यस्य कार्यस्य न भवत्यन्यथा गतिः ।
तद्भवानेव दृष्टार्थः[1] संचिन्तयितुमर्हति ॥३२॥

---

१ दृष्टार्थः—विज्ञानसकलपदार्थः । (शि०) * पाठान्तरे—"नान्ये" ।
† पाठान्तरे—"पुङ्गवाः" ।

अतएव आप सकल पदार्थवेत्ता समस्त वानरगण ऐसा कोई उपाय सोचें जिससे सुग्रीव की आज्ञा के अनुसार जानकी जी का दर्शन रूपी कार्य निस्सन्देह पूर्ण हो ॥३२॥

सोऽङ्गदेन तदा वीरः प्रत्युक्तः प्लवगर्षभः।
जाम्बवानुत्तरं वाक्यं प्रोवाचेद ततोऽङ्गदम् ॥३३॥

अस्य ते वीर कार्यस्य न किञ्चित्परिहीयते।
एष सञ्चोदयाम्येनं यः कार्यं साधयिष्यति ॥३४॥

तब कपिश्रेष्ठ जाम्बवान् इस प्रकार से अंगद के वचन सुन कर बोले, हे वीर! तुम्हारा काम किसी प्रकार न बिगड़ने पावेगा। देखो जो अब तुम्हारे इस कार्य को पूरा करेगा, उसे मैं अब प्रेरणा करता हूँ ॥३३॥३४॥

ततः प्रतीतं प्लवतां वरिष्ठ-
मेकान्तमाश्रित्य सुखोपविष्टम्।
सञ्चोदयामास हरिप्रवीरो
हरिप्रवीरं हनुमन्तमेव ॥३५॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

तदनन्तर कपिवर जाम्बवान्, वानरों में श्रेष्ठ, एकान्त में चुपचाप मजे में बैठे हुए, विश्वस्त हनुमान जी से बोले ॥३५॥

किष्किन्धाकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्षष्टितमः सर्गः

—※—

अनेकशतसाहस्रीं विषण्णां हरिवाहिनीम् ।
जाम्बवान् समुदीक्ष्यैवं हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥१॥

जाम्बवान् लाखों वानरों की सेना को दुखी देख, हनुमान जी से बोले ॥१॥

वीर वानरलोकस्य सर्वशास्त्रविशारद ।
तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनुमन् किं न जल्पसि ॥२॥

हे समस्त वानर कुलों में श्रेष्ठ हनुमान्! हे सर्वशास्त्रविशारद! तुम अकेले और चुपचाप क्यों बैठे हो? क्यों नहीं कुछ कहते? ॥२॥

हनुमन् हरिराजस्य सुग्रीवस्य समो ह्यसि ।
रामलक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च ॥३॥

हे हनुमान्! तुम सुग्रीव के तुल्य हो। यही नहीं बल्कि तेज और बल में तो मैं तुम्हें श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण के भी बराबर समझता हूँ ॥३॥

[1]अरिष्टनेमिनः पुत्रो वैनतेयो महाबलः ।
गरुत्मानिति विख्यात उत्तमः सर्वपक्षिणाम् ॥४॥

भगवान् कश्यप के पुत्र महाबली विनतानन्दन गरुड़ जी सब पक्षियों में श्रेष्ठ और प्रसिद्ध हैं ॥४॥

---

१ अरिष्टनेमिनः— काश्यपस्य । नकारान्तत्वमार्ष (गो०) ।

बहुशो हि मया दृष्टः सागरे स महाबलः ।
भुजगानुद्धरन् पक्षी महावेगो महायशाः ॥५॥

हे महाबल ! मैंने बहुत बार देखा है कि, महायशा और महा वेगवान गरुड़ जी ने बहुत से भुजङ्गों को अपने भोजन के लिये निकाला है ॥५॥

पक्षयोर्यद्बलं तस्य तावद्भुजबलं तव ।
विक्रमश्चापि वेगश्च न ते तेनावहीयते ॥६॥

गरुड जी के दोनों परों में जितना बल है तुम्हारी दोनों भुजाओं में भी उतना ही बल है। तुम तेज और विक्रम में उनसे किसी प्रकार कम नहीं हो ॥६॥

बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुङ्गव ।
विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न बुध्यसे ॥७॥

तुम में बल, बुद्धि, तेज और उत्साह सब प्राणियों से अधिक है। फिर तुम अपने को क्यों भूले हुए हो ? ॥७॥

अप्सराप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुञ्जिकस्थला ।
अञ्जनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः ॥८॥

अप्सराओं में श्रेष्ठ पुञ्जिकस्थली नाम की अप्सरा, जिनका दूसरा नाम अञ्जना है, वह केसरी नामक वानर की पत्नी हुई ॥८॥

विख्याता त्रिषु लोकेषु रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
अभिशापादभूत्तात वानरी कामरूपिणी ॥९॥

उसका रूप तीनों लोकों में विख्यात था। उसके रूप की उपमा नहीं थी। किन्तु हे तात! उसने शापवश कामरूपिणी वानर हो जन्म लिया ॥९॥

दुहिता वानरेन्द्रस्य कुञ्जरस्य महात्मनः ।
कपित्वे चारुसर्वाङ्गी कदाचित्कामरूपिणी ॥१०॥

मानुषं विग्रहं कृत्वा रूपयौवनशालिनी ।
विचित्रमाल्याभरणा महार्हक्षौमवासिनी ॥११॥

अचरत्पर्वतस्याग्रे प्रावृडम्बुदसन्निभे ।
तस्या वस्त्रं विशालाक्ष्याः पीतं रक्तदशं शुभम् ॥१२॥

स्थितायाः पर्वतस्याग्रे मारुतोऽपहरच्छनैः ।
स ददर्श ततस्तस्या वृत्तावूरू सुसंहतौ ॥१३॥

वह अञ्जना वानरोत्तम कुञ्ज की कन्या कहलाई। एक बार वह अञ्जना रूप एवं यौवन से सुशोभित, मनुष्य का रूप धारण कर, रंग बिरंगे फूलों की माला और रेशमी साड़ी पहिन, वर्षाकालीन मेघ की तरह, पर्वतशिखर पर घूम रही थी। पर्वतशिखरस्थ उस विशाल नेत्र वाली की पीले रंग की और लाल किनारीदार साड़ी को पवन ने उड़ा दिया। तदनन्तर वायु ने उसके गोल गोल और अच्छी गठन वाली जाँघों को, ॥१०॥११॥१२॥१३॥

स्तनौ च पीनौ सहितौ सुजातं चारु चाननम् ।
तां विशालायतश्रोणीं तनुमध्यां यशस्विनीम् ॥१४॥

दृष्ट्वैव शुभसर्वाङ्गीं पवनः काममोहितः ।
स तां भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां पर्यष्वजत मारुतः ॥१५॥

ऊँचे ऊँचे दोनों कुचों को, सुन्दर मुख और अति सुन्दर नितंबों तथा पतली कमर को देख, तथा कामासक्त हो दोनों भुजाएं पसार बरजोरी उसे गले लगा लिया ॥१४॥१५॥

मन्मथाविष्टसर्वाङ्गो गतात्मा तामनिन्दिताम् ।
सा तु तत्रैव सम्भ्रान्ता सुव्रता वाक्यमब्रवीत् ॥१६॥

उस समय पवनदेव ऐसे कामासक्त हो गए कि, उन्हें अपने तन की जरा भी सुधबुध न रही । तब तो वह पतिव्रता स्त्री बहुत घबड़ाई और सावधान हो कर बोली ॥१६॥

एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति ।
अञ्जनाया: वचः श्रुत्वा मारुतः प्रत्यभाषत ॥१७॥

मेरे एक-पति-व्रत को कौन नष्ट करना चाहता है उसके इस प्रश्न के उत्तर में वायु ने कहा ॥१७॥

न त्वां हिंसामि सुश्रोणि माऽभूत्ते सुभगे भयम् ।
*मारुतोऽस्मि गतो यत्त्वां परिष्वज्य यशस्विनीम् ॥१८॥

हे सुन्दरी ! हे सुभगे ! तुम डरो मत । मैं तेरे साथ सम्भोग न करूँगा । मैं पवन हूँ । हे यशस्विनी ! मैंने तो तेरा आलिंगन मात्र किया है ॥१८॥

वीर्यवान् बुद्धिसम्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति ।
महासत्त्वो महातेजा महाबलपराक्रमः ॥१९॥

इससे तेरे वीर्यवान, बुद्धिमान्, बड़ा पराक्रमी तथा बड़ा तेजस्वी और महाबली पुत्र उत्पन्न होगा ॥१९॥

लङ्घने प्लवने चैव भविष्यति मया समः ।
एवमुक्ता ततस्तुष्टा जननी ते महाकपे ॥२०॥

वह कूदने फाँदने और तैरने में मेरे ही समान होगा । हे महाकपे पवनदेव के ऐसे वचन सुन, तुम्हारी माता सन्तुष्ट हुई ॥२०॥

---

*पाठान्तरे—"मनसाऽस्मि ।"

गुहायां त्वां महाबाहो प्रजज्ञे प्लवगर्षभम् ।
अभ्युत्थितं ततः सूर्यं बालो दृष्ट्वा महावने ॥२१॥

फलं चेति जिघृक्षुस्त्वमुत्प्लुत्याभ्युद्गतो दिवम् ।
शतानि त्रीणि गत्वाऽथ योजनानां महाकपे ॥२२॥

उसने तुम्हें एक गुफा में जन्मा। उस महावन में एक दिन प्रातःकाल के समय सूर्य भगवान् को उदय हुआ देख, तुमने उन्हें कोई फल समझा और उस फल को लेने की इच्छा से तुम कूद कर आकाश में पहुँचे और तीन सौ योजन ऊपर चले गए ॥२१॥२२॥

तेजसा तस्य निर्धूतो न विषाद गतस्ततः ।
तावदापततस्तूर्णमन्तरिक्षं महाकपे ॥२३॥

क्षिप्तमिन्द्रेण ते वज्रं क्रोधाविष्टेन धीमता ।
तदा शैलाग्रशिखरे वामो हनुरभज्यत ॥२४॥

वहाँ सूर्य की किरणों के ताप से भी तुम न घबड़ाए। हे महाकपे! उस समय तुमको आकाश में जाते देख, धीमान् इन्द्र ने क्रोध कर, तुम्हारे वज्र मारा। तब तुम पर्वत के शृङ्ग पर आकर गिरे और तुम्हारी बायीं ओर की ठोडी टूट गई ॥२३॥२४॥

ततो हि नामधेयं ते हनुमानिति कीर्त्यते ।
ततस्त्वां निहतं दृष्ट्वा वायुर्गन्धवहः स्वयम् ॥२५॥

त्रैलोक्ये भृशसंक्रुद्धो न ववौ वै प्रभञ्जनः ।
सम्भ्रान्ताश्च सुराः सर्वे त्रैलोक्ये क्षोभिते सति ॥२६॥

तभी से तुम्हारा नाम हनुमान पड़ा। तदनन्तर पवनदेव ने तुम्हारी यह दशा देख, अत्यन्त कुपित हो, तीनों लोकों में चलना बंद कर दिया। तब तो वायु के बंद होते ही तीनों लोकों में खलबली मच गई और देवता भी बहुत घबड़ा उठे ॥२५॥२६॥

प्रसादयन्ति संक्रुद्धं मारुतं भुवनेश्वराः ।
प्रसादिते च पवने ब्रह्मा तुभ्यं वरं ददौ ॥२७॥

उन्होंने वायु को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्न किया और जब वायुदेव प्रसन्न हुए, तब ब्रह्मा जी ने तुमको यह वर दिया ॥२७॥

अशस्त्रवध्यतां तात समरे सत्यविक्रम ।
वज्रस्य च निपातेन विरुजं त्वां समीक्ष्य च ॥२८॥
सहस्रनेत्रः प्रीतात्मा ददौ ते वरमुत्तमम् ।
स्वच्छन्दतश्च मरणं ते भूयादिति वै प्रभो ॥२९॥

कि, तुम लड़ाई में किसी भी शस्त्र से न मारे जा सकोगे। तदनन्तर वज्र के द्वारा तथा इतनी ऊँचाई से पर्वत पर गिरने पर तुमको पीड़ित न देख, इन्द्र प्रसन्न हुए और यह उत्तम वर दिया कि, तुम्हारा इच्छामरण हो ॥२८॥२९॥

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः ।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः ॥३०॥

हे महावीर! तुम केसरी वानर के क्षेत्रज और भीमपराक्रमी पवन के औरस पुत्र हो। यही नहीं, बल्कि तुम तेज में भी अपने पिता पवन के तुल्य हो ॥३०॥

त्वं हि वायुसुतो वत्स प्लवने चापि तत्समः ॥३१॥

हे वत्स ! तुम पवनपुत्र हो और कूदने फाँदने में भी उन्हींके समान हो ॥३१॥

वयमद्य गतप्राणा भवानस्त्रातु साम्प्रतम् ।
दक्षो विक्रमसम्पन्नः पक्षिराज इवापरः ॥३२॥

देखो हम सब इस समय गतप्राण हो रहे हैं। सो तुम हमारी रक्षा करो। तुम चतुर और पराक्रमी होने के कारण दूसरे गरुड़ की तरह हो ॥३२॥

त्रिविक्रमे मया तात सशैलवनकानना ।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथ्वी परिक्रान्ता प्रदक्षिणम् ॥३३॥

हे तात ! त्रिविक्रमावतार के समय मैंने पहाड़ों और वनों सहित इस पृथिवी की इक्कीस बार परिक्रमा की थी ॥३३॥

तथा चौषधयोऽस्माभिः सञ्चिता देवशासनात्
निष्पन्नममृतं याभिस्तदासीन्नो महद्बलम् ॥३४॥

और उन्हीं देव की आज्ञा से मैंने विविध औषधियाँ इकट्ठी कीं, जिनको समुद्र मे डाल देवताओं ने समुद्र को मथा था और अमृत पाया था। उन दिनों मेरे शरीर में बड़ा बल था ॥३४॥

स इदानीमहं वृद्धः परिहीनपराक्रमः ।
साम्प्रतं कालमस्माकं भवान्सर्वगुणान्वितः ॥३५॥

किन्तु अब तो मैं वृद्ध हो जाने से पराक्रमहीन हो रहा हूँ। इस समय तो हम सब वानरों में तुम्हीं सर्वगुणसम्पन्न हो ॥३५॥

तद्विजृम्भस्व[1] विक्रान्तः प्लवतामुत्तमो ह्यसि ।
त्वद्वीर्यं द्रष्टुकामेयं सर्ववानरवाहिनी ॥३६॥

---

१ विजृम्भस्व—उत्प्लवस्व । (शि०)

इस समय तुम समुद्र के पार जाओ, क्योंकि तुम लाँघने वालों में सर्वश्रेष्ठ हो। देखो यह सारी की सारी वानरी सेना तुम्हारे बलवीर्य को देखना चाहती है ॥३६॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम् ।
परा हि सर्वभूतानां हनुमन्या गतिस्तव ॥३७॥

हे कपियों मे शार्दूल! उठो और इस समुद्र को नाँघो। तुम्हारा समुद्र का नाँघना प्राणिमात्र के लिए हितकर है ॥३७॥

विषण्णा हरयः सर्वे हनुमन् किमुपेक्षसे ।
विक्रमस्व महावेगो विष्णुस्त्रीन् विक्रमानिव ॥३८॥

सब वानर दुःखी हो रहे हैं। सो हे हनुमान्! तुम इन सब की उपेक्षा क्यों कर रहे हो? जैसे भगवान् विष्णु ने तीन पग पृथिवी नापने को अपना शरीर बढ़ाया था, उसी प्रकार तुम भी अपना विक्रम प्रदर्शित करो ॥३८॥

ततस्तु वै जाम्बवता प्रचोदितः
[1]प्रतीतवेगः पवनात्मजः कपिः ।
प्रहर्षयस्तां हरिवीरवाहिनीं
चकार रूपं पवनात्मजस्तदा ॥३९॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

तब जाम्बवान् की प्रेरणा से पवनतनय हनुमान जी को अपने बल का स्मरण हो आया। तदनन्तर वीर कपिवाहिनी को

---

१ प्रतीतवेगः—स्मृतस्ववेगादिः। (शि०)

हर्षित कर, पवनतनय हनुमान ने समुद्र के लाँघने योग्य अपने शरीर को बड़ा किया ॥३६॥

किष्किन्धाकाण्ड का छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—※—

तं दृष्ट्वा जृम्भमाणं ते क्रमितुं शतयोजनम्।
वीर्येणापूर्यमाणं च सहसा वानरोत्तमम् ॥१॥

सौ योजन समुद्र को नाँघने के लिए अपने शरीर को बढ़ाए हुए वानरश्रेष्ठ हनुमान जी को सहसा वेग से पूर्ण देख ॥१॥

सहसा शोकमुत्सृज्य प्रहर्षेण समन्विताः।
विनेदुस्तुष्टुवुश्चापि हनुमन्तं महाबलम् ॥२॥

समस्त वानरमण्डली शोक को सहसा त्याग कर और हर्षित हो, महाबली हनुमान जी की प्रशंसा करने लगी ॥२॥

प्रहृष्टा विस्मिताश्चैव वीक्षन्ते स्म समन्ततः।
त्रिविक्रमकृतोत्साहं नारायणमिव प्रजाः ॥३॥

उस समय हनुमान जी का छोटा शरीर बढ कर वैसा ही बड़ा हो गया था, जैसा कि, तीन पग पृथिवी नापने के समय वामन जी का हो गया था। हनुमान जी का ऐसा रूप देख, वानर अत्यन्त प्रसन्न हुए और साथ ही विस्मित भी ॥३॥

---

१ जृम्भमाण—वर्धमान। (गो०)

संस्तूयमानो हनुमान् व्यवर्धत महाबलः ।
समाविध्य[1] च लाङ्गूलं हर्षाच्च बलमेयिवान्[2] ॥४॥

वानरों द्वारा स्तुति किए जाने पर, हनुमान जी ने अपना शरीर बढ़ाया। वे पूँछ पसार कर या फैला कर, हर्षित हुए तथा अपने बल को स्मरण करते हुए ॥४॥

तस्य संस्तूयमानस्य वृद्धैर्वानरपुङ्गवैः ।
तेजसापूर्यमाणस्य रूपमासीदनुत्तमम् ॥५॥

जब बूढ़े बूढ़े श्रेष्ठ वानरों ने हनुमान जी की प्रशंसा की, तब हनुमान जी तेज से परिपूर्ण और अनुपम-शरीर-युक्त हो गए ॥५॥

यथा विजृम्भते सिंहो विवृद्धो गिरिगह्वरे ।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तथा सम्प्रति जृम्भते ॥६॥

जिस प्रकार महासिंह किसी लंबी चौड़ी गुफा में जँभाई लेता है, उसी प्रकार वायु के औरस पुत्र हनुमान. जँभाई लेने और शरीर को बढ़ाने लगे ॥६॥

अशोभत मुखं तस्य जृम्भमाणस्य धीमतः ।
[3]अम्बरीषमिवादीप्तं विधूम इव पावकः ॥७॥

जँभाते समय बुद्धिमान् हनुमान जी का मुख दहकते हुए भाड़ अथवा सूर्य की तरह अथवा धूमरहित आग की तरह शोभायमान हुआ ॥७॥

हरीणामुत्थितो मध्यात्सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
अभिवाद्य हरीन् वृद्धान्हनुमानिदमब्रवीत् ॥८॥

---

१ समाविध्य—प्रस्तार्य। (शि०) २ उपेयिवान्—सस्मार। (शि०)
३ अम्बरीषोपमम्—सूर्यसदृशम्। (शि०). भ्राष्ट्र। (गो०)

तदनन्तर उन वानरों के बीच हनुमान जी आनन्द से रोमाञ्चित हो, उठ खड़े हुए और बड़े बूढ़े वानरों को प्रणाम कर, यह बोले ॥८॥

अरुजत्पर्वताग्राणि हुताशनसखोऽनिलः ।
बलवानप्रमेयश्च वायुराकाशगोचरः ॥९॥
तस्याहं शीघ्रवेगस्य शीघ्रगस्य महात्मनः ।
मारुतस्यौरसः पुत्रः प्लवने नास्ति मत्समः ॥१०॥

मैं अग्नि के मित्र, आकाशचारी, पर्वतशृङ्गों को हिलाने वाले बलवान् अनुपम, गरुड़ के समान तेज चलने वाले, शीघ्रगामी महात्मा पवनदेव का औरस पुत्र हूँ और छलाँग मारने में मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥९॥१०॥

उत्सहेयं हि विस्तीर्णमालिखन्तमिवाम्बरम् ।
मेरुं गिरिमसङ्गेन परिगन्तुं सहस्रशः ॥११॥

इस लबे चौड़े आकाश को स्पर्श करने वाले मेरु पर्वत तक मैं हजारों बार आ जा सकता हूँ ॥११॥

बाहुवेगप्रणुन्नेन सागरेणाहमुत्सहे ।
समाप्लावयितुं लोकं सपर्वतनदीह्रदम् ॥१२॥

मैं अपने भुजबल से समुद्र को हिला कर, पहाड़, नदी और तालावों सहित इस लोक को डुबा सकता हूँ ॥१२॥

ममोरुजङ्घवेगेन भविष्यति समुत्थितः ।
समुच्छ्रितमहाग्राहः समुद्रो वरुणालयः ॥१३॥

मेरी जाँघों और घुटनों के वेग से वह वरुणालय समुद्र उफन पड़ेगा और इसमें रहने वाले मत्स्य, कच्छ, नक्र आदि जलजन्तु ऊपर आ जायँगे ॥१३॥

पन्नगाशनमाकाशे पतन्तं पक्षिसेविते ।
वैनतेयमहं शक्तः परिगन्तुं सहस्रशः ॥१४॥

पक्षियों से सेवित आकाश में सर्पभोगी गरुड़ जितनी देर में जितनी दूर जा सकते हैं, मैं उतनी ही देर में उतनी दूर, हजार बार आ जा सकता हूँ ॥१४॥

उदयात्प्रस्थितं वाऽपि ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ।
अनस्तमितमादित्यमभिगन्तुं समुत्सहे ॥१५॥

मैं प्रकाशमान और उदयाचल से निकले सूर्य के पास, उनके अस्ताचलगामी होने के पूर्व पहुँच सकता हूँ ॥१५॥

ततो भूमिमसंस्पृश्य पुनरागन्तुमुत्सहे ।
प्रवेगेनैव महता भीमेन प्लवगर्षभाः ॥१६॥

हे वानरो ! फिर पृथिवी तक आकर उसको स्पर्श किए बिना ही अत्यन्त शीघ्र वेग से सूर्य के पास जा सकता हूँ ॥१६॥

उत्सहेयमतिक्रान्तुं सर्वानाकाशगोचरान् ।
सागरं शोपयिष्यामि दारयिष्यामि मेदिनीम् ॥१७॥

जितने आकाशचारी ग्रह नक्षत्रादि हैं, उन सब को मैं नाँघ सकता हूँ । मैं समुद्र को सुखा दूँगा और पृथिवी को विदीर्ण कर डालूँगा ॥१७॥

पर्वतांश्चूर्णयिष्यामि प्लवमानः प्लवङ्गमाः ।
हरिष्याम्यूरुवेगेन प्लवमानो महार्णवम् ॥१८॥

हे वानरो ! मैं छलाँग मार कर पर्वतों को चूर्ण कर डालूँगा। मैं समुद्र नाँघने के समय अपनी जाँघों के वेग से समुद्र को भी खींच ले जा सकता हूँ ॥१८॥

लतानां विविधं पुष्पं पादपानां च सर्वशः ।
अनुयास्यन्ति मामद्य प्लवमान विहायसा ॥१९॥

मैं जब आकाशमार्ग से जाने लगूँगा, तब लताओं और वृक्षों के विविध प्रकार के फूल मेरे पीछे पीछे जाँयगे ॥१९॥

भविष्यति हि मे पन्थाः [1]स्वातेः पन्था इवाम्बरे ।
चरन्तं घोरमाकाशमुत्पतिष्यन्तमेव वा ॥२०॥
द्रक्ष्यन्ति निपतन्तं च सर्वभूतानि वानराः ।
महामेघप्रतीकाशं मां च द्रक्ष्यथ वानराः ॥२१॥

और उस समय मेरे गमन का मार्ग उन पुष्पों के कारण वैसा ही जान पड़ेगा, जैसे ताराओं से पूर्ण आकाश में छायापथ। हे वानरो! आकाश में ऊपर जाते समय तथा समुद्र के उस पार पहुँचने के समय, महामेघ के समान मेरे भयङ्कर रूप को सब प्राणी देखेंगे ॥२०॥२१॥

दिवमावृत्य गच्छन्तं ग्रसमानमिवाम्बरम् ।
विधमिष्यामि जीमूतान् कम्पयिष्यामि पर्वतान् ॥२२॥

मैं आकाश को ढप कर अर्थात् आकाश को ग्रास करता हुआ चलूँगा। मैं जाते समय बादलों को छिन्न भिन्न कर दूँगा और पर्वतों को हिला दूँगा ॥२२॥

---

१ स्वाते पन्था —परिपूर्णताराच्छाया पथ. । (गो०)

सागरं क्षोभयिष्यामि प्लवमानः समाहितः ।
वैनतेयस्य सा शक्तिर्मम वा मारुतस्य वा ॥२३॥

जब मैं सावधान हो छलाँग मारूँगा, तब मैं समुद्र को शून्य कर डालूँगा । इस प्रकार जाने की शक्ति तीन ही मे है—अर्थात् गरुड़ में मुझमें और वायु में ॥२३॥

ऋते सुपर्णराजानं मारुतं वा महाजवम् ।
न तद्भूतं प्रपश्यामि यन्मां प्लुतमनुव्रजेत् ॥२४॥

गरुड या महावेगवान् वायु को छोड़, अन्य मैं किसी को ऐसा नहीं देखता. जो नाँघते समय मेरे साथ तो क्या, मेरे पीछे पीछे भी जा सके ॥२४॥

निमेषान्तरमात्रेण निरालम्बनमम्बरम् ।
सहसा निपतिष्यामि घनाद्विद्युदिवोत्थिता ॥२५॥

बादल से निकली हुई बिजली की तरह, मैं पलक मारते इस निरालम्ब आकाश मे उड़ कर पहुँच जाऊँगा ॥२५॥

भविष्यति हि मे रूप प्लवमानस्य सागरे ।
विष्णोर्विक्रममाणस्य पुरा त्रीन् विक्रमानिव ॥२६॥

समुद्र को लाँघते समय मेरा रूप वैसा ही हो जायगा जैसा कि, त्रिविक्रम भगवान् का था ॥२६॥

बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा ।
अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवङ्गमाः ॥२७॥

हे वानरो ! तुम हर्षित हो । मैं सीता को अवश्य देखूँगा । क्योंकि मेरी बुद्धि और मन को पूर्ण विश्वास है । मेरी चेष्टा भी ऐसी ही होती है ॥२७॥

मारुतस्य समो वेगे गरुडस्य समो जवे ।
अयुतं योजनानां तु गमिष्यामीति मे मतिः ॥२८॥

मैं वेग में वायु के और शीघ्रता में गरुड़ के समान हूँ। मैं तो समझता हूँ कि, मैं दस हजार योजन नाँघ जाऊँगा ॥२८॥

वासवस्य सवज्रस्य ब्रह्मणो वा स्वयंभुवः ।
विक्रम्य सहसा हस्तादमृतं तदिहानये ॥२९॥

मेरी समझ में, इस समय मुझमें इतना उत्साह है कि, मैं अपने पराक्रम से, वज्रधारी इन्द्र के अथवा स्वयंभू ब्रह्मा के हाथ से अमृत छीन कर ला सकता हूँ। २९॥

तेजश्चन्द्रान्निगृह्णीयां सूर्याद्वा तेज उत्तमम् ।
लङ्कां वापि समुत्क्षिप्य गच्छेयमिति मे मतिः ॥३०॥

मुझे विश्वास है कि, मैं अपने तेज से चन्द्रमा और सूर्य को पकड़ कर और लङ्का को उखाड़ कर, यहाँ ला सकता हूँ ॥३०॥

तमेव वानरश्रेष्ठं गर्जन्तममितौजसम् ।
प्रहृष्टा हरयस्तत्र समुदैक्षन्त विस्मिताः ॥३१॥

इस प्रकार अमित बलशाली एवं गर्जते हुए हनुमान जी की ओर सब वानर लोग विस्मययुक्त हो देख कर प्रसन्न हुए ॥३१॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा ज्ञातीनां शोकनाशनम् ।
उवाच परिसंहृष्टो जाम्बवान् हरिसत्तमम् ॥३२॥

अपनी जाति वालों के शोक को मिटाने वाले हनुमान् जी के वचनों को सुन, वानरश्रेष्ठ जाम्बवान् अत्यन्त प्रसन्न हो बोले ॥३२॥

वीर केसरिणः पुत्र हनुमन् मारुतात्मज ।
ज्ञातीनां विपुलः शोकस्त्वया तात विनाशितः ॥३३॥

हे वेगवान, वायुपुत्र केशरीनन्दन ! हे तात तुमने अपनी बिरादरी वालों का बड़ा भारी शोक मिटा दिया ॥३३॥

तत्र कल्याणरुचयः कपिमुख्याः समागताः ।
मङ्गलं कार्यसिद्ध्यर्थं करिष्यन्ति समाहिताः ॥३४॥

तुम्हारे कल्याण की इच्छा से तुम्हारी यात्रा की सिद्धि के लिए ये समस्त वानर यूथपति यहाँ एकत्र हो मङ्गल पाठ पढ़ेंगे ॥३४॥

ऋषीणां च प्रसादेन कपिवृद्धतमेन च ।
गुरूणां च प्रसादेन प्लवस्व त्वं महार्णवम् ॥३५॥

ऋषियों के अनुग्रह से और बूढ़े वानरों के आशीर्वाद से और गुरुजनों की कृपा से तुम समुद्र के पार जाओ ॥३५॥

स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव ।
त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवितानि वनौकसाम् ॥३६॥

जब तक तुम लौट कर न आओगे तब तक हम सब वानर एक पैर से खड़े रहेंगे, क्योंकि इन समस्त वानरों का जीवन, तुम्हारे ही हाथ है ॥३६॥

ततस्तु हरिशार्दूलस्तानुवाच वनौकसः ।
नेयं मम मही वेगं लङ्घने धारयिष्यति ॥३७॥

उनके ये वचन सुन हनुमान जी ने उन वानरों से कहा कि, यह पृथिवी मेरे कूदने के वेग को न थाम सकेगी ॥३७॥

एतानीह नगस्यास्य शिलासङ्कटशालिनः ।
शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च ॥३८॥

किन्तु शिलाओं से युक्त बड़े और स्थिर महेन्द्र पर्वत के शिखर दृढ़ और विशाल होने के कारण मेरे वेग को थाम सकते हैं ॥३८॥

एषु वेगं करिष्यामि महेन्द्रशिखरेष्वहम् ।
नानाद्रुमविकीर्णेषु धातुनिष्यन्दशोभिषु ॥३९॥

अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त और धातुओं से शोभित यह बड़े शिखर अवश्य मेरे गमन के वेग को थाम सकेगा, अतः इसी पर से मैं छलाँग मारूँगा ॥३९॥

एतानि मम निष्पेपं पादयोः प्लवतां वराः ।
प्लवतो धारयिष्यन्ति योजनानामितः शतम् ॥४०॥

हे वानरश्रेष्ठो ! ये बड़े बड़े शिखर यहाँ से शतयोजन के छलाँग मारने का वेग थाम लेंगे ॥४०॥

ततस्तं मारुतप्रख्यः स हरिर्मारुतात्मजः ।
आरुरोह नगश्रेष्ठं महेन्द्रमरिमर्दनः ॥४१॥

यह कह शत्रुहन्ता पवन तुल्य पवननन्दन हनुमान् जी पर्वत श्रेष्ठ महेन्द्राचल पर्वत पर चढ़ गये ॥४१॥

वृतं नानाविधैर्वृक्षैर्मृगसेवितशाद्वलम् ।
लताकुसुमसम्बाधं नित्यपुष्पफलद्रुमम् ॥४२॥

महेन्द्राचल पर्वत पर भाँति भाँति के फूल फूले हुए थे, उस पर दूब के हरे भरे रमनों में मृगगण चर रहे थे। इस पर विविध भाँति

की लताएँ फूली हुई थी और सब ऋतुओं में वृक्ष फले फूले बने रहते थे ॥४२॥

सिंहशार्दूलचरितं मत्तमातङ्गसेवितम् ।
मत्तद्विजगणोद्घुष्टं सलिलोत्पीडसङ्कुलम् ॥४३॥

यह पर्वत सिंहशार्दूल, और मत्तगज से परिपूर्ण और भाँति भाँति के पक्षियों से कूजित था। इस पर जल के झरने भी बहुत थे ॥४३॥

महद्भिरुच्छ्रितं शृङ्गैर्महेन्द्रं स महाबलः ।
विचचार हरिश्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः ॥४४॥

महाबली, इन्द्र की तरह विक्रमशाली, कपिश्रेष्ठ हनुमान महेन्द्राचल के सब से ऊँचे शृङ्ग पर चढ़ कर घूमने लगे ॥४४॥

पादाभ्यां पीडितस्तेन महाशैलो महात्मनः ।
*ररास सिंहाभिहतो महान्मत्त इव द्विपः ॥४५॥

महात्मा हनुमान जी ने दोनों पैरों से उस पर्वत को ऐसा दबाया कि शैल के ऊपर विचरने वाले जीव जन्तुओं सहित, सिंह से त्रस्त हाथी की तरह, वह शैल मानों चिंघारने लगा ॥४५॥

मुमोच सलिलोत्पीडान् विप्रकीर्णशिलोच्चयः ।
वित्रस्तमृगमातङ्गः प्रकम्पितमहाद्रुमः ॥४६॥

और जल की फुहार छोड़ने लगा। उसकी चट्टानें चूर चूर हो गिरने लगीं। हिरन, हाथी सब भयभीत हो गए और बड़े बड़े पेड़ थर थर काँपने लगे ॥४६॥

---

*पाठान्तरे—" रराज । "

नागगन्धर्वमिथुनैः पानसंसर्गकर्कशैः ।
उत्पतद्भिश्च विहगैर्विद्याधरगणैरपि ॥४७॥
त्यज्यमानमहासानुः सन्निलीनमहोरगः ।
चलश्रृङ्गशिलोद्घातस्तदाभूत्स महागिरिः ॥४८॥

मैथुन और मद्यपान करने में आसक्त नागों और गन्धर्वों के जोड़ों (अर्थात् स्त्री पुरुष) विद्याधरों और उड़ने वाले पक्षियों ने वह पर्वत त्याग दिया और वे आकाशमार्ग से उड़ चले । वहाँ के सर्प भी उस पर्वत को छोड़ भाग गए । उस पर्वत की शिलाएँ भी चूर चूर हो उड़ गईं ॥४७॥४८॥

निःश्वसद्भिस्तदार्तैस्तु भुजङ्गैरर्धनिःसृतैः ।
सपताक इवाभाति स तदा धरणीधरः ॥४९॥

उस समय हनुमान जी के पैरों से दबा हुआ महेन्द्राचल पर्वत, आधे निकले हुए और फुफकार मारते हुए सर्पों द्वारा ऐसा जान पड़ता था, मानों वह पताकाओं से भूषित है ॥४९॥

ऋषिभिस्त्राससम्भ्रान्तैस्त्यज्यमानः शिलोच्चयः ।
सीदन् महति कान्तारे सार्थहीन इवाध्वगः ॥५०॥

जो ऋषिगण उस पर्वत पर तप किया करते थे, वे भी भयभीत हो वहाँ से भाग खड़े हुए । वह पर्वत उस समय ऐसा दुःखी जान पड़ता था, जैसा कि साथियों का साथ छुट जाने से कोई बटोही वन में अकेला पड़ जाने से दुःखी होता है ॥५०॥

स वेगवान् वेगसमाहितात्मा
हरिप्रवीरः परवीरहन्ता ।

मनः समाधाय महानुभावो
जगाम लङ्कां मनसा मनस्वी ॥५१॥

'शत्रुहन्ता, वेगवान्, मनस्वी, महानुभाव और कपिश्रेष्ठ हनुमान् जी सागर नाँघने का दृढ़ विचार कर, मन से लङ्का में पहुँच गए ॥५१॥

किष्किन्धाकाण्ड का सड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसाहस्रिकायां संहितायाम्
किष्किन्धाकाण्डः समाप्तः ॥

—ॐ—

मुद्रक—रामलाल सामसवाल राम प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज इलाहाबाद।

नागगन्धर्वमिथुनैः पानसंसर्गकर्कशैः ।
उत्पतद्भिश्च विहगैर्विद्याधरगणैरपि ॥४७॥
त्यज्यमानमहासानुः सन्निलीनमहोरगः ।
चलशृङ्गशिलोद्घातस्तदाभूत्स महागिरिः ॥४८॥

मैथुन और मद्यपान करने मे आसक्त नागों और गन्धर्वों के जोड़ों (अर्थात् स्त्री पुरुष) विद्याधरों और उड़ने वाले पक्षियों ने वह पर्वत त्याग दिया और वे आकाशमार्ग से उड़ चले । वहाँ के सर्प भी उस पर्वत को छोड़ भाग गए । उस पर्वत की शिलाएँ भी चूर चूर हो उड़ गईं ॥४७॥४८॥

निःश्वसद्भिस्तदार्तैस्तु भुजङ्गैरर्धनिःसृतैः ।
सपताक इवाभाति स तदा धरणीधर : ॥४९॥

उस समय हनुमान जी के पैरों से दबा हुआ महेन्द्राचल पर्वत, आधे निकले हुए और फुफकार मारते हुए सर्पों द्वारा ऐसा जान पड़ता था, मानों वह पताकाओं से भूषित है ॥४९॥

ऋषिभिस्त्राससम्भ्रान्तैस्त्यज्यमानः शिलोच्चयः ।
सीदन् महति कान्तारे सार्थहीन इवाध्वगः ॥५०॥

जो ऋषिगण उस पर्वत पर तप किया करते थे, वे भी भयभीत हो वहाँ से भाग खड़े हुए । वह पर्वत उस समय ऐसा दुःखी जान पड़ता था, जैसा कि साथियों का साथ छुट जाने से कोई बटोही वन मे अकेला पड़ जाने से दुःखी होता है ॥५०॥

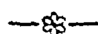
स वेगवान् वेगसमाहितात्मा
हरिप्रवीरः परवीरहन्ता ।

मनः समाधाय महानुभावो
जगाम लङ्कां मनसा मनस्वी ॥५१॥

'शत्रुहन्ता, वेगवान्, मनस्वी, महानुभाव और कपिश्रेष्ठ हनुमान् जी सागर नाँघने का दृढ़ विचार कर, मन से लङ्का में पहुँच गए ॥५१॥

किष्किन्धाकाण्ड का सड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसाहस्त्रिकायां संहितायाम्
किष्किन्धाकाण्डः समाप्तः ॥



मुद्रक—सदलराम जायसवाल राम प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज इलाहाबाद।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥१॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥२॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥३॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥४॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥५॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥६॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्याममलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥७॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥८॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥९॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥१०॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥११॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥१२॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥१३॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥१४॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥१५॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥१६॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥१७॥

—ॐ—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥१॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥२॥
लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥३॥
मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥४॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥५॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥१॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥२॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥३॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥४॥

शृण्वन् रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥५॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥६॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥७॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥८॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥९॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥१०॥

त्रीन् विक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥११॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥१२॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥१३॥

—※—